पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला : ९७

जैनदर्शन में निश्चय और व्यवहार नय

एक अनुशीलन

लेखक

डॉ० रतनचन्द्र जैन

भूतपूर्व रीडर संस्कृत एवं प्राकृत

बरकतउल्ला विश्वविद्यालय

भोपाल

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

१९९७

प्रकाशक

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

आई॰ टी॰ आई॰ मार्ग, करौंदी, **वाराणसी** – ५

दूरभाष · ३१६५२१, ३१८०४६

प्रथम संस्करण . १९९७

मूल्य रु॰ २०० (अजिल्द), रु॰ २५० (सजिल्द)

अक्षर-सज्जा

नया संसार प्रेस

बी॰ २/१४३ ए, भदैनी, **वाराणसी** – १

मुद्रक

वर्द्धमान मुद्रणालय

भेलूपुर, **वाराणसी** – १०

I S B N 81 - 86715 - 25 - 8

Published by

Pārśvanātha Vidyāpīṭha

I T I Road, Karaundi, **Varanasi** – 5

Phone 316521, 318046

First Edition 1997

Price Rs 200 00 (P B), Rs 250 00 (H. B)

Type-setting at

Naya Sansar Press

B 2/143 A, Bhadaini, **Varanasi** – 1

Printed at

Vardhaman Mudranalaya

Bhelupura, **Varanasi** – 10

समर्पण

पूज्य पिता स्व॰ पण्डित बालचन्द्र जी जैन प्रतिष्ठाचार्य

एवं

पूजनीया माता स्व॰ श्रीमती अमोलप्रभा जी जैन

को

जिनके दिये संस्कारों एवं शिक्षाओं ने

मेरे यात्रापथ को आलोकित किया।

—रतनचन्द्र

प्रकाशकीय

आत्मादि पदार्थ अनेकान्तात्मक हैं, अर्थात् परस्परविरुद्ध अनेक धर्मयुगलो से युक्त हैं। ये धर्म परस्परविरुद्ध होते हुए भी वस्तुव्यवस्था के साधक है। वस्तु की शाश्वतता और उसकी अवस्थाओ मे परिवर्तन तथा विभिन्न लौकिक और आध्यात्मिक प्रयोजनो की सिद्धि इन परस्पर विरुद्ध धर्मों पर ही आश्रित है। सर्वज्ञ ने एक ही वस्तु मे इनके अविरोधपूर्वक रहने की युक्तिमत्ता निश्चय और व्यवहार नयो के द्वारा प्रतिपादित की है। सम्यग्दर्शन के लिए आत्मादि पदार्थों के परस्पर-विरुद्ध धर्मो तथा एक ही स्थान मे उनके अविरोधपूर्वक रहने की तर्कसगतता का अवबोध आवश्यक है। यह निश्चय और व्यवहार नयो के स्वरूप एव उनके पारस्परिक भेद को सम्यग्रूपेण हृदयगम करने से ही सम्भव है।

नयो के अज्ञान या अधकचरे ज्ञान से बड़ा अनर्थ होता है। लोगो को जो वस्तुरूप विरोधी प्रतीत होता है उसे वे असत्य मान लेते हैं, अथवा निश्चयनय द्वारा कहे गये वस्तुस्वरूप को व्यवहारनय द्वारा कहा गया मान लेते हैं और व्यवहारनय द्वारा निरूपित स्वरूप को निश्चयनय द्वारा प्ररूपित समझ लेते है, अथवा निश्चयनय के कथन को सर्वथा सत्य और व्यवहारनय के कथन को सर्वथा असत्य रूप मे ग्रहण कर लेते है।

ऐसा भी होता है कि कुछ विद्वान् किसी विशिष्ट प्रयोजन से अर्थात् अपनी किसी कल्पित मान्यता को आगमसम्मत सिद्ध करने के लिए निश्चय और व्यवहार नयो की जानबूझकर गलत व्याख्या करते हैं और उस गलत व्याख्या के आधार पर सर्वज्ञ के कथन को अपनी मान्यतानुसार तोड़मरोड़ कर प्ररूपित करते है। नयज्ञानविहीन श्रोता उनके प्ररूपण की समीचीनता का स्वय निर्णय करने मे असमर्थ होते है, अत· जैसा वे विद्वान् प्ररूपित करते है वैसा ही मान लेते हैं। इससे एक दुर्निवार गृहीतमिथ्यात्व की परम्परा चल पड़ती है, जो लोगो को मोक्षमार्ग पर ले जाने की बजाय घोर ससारमार्ग पर ले जाती है। अनादिकाल से ऐसा होता आ रहा है, किन्तु वर्तमानकाल मे इसका कुछ उग्ररूप ही दिखायी देता है। आज जैन-विद्वज्जगत् मे निश्चय और व्यवहार को लेकर परस्पर विरोधी विचारधाराएँ चल रही है और अपनी विचारधारा के समर्थन तथा विरोधी विचारधारा के खण्डन मे प्रचुर साहित्य रचा गया है और रचा जा रहा है। लगभग एक शब्द-युद्ध सा जारी है, जिसने अबोध जिज्ञासुओ को या तो दिग्भ्रमित कर दिया है या किङ्कर्त्तव्यविमूढ़ता

की दशा मे लाकर पटक दिया है।

इस विषम स्थिति मे एक ऐसे शोधपूर्ण ग्रन्थ की आवश्यकता महसूस की जा रही थी, जिसमे निश्चय और व्यवहार नयो के आगमसम्मत स्वरूप को युक्तिप्रमाणपूर्वक विश्लेषित किया जाय और आगम में आत्मादि पदार्थों के शुद्ध-अशुद्ध, साध्य-साधक, निमित्त-उपादान आदि जिस रूप की जिस नय से यथार्थता प्रतिपादित की गई है, उस नय से उसकी यथार्थता को तर्क और प्रमाण द्वारा स्थापित किया जाय तथा कुछ विषयो की कतिपय विद्वानो ने जो भ्रान्तिपूर्ण व्याख्याएँ की हैं, उनका सयुक्तिक निराकरण किया जाय। सौभाग्य से आदरणीय डॉ॰ रतनचन्द्र जी जैन ने पीएच॰ डी॰ उपाधि के निमित्त से ऐसा शोधपूर्ण ग्रन्थ लिखकर इस महती आवश्यकता को पूर्ण किया है। हम इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर हर्ष और गौरव का अनुभव कर रहे हैं। हम डॉ॰ रतनचन्द्र जी के अत्यन्त आभारी हैं जिन्होने दीर्घ परिश्रम से लिखा गया यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हमे प्रकाशनार्थ प्रदान किया।

हम आभारी हैं डॉ॰ सागरमल जी जैन के, जिनके प्रयास से ही उक्त ग्रन्थ हमे प्रकाशनार्थ प्राप्त हो सका। ग्रन्थ के प्रकाशनसम्बन्धी सम्पूर्ण दायित्व का निर्वहन विद्यापीठ के प्रवक्ता डॉ॰ श्रीप्रकाश जी पाण्डेय ने कुशलता से किया है, एतदर्थ हम डॉ॰ पाण्डेय के प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं।

ग्रन्थ की सुन्दर अक्षर-सज्जा के लिए नया ससार प्रेस, भदैनी, वाराणसी एव सुरुचिपूर्ण मुद्रण के लिए वर्द्धमान मुद्रणालय, वाराणसी भी निश्चय ही धन्यवाद के पात्र हैं।

भूपेन्द्र नाथ जैन
मानद सचिव
पार्श्वनाथ विद्यापीठ

अपनी बात

प्रस्तुत ग्रन्थ मेरे द्वारा पीएच॰डी॰ उपाधि के लिए लिखे गये शोधप्रबन्ध का परिष्कृत और परिवर्धित रूप है। लगभग सत्रह वर्ष पूर्व यह लिखा गया था। तब से निरन्तर स्वाध्याय एवं मुनिजनो और विद्वज्जनो से किये गये विचार-विमर्श के फलस्वरूप इसे काटता-छाँटता, घटाता-बढ़ाता, माँजता और सँवारता रहा हूँ, और अब कही इसे प्रकाशन के योग्य पा रहा हूँ।

नय श्रुतज्ञानात्मक उपयोग का एक भेद है। उपयोग का अर्थ है : वस्तु-स्वरूप को जानने मे प्रवृत्त ज्ञानशक्ति। जब श्रुतज्ञानात्मक उपयोग वस्तु को परस्पर विरुद्ध पक्षो मे से किसी एक पक्ष के द्वारा जानने मे प्रवृत्त होता है तब उसे नय कहते है और जब दोनो पक्षो के द्वारा जानने का प्रयत्न करता है अथवा धर्म-धर्मी का भेद किये बिना वस्तु को अखण्डरूप मे ग्रहण करता है तब श्रुतज्ञानात्मक प्रमाण अथवा स्याद्वाद कहलाता है, जैसा कि भट्ट अकलकदेव ने लघीयस्त्रय मे कहा है —

उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसशितौ ।
स्याद्वाद: सकलादेशो नयो विकलसङ्कथा ।। ३२ ।।

उपयोगरूप होने के कारण नय को दृष्टि या नेत्र की उपमा दी गयी है। निश्चय और व्यवहार नय भी श्रुतज्ञानोपयोग के भेद हैं। इनके द्वारा वस्तु के परस्पर-विरुद्ध धर्मों का तथा वे वस्तु के मौलिक धर्म है या औपाधिक, वस्तु की सत्ता के भीतर हैं या बाहर, वस्तु के नियतस्वलक्षण है अथवा आरोपित, इत्यादि विशेषताओ का बोध होता है।

वर्तमान मे निश्चय और व्यवहार नय स्वाध्यायियो के बीच बहुचर्चित विषय हैं। बहुचर्चित इसलिए बन गये हैं कि आधुनिक विद्वानो ने कतिपय सन्दर्भों मे इन नयो की परस्परविपरीत व्याख्याएँ की हैं और उन व्याख्याओ के आधार पर वस्तु-स्वरूप का भी अनेकत्र परस्परविपरीत प्रतिपादन किया है जिससे दो प्रतिकूल विचारधाराएँ चल पड़ी हैं और इनका इतना अधिक प्रचार हुआ है कि दिगम्बरजैन मतावलम्बी भीतर ही भीतर दो वर्गों मे बँट गये हैं। इन परस्परविरोधी विचारधाराओ से आविष्ट होने के कारण शास्त्रसभाओं मे प्राय: अपने मत का पोषण और प्रतिपक्षी मत के खण्डन की प्रधानता रहती है। इसीलिए स्वाध्यायियो के बीच ये नय चर्चा के आम विषय होते हैं।

'जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा', 'जैनतत्त्वमीमासा', 'जैनतत्त्वमीमासा की मीमासा' आदि ग्रन्थो का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि निश्चय और व्यवहार नयो तथा उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुस्वरूप के विषय मे मूर्धन्य विद्वानो के बीच कितनी विप्रतिपत्तियाँ है। इन विप्रतिपत्तियो पर यहाँ किंचित् प्रकाश डाला जा रहा है –

१. विद्वानो का एक वर्ग मानता है कि असद्भूतव्यवहारनय का विषय मात्र उपचारकथन है, वह वस्तुधर्म का प्रतिपादन नही करता, जब कि दूसरे वर्ग के अनुसार वह वस्तुधर्म का ही प्रतिपादक है।

२ एक वर्ग असद्भूतव्यवहारनय को अज्ञानियो के अनादिरूढ व्यवहार की सज्ञा देता है, दूसरा उसे श्रुतज्ञान का विकल्प बतलाता है।

३ एक वर्ग निमित्त को अयथार्थ एव अकिञ्चित्कर घोषित करता है, दूसरा वर्ग उसे यथार्थ एव कार्योत्पत्ति का अनिवार्य हेतु मानता है।

४. विद्वानो के एक वर्ग की दृष्टि मे निश्चय और व्यवहार नय परस्पर-सापेक्ष हैं, दूसरे वर्ग की दृष्टि मे परस्परनिरपेक्ष।

५ एक विद्वत्समूह निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग मे साध्य-साधक भाव स्वीकार करता है, दूसरा उसका निषेध करता है।

६ एक पक्ष की मान्यता है कि शुभोपयोग मात्र पुण्यबन्ध का कारण है, दूसरा पक्ष मानता है कि सम्यक्त्वपूर्वक होने पर वह (शुभोपयोग) परम्परया मोक्ष का भी कारण होता है।

७ विद्वानो का एक वर्ग व्यवहारमोक्षमार्ग को सर्वथा हेय घोषित करता है, दूसरा उसे कथचित् उपादेय बतालता है।

८ एक वर्ग के मतानुसार मोक्षमार्ग अनेकान्तात्मक नही है, दूसरे के मत मे मोक्षमार्ग भी अनेकान्तात्मक है।

९ एक वर्ग रागादिभावो को स्वाश्रित निरूपित करता है, दूसरा पराश्रित।

१० विद्वानो का एक पक्ष कहता है कि केवली भगवान् का सर्वज्ञ होना व्यवहारनय से सत्य सिद्ध होता है। दूसरा पक्ष कहता है कि वह निश्चयनय से सत्य है।

११ एक पक्ष की दृष्टि मे उपादान से उत्पन्न होने वाले सभी कार्य उपादान-प्रेरित होते हैं, निमित्तप्रेरित कोई नही होता। दूसरा पक्ष अशुद्धोपादानजनित कार्यो को निमित्तप्रेरित मानता है।

१२ एक विद्वत्समुदाय आत्मा की समस्त पर्यायो को नियत बतलाता है, यहाँ तक कि पुरुषार्थ को भी, किन्तु दूसरे का मत है कि पर्यायो का निर्धारण आत्मा अपने पुरुषार्थ से स्वय करता है और पुरुषार्थ नियत नहीं होता।

विद्वानो की इन परस्परविरोधी व्याख्याओ का सामान्य श्रावको पर क्या प्रभाव पड़ सकता है, इसकी कल्पना सरलता से की जा सकती है। आत्मकल्याण की दिशा के विषय मे जब शास्त्रविद् ही भ्रमित हो, तब जनसाधारण का दिग्भ्रमित होना स्वाभाविक ही है। आगमविदो द्वारा सिद्धान्त के भ्रान्तिपूर्ण एव एकान्तात्मक प्रतिपादन से सामान्य श्रावक भी भ्रान्तिग्रस्त एव एकान्तवादी होकर अहित के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। विद्वानो के कारण श्रावको मे भी दो वर्ग बन गये हैं और उनमे एक-दूसरे के प्रति विरोध और कटुता की भावना घर कर गयी है। विचारधारा को लेकर वे एक-दूसरे पर आक्षेप करते है। अपने को सम्यग्दृष्टि और दूसरे को मिथ्यादृष्टि घोषित करते हैं। वे इतने दिग्भ्रामित हो गये है कि एक ओर व्यवहारैकान्त का अवलम्बन कर कुछ लोग बाह्य कर्मकाण्ड को ही जीवन मे प्रधानता दे रहे हैं, तो दूसरी ओर श्रावको का एक वर्ग निश्चयैकान्त से ग्रस्त होकर शुभोपयोग को हेय और पुण्य को विष्ठा मानकर कोरी तत्त्वचर्चा को ही मोक्ष के लिए उपादेय मान रहा है। निश्चयाभास मे फँसकर यह वर्ग आज के किसी भी मुनि को सच्चा मुनि नही मानता और उनकी अवज्ञा करने को धर्म सा मान बैठा है, यद्यपि ऐसे मुनियो की कमी नही है, जो निश्चय और व्यवहार का परस्परसापेक्षतापूर्वक अनुसरण करते हुए समीचीन मार्ग पर चल रहे है।

आज के कुछ विद्वानो द्वारा उत्पन्न किया गया यह विसवाद अत्यन्त शोचनीय है। जिन तीर्थङ्कर महावीर ने विश्व के विभिन्न मतो मे समन्वय स्थापित करने के लिए अनेकान्त और स्याद्वाद का उपदेश दिया था, उन्ही के अनुयायियो मे सिद्धान्तो को लेकर मतभेद और वैचारिक हिसा उत्पन्न हो जाय, यह विडम्बना ही है।

इस अनिष्ट ने मेरे हृदय को बहुत आन्दोलित किया। फलस्वरूप मेरे मन मे विचार उत्पन्न हुआ कि विद्वज्जनो के इन परस्परविरोधी मतो की आगम के आलोक मे छानबीन की जाय, इन्हे युक्ति और प्रमाण की कसौटी पर कसकर परखा जाय और निश्चय तथा व्यवहार नयो के आगमसम्मत अभिप्राय को सामने लाने का प्रयत्न किया जाय, जिससे श्रावक इन नयो के वास्तविक अभिप्राय को समझकर इनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुस्वरूप को समीचीनतया ग्रहण कर सके और पारस्परिक विरोध समाप्त कर अनेकान्तात्मक विचारमार्ग एव अनेकान्तात्मक मोक्षमार्ग के अवलम्बन मे समर्थ हो। इस विचार से मैने पीएच॰ डी॰ उपाधि के लिए निश्चय और व्यवहार नयो के अनुशीलन को ही शोधकार्य का विषय सुनिश्चित किया।

इस अनुसन्धान-यज्ञ मे मुझे अनेक प्राज्ञो ने अपने प्रज्ञामन्त्रो से अभिमन्त्रित किया है, उन सबका आभार मुझ पर है। शासकीय हमीदिया महाविद्यालय, भोपाल के संस्कृतविभागाध्यक्ष डॉ॰ रामकृष्ण जी सराफ ने शोध-प्रबन्ध लेखन मे मुझे कुशल

निर्देशन प्रदानकर कृतार्थ किया है। इस हेतु मैं उनका हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ।

जैनदर्शन के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् डॉ॰ सागरमल जी जैन ने, जो उस समय भोपाल के हमीदिया महाविद्यालय मे दर्शन-विभाग के अध्यक्ष थे, शोधकार्य सम्पन्न करने मे मेरी बहुत सहायता की है। उन्ही के सहयोग से मैने शोधकार्य की रूपरेखा तैयार की और शोधकार्य पूर्ण होने तक उनसे बहुमूल्य मार्गदर्शन प्राप्त करता रहा। पश्चात् डॉक्टर साहब वाराणसी के पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान मे चले गये। वहाँ पहुँचकर उन्होने मेरे शोध-प्रबन्ध को प्रकाशित करने का प्रस्ताव किया और अनेक बार शोध-प्रबन्ध भेजने का आग्रह किया, किन्तु मै उसे प्रकाशन के योग्य नही पाता था। उसे सशोधित, परिमार्जित और परिवर्धित करके उस स्तर पर ले जाना चाहता था कि प्रकाशित होकर जब विद्वानो के हाथ मे पहुँचे तो मैं उनके उपहास का पात्र न बनूँ। अनेक व्यस्तताओ और विघ्नो के बीच मे आ जाने के कारण यह कार्य अब सम्पन्न हो सका है। इतने लम्बे अन्तराल के बाद भी यह माननीय डॉ॰ सागरमल जी के द्वारा पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी से प्रकाशित किया जा रहा है। इस स्नेह और अनुग्रह के लिए मै उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

समय-समय पर पूज्य गुरुवर डॉ॰ (पण्डित) पन्नालाल जी साहित्याचार्य से भी मैने विवादग्रस्त विषयो पर आगम के यथार्थ मन्तव्य को समझने की चेष्टा की है और उनकी विद्वत्तापूर्ण विवेचना से मैं यथार्थ निर्णय पर पहुँचने मे समर्थ हुआ हूँ। पण्डित जी ने स्नेहपूर्वक इस ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखकर भी मुझे अनुगृहीत किया है। अत· मैं उनके चरणो मे नतमस्तक होता हुआ अपनी हृदयस्थ कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

स्व॰ पूज्य पण्डित वशीधर जी व्याकरणाचार्य का भी आशीर्वाद मुझे प्राप्त हुआ है। उनके द्वारा प्रदत्त स्वलिखित ग्रन्थ मुझे निश्चय और व्यवहार नयो के स्वरूप तथा वस्तुव्यवस्था को समझने मे बहुत सहायक हुए है। उनके साथ हुई प्रत्यक्ष चर्चा से भी मैं लाभान्वित हुआ हूँ। आदरणीय डॉ॰ दरबारीलाल जी कोठिया के प्रोत्साहन और मार्गदर्शन ने भी मेरा पथ प्रशस्त किया है। मैं इन दोनो मूर्धन्य विद्वानो के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

मेरा परम सौभाग्य है कि यह शोध-प्रबन्ध सन् १९८० मे सागर (म॰ प्र॰) मे षट्खण्डागमवाचना के समय परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी ने लगातार दस दिन तक, एक-एक घण्टे का समय देकर ध्यान से सुना था और सुनकर प्रसन्न हुए थे। कई जगह उन्होंने सशोधन और कुछ नये तथ्यो के संयोजन का भी परामर्श दिया था, जिन्हे क्रियान्वित करने से शोध-प्रबन्ध के अनेक दोष

और कमियाँ दूर हो गयी। इस उपकार के लिए मैं गुरुवर के चरणो मे अपनी परमभक्ति एवं कृतज्ञता निवेदित करता हूँ।

इस प्रसग मे मैं अपने पूज्य पिता स्व० पण्डित बालचन्द्र जी प्रतिष्ठाचार्य तथा पूजनीया माता स्व० श्रीमती अमोलप्रभा जी जैन के प्रति अपनी अनिर्वचनीय श्रद्धा एवं कृतज्ञता ज्ञापित किये बिना नही रह सकता, क्योंकि इन्होने मुझे जिन सस्कारों में ढाला है तथा जिस शिक्षा-दीक्षा से सँवारा है उन्ही से मैं इस विषय पर लेखनी चलाने योग्य बन पाया हूँ। मेरी पूजनीया बड़ी बहनो श्रीमती शान्ति जैन एव स्व० श्रीमती कचन जैन, पूज्य बड़े भाई प० कोमलचन्द्र जी एव प्रिय अनुजद्वय श्री शीलचन्द्र तथा श्री शिखरचन्द्र ने भी मेरे विद्यापथ को प्रशस्त करने मे यथाशक्ति परिश्रम किया है। अत इनके प्रति भी मैं यथायोग्य आदर और आशीर्वाद की अभिव्यक्ति करता हूँ।

मेरी सरलहृदया, सहनशीला, धर्मानुरागिणी पत्नी श्रीमती चमेलीदेवी जैन का इस ग्रन्थ के लेखन मे महान् योगदान रहा है। अनेक वर्षों तक मैं अध्ययन और लेखन मे व्यस्त रहा। उस समय उन्होंने गृहस्थाश्रम के मेरे उत्तरदायित्वो को भी अपने ऊपर लेकर घर-गृहस्थी की चिन्ताओ से मुझे पूर्णत मुक्त रखा और मेरे लिए अधिकाधिक समय एव अनुकूल परिस्थितियाँ उपलब्ध करायी। एतदर्थ मै उनका ऋणी हूँ, उनके लिए हृदय मे अनेक मगलकामनाएँ समाहित हैं। मेरे दोनो पुत्रो चिरजीव अनिमेष और अनुपम ने पाण्डुलिपि तैयार करने और मुद्रलेखन कराने मे बहुत सहायता की है। इन दोनो को मैं शुभाशीर्वाद देता हूँ।

अन्त मे पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्रवक्ता एव प्रकाशनाधिकारी डॉ० श्रीप्रकाश जी पाण्डेय के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके सार्थक प्रयास से ग्रन्थ का प्रकाशन शीघ्र सम्भव हुआ है। ग्रन्थ-प्रकाशन हेतु पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी का ऋणी तो हूँ ही।

अल्पज्ञो की कृति में त्रुटियाँ होना स्वाभाविक है। विज्ञो से मेरा विनम्र निवेदन है कि ग्रन्थ मे जो भी दोष उनकी दृष्टि के विषय बने उन्हे मेरी दृष्टि मे लाने की कृपा अवश्य करे, जिससे मैं अगले संस्करण मे उनका निराकरण कर सकूँ।

दिनांक ३१-१०-१९९७ **रतनचन्द्र जैन**

१३७, आराधनानगर, कोटरा — सुल्तानाबाद
भोपाल — ४६२ ००३

प्रस्तावना

डॉ॰ रतनचन्द्र जी श्रीगणेश दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय, सागर मे मेरे शिष्य रहे हैं। इनके पिता माननीय पण्डित बालचन्द्र जी जैनसिद्धान्त के जाने-माने विद्वान् एव प्रतिष्ठाचार्य थे। रतनचन्द्र जी ने निश्चय और व्यवहार नयो का गहन अध्ययन, मनन और चिन्तन किया है। सन् १९८० मे अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् की ओर से 'मोक्षमार्ग मे निश्चय और व्यवहार की उपयोगिता' विषय पर एक महानिबन्ध प्रतियोगिता आयोजित की गई थी। डॉ॰ रतनचन्द्र जी ने लगभग दो सौ पृष्ठो का निबन्ध लिखा था। जैनविद्वज्जगत् के मूर्धन्य विद्वान् प॰ वशीधर जी व्याकरणाचार्य, डॉ॰ दरबारीलाल जी कोठिया और प॰ नाथूलाल जी शास्त्री निर्णायक थे। प्रतियोगिता मे डॉ॰ रतनचन्द्र जी का निबन्ध सर्वोत्कृष्ट घोषित किया गया था और वे विद्वत्परिषद् द्वारा पुरस्कृत किये गये थे।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'जैनदर्शन मे निश्चय और व्यवहार नय एक अनुशीलन' उनके द्वारा पीएच॰ डी॰ उपाधि के लिए लिखे गये शोध-प्रबन्ध का परिवर्धित और परिमार्जित रूप है। सन् १९८० मे सागर (म॰ प्र॰) मे षट्खण्डागम-वाचना के समय लेखक ने अपना शोध-प्रबन्ध परमपूज्य आचार्य विद्यासागर जी को पढकर सुनाया था। वे सुनकर सन्तुष्ट हुए थे। उन्होने कुछ सशोधनो और नवीन तथ्यो के समावेश का भी सुझाव दिया था, जिनका समावेश करने पर प्रबन्ध का अपेक्षित परिष्कार हो गया। परिष्कृत और परिवर्धित होकर वह जिस रूप मे आया है उससे वह निश्चय और व्यवहार नयों के विविध आयामो की आगमानुकूल विवेचना करने-वाला उत्कृष्ट ग्रन्थ बन गया है।

ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय बारह अध्यायो मे विभाजित है, जिनके नाम इस प्रकार हैं — निश्चय और व्यवहार नयो की पृष्ठभूमि, निश्चयनय, असद्भूतव्यवहारनय, उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय, सद्भूतव्यवहारनय, व्यवहारनय के भेद, निश्चय और व्यवहार की परस्परसापेक्षता, निश्चय-व्यवहार-मोक्षमार्गो मे साध्य-साधक भाव, साध्य-साधक भाव की भ्रान्तिपूर्ण व्याख्याएँ, मोक्षमार्ग की अनेकान्तात्मकता, उपादान-निमित्तविषयक मिथ्याधारणाएँ, तथा निश्चयाभास एव व्यवहाराभास। इस प्रकार ग्रन्थ का विषय वैविध्यपूर्ण और नवीन है तथा प्रस्तुतीकरण विश्लेषणात्मक एव समीक्षात्मक है।

प्रस्तुतीकरण मे अनेक नवीनताएँ दिखाई देती हैं। यथा, निश्चय और

व्यवहार नयो के लक्षण नयी शब्दावली मे निबद्ध किये गये हैं। इनकी परिभाषाओ में लेखक ने उन परस्परविरुद्ध वस्तुधर्मों या पक्षो का शब्दत: निर्देश किया है, जिनका अवलम्बन कर वस्तुस्वरूप का निर्णय करने से निर्णायक (ज्ञाता या प्रमाता) की दृष्टि निश्चय अथवा व्यवहार सज्ञा पाती है। इससे यह निर्णय करना अत्यन्त सरल हो जाता है कि ज्ञाता की कोई दृष्टि निश्चयनय और कोई दृष्टि व्यवहारनय शब्द से क्यों अभिहित की जाती है।

इसी प्रकार जिस-जिस धर्म का अवलम्बन कर निश्चयदृष्टि (निश्चयनय) प्रवृत्त होती है, उस-उस धर्म के आधार पर निश्चयदृष्टि के नामकरण किये गये है, यथा — मूलपदार्थावलम्बिनी निश्चयदृष्टि, मूलस्वभावावलम्बिनी निश्चयदृष्टि इत्यादि। इसी तरह अपने विषय-विशेष का अवलम्बन करके प्रवृत्त होनेवाली व्यवहारदृष्टि को सोपधिक-पदार्थावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि, बाह्यसम्बन्धावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि आदि नाम दिये गये हैं। इससे यह तत्काल स्पष्ट हो जाता है कि निश्चयदृष्टि या व्यवहारदृष्टि से वस्तु का जिस रूप मे निर्णय किया गया है वह उसके किस पक्ष के आधार पर किया गया है ?

असद्भूतव्यवहारनय को मात्र उपचार अर्थात् अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म का अन्यत्र समारोपण (अन्य वस्तु को अन्य वस्तु के नाम से अभिहित करना) न समझ लिया जाय, इस सम्भावना के निराकरण हेतु लेखक ने इस नय के तीन भेद किये है — उपाधिमूलक, बाह्यसम्बन्धमूलक एव उपचारमूलक, और यह सिद्ध किया है कि इनमे से केवल उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय मे ही अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म (या शब्द) का अन्यत्र समारोपण होता है, शेष दो मे नही। तथा व्याकरणशास्त्र एव लोकव्यवहार के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि उपचार अर्थात् प्रस्तुत वस्तु के लिए अप्रस्तुत वस्तु के वाचक शब्द का प्रयोग, प्रस्तुत वस्तु के ही धर्मविशेष को लक्षणा-व्यजना नामक शब्दशक्तियो के द्वारा प्रतिपादित करने के लिये किया जाता है। अत उपचार के द्वारा किया गया कथन केवल मुख्यार्थ की अपेक्षा असत्य होता है, लक्ष्यार्थ और व्यग्यार्थ की अपेक्षा नही। इन अर्थो की अपेक्षा वह सत्य ही होता है।

इसी प्रसग मे लेखक ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि निश्चय और व्यवहार नय श्रुतज्ञान-प्रमाण के अवयव हैं, इसलिए वे प्रमाणैकदेश हैं। अत: व्यवहारनय की अपेक्षा किया गया कथन उतना ही सत्य होता है, जितना निश्चयनय की अपेक्षा किया गया कथन। यत उपचार भी व्यवहारनय का एक भेद है और लक्षणा-व्यजना के द्वारा वह वस्तुधर्म का ही प्रतिपादन करता है, अत: वह भी श्रुतज्ञान का अवयव होने से प्रमाणैकदेश है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि निश्चय और व्यवहार दोनो नयो से वस्तुगत सत्य का ही बोध होता है तो उनमें भेद किस बात का है ? दोनो के अलग-अलग नाम क्यों हैं ? ये भिन्न नाम किस भिन्नता की ओर सकेत करते हैं ? इसके समाधान हेतु लेखक ने वस्तुगत सत्य के दो भेदों की ओर ध्यान खींचा है। वे दो भेद हैं — पारमार्थिक सत्य और व्यावहारिक सत्य। इसके लिए लेखक ने यह प्रमाण दिया है कि आचार्यों ने भिन्न-भिन्न वस्तुधर्मों के साथ पारमार्थिक और व्यावहारिक विशेषणो का प्रयोग किया है, यथा — "परमार्थसत्यं भगवन्त समयसार ....." (समयसार/आत्मख्याति ४१३), "व्यावहारिक नवतत्त्वेभ्य:" (समयसार/आत्मख्याति ३८)। इसलिए सत्य के ये दो रूप प्रामाणिक हैं। इनमे निश्चयनय पारमार्थिक सत्य का अवलम्बन कर वस्तुस्वरूप का निर्णय करता है और व्यवहारनय व्यावहारिक सत्य का। यही दोनो मे भेद है।

प्रस्तुतीकरण की एक नवीनता यह है कि लेखक ने अशुद्धनिश्चयादि नयो को निश्चयनय के भेदो मे नही रखा है, अपितु जयसेनादि आचार्यों के वचनानुसार उन्हे असद्भूतव्यवहारनय के ही कुछ भेदो का नामान्तर मानते हुए व्यवहारनय के भेदो मे ही परिगणित किया है। इससे निश्चयनय के विषय मे व्यवहारनय के औपाधिकभावरूप विषय का मिश्रण न हो पाने से दोनो के लक्षणो की विभाजक रेखा सरल और स्पष्ट हो जाती है।

ग्रन्थ मे कुछ उल्लेखनीय विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती है। पहली यह कि विभिन्न निश्चयदृष्टियो और व्यवहारदृष्टियो से देखने पर आत्मादि पदार्थ जिस-जिस रूप मे दिखाई देते हैं, उनका समयसारादि ग्रन्थो से उद्धरण देकर निरूपण किया गया है। इससे नयो का स्वरूप एव आत्मादि पदार्थों का अनेकान्तरूप भली-भाँति हृदयगम हो जाता है।

दूसरी विशेषता यह है कि इसमे इस प्रश्न का समाधान अत्यन्त युक्तिपूर्वक किया गया है कि वस्तुस्वरूप की प्रतिपत्ति और मोक्षप्राप्ति मे निश्चय और व्यवहार नयो की क्या उपयोगिता है ? उन पर आश्रित उपदेश का ग्रहण और अनुसरण क्यो आवश्यक है ? लेखक ने उन अनेक प्रयोजनो का अनुसन्धान किया है जो निश्चयनयात्मक और व्यवहारनयात्मक उपदेशो से सिद्ध होते है। लेखक ने प्रतिपादित किया है कि दोनो नय वस्तुस्वरूपविषयक अज्ञान का निवारण करते हैं। निश्चयनयात्मक उपदेश से आत्मा और शरीरादि के एकत्व का अज्ञान मिटता है तथा उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनयात्मक उपदेश से जीव और शरीर तथा जीव और रागादि के सर्वथा भिन्न होने की मिथ्या धारणा नष्ट होती है। निश्चयनयात्मक उपदेश सम्यक्त्वपूर्वक एव सम्यक्त्वपरक शुभोपयोग के वास्तविक मोक्षमार्ग होने का भ्रम

दूर करता है और उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनयात्मक उपदेश उपर्युक्त शुभोपयोग के सर्वथा मोक्षमार्ग न होने की भ्रान्ति मिटाता है। निश्चयनय द्रव्यदृष्टि से जीव के शुद्धचैतन्यस्वरूप होने के सत्य का बोध कराता है। व्यवहारनय पर्यायदृष्टि से जीव के कर्मबद्ध और मोहरागादि से मलिन होने के सत्य की प्रतीति कराता है। निश्चयनय द्रव्यदृष्टि से आत्मा के पाप-पुण्य, बन्ध-मोक्ष के अकर्त्ता होने की वास्तविकता का अनुभव कराता है, व्यवहारनय पर्यायदृष्टि से इनका कथचित् कर्त्ता होने का सत्य दृष्टि मे लाता है। इसके अतिरिक्त असद्भूतव्यवहारनय हिसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म, परिग्रह आदि पापो तथा इनके परित्यागरूप व्रतादि के अस्तित्व का उपपादन करता है, जो निश्चयनय द्वारा सम्भव नही है। इस प्रकार निश्चयनयात्मक उपदेश से जीव को अपने शुद्धस्वरूप और मोक्ष के वास्तविक मार्ग का ज्ञान होता है तथा व्यवहारनयाश्रित उपदेश से अपनी ससारावस्था तथा निश्चयमोक्षमार्ग के निकट पहुँचानेवाले व्यवहारमोक्षमार्ग का ज्ञान होता है। इन ज्ञानो को उपलब्ध कर जीव निश्चयमोक्षमार्ग तक पहुँचने के लिए व्यवहारमोक्षमार्ग पर चलता है और निश्चय-मोक्षमार्ग पर पहुँचकर उस पर चलते हुए मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस तरह से निश्चय और व्यवहार नय वस्तुस्वरूप की प्रतिपत्ति और मोक्ष की प्राप्ति कराने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते है।

चूँकि जीव को वस्तुस्वरूप की प्रतिपत्ति और मोक्षप्राप्ति कराने मे निश्चय और व्यवहार नय परस्पर सहयोगी है, अत वे परस्पर सापेक्ष है। यह स्पष्टीकरण भी ग्रन्थ मे किया गया है।

तीसरी विशेषता यह है कि निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग मे जो साध्य-साधकभाव है, उसका प्रतिपादन लेखक ने मनोवैज्ञानिक आधार पर किया है। सम्यक्त्वपरक शुभोपयोग और सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग के व्रत, सयम, तप, अपरिग्रह, भक्ति, स्वाध्याय आदि अनेक अग है। ये अग मोक्षोपयोगी विशुद्धता के विकास मे मनोवैज्ञानिक भूमिका सम्पादित करते है। इनसे मन और इन्द्रियो का परद्रव्यो के चिन्तन और व्यसन (अधीनता) से छुटकारा पाने का अभ्यास होता है। उनके वे सस्कार क्षीण हो जाते है जिनसे परद्रव्येच्छारूप तीव्र सक्लेश-परिणाम उत्पन्न होता है, फलस्वरूप विशुद्धता बढ़ती है। बढ़ते-बढ़ते विशुद्धता उस स्तर पर पहुँच जाती है, जहाँ जीव के लिए निश्चयमोक्षमार्ग का अवलम्बन सम्भव हो जाता है।

मनोवैज्ञानिक आधार पर ही लेखक ने मोक्षमार्ग की अनेकान्तात्मकता का विवेचन किया है। निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग मे साध्यसाधकभाव है, इसलिए वे परस्परसापेक्ष हैं। अतः मोक्षमार्ग अनेकान्तात्मक है। व्यवहारमोक्षमार्ग

निश्चयमोक्षमार्ग का साधक क्यो है ? यह प्रश्न जीवो की क्षमता के क्रमिक विकास की ओर सकेत करता है। जैसे बालक की बुद्धि और शारीरिक बल का विकास क्रमशः होता है, वैसे ही जीवो का परद्रव्य की अधीनता से मुक्त होने का सामर्थ्य भी धीरे-धीरे विकसित होता है। जैसे मनुष्य एक-एक सीढ़ी चढ़कर ही ऊपरी मजिल पर पहुँचता है, वैसे ही साधक थोड़ा-थोड़ा त्याग करते हुए ही सम्पूर्ण त्याग मे सफल हो पाता है। अत जैसे अल्पत्याग पूर्णत्याग का साधक है, वैसे ही व्यवहार-मोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग का साधक है। निम्न भूमिका मे व्यवहारमोक्षमार्ग कार्यकारी होता है और उच्च भूमिका मे निश्चयमोक्षमार्ग। कोई एक ही मार्ग सभी अवस्थाओ मे कार्यकारी नही होता। यही मनोवैज्ञानिक सत्य मोक्षमार्ग की अनेकान्तात्मकता का रहस्य है।

ग्रन्थ की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमे उन भ्रान्तिपूर्ण व्याख्याओ और मिथ्याधारणाओ को दृष्टि मे लाया गया है जो निश्चय और व्यवहार नयो तथा तत्सम्बद्ध विषयो के बारे मे कुछ आधुनिक विद्वानो द्वारा प्रचलित की गयी हैं, तथा आगम के प्रकाश मे उनकी परीक्षा और निराकरण किया गया है। यथा, उक्त विद्वानो ने असद्भूतव्यवहारनय को वस्तुधर्म का प्रतिपादक न मानकर, मात्र अन्य वस्तु के धर्म का अन्य वस्तु पर आरोप करनेवाला बतलाया है, जिसका खण्डनकर लेखक ने उसे लक्षणा-व्यजना द्वारा वस्तुधर्म का ही प्रतिपादक सिद्ध किया है। कथित विद्वानो ने उक्त नय को अज्ञानियो का अनादिरूढ़ व्यवहार कहा है, लेखक ने इसे गलत बतलाते हुए उसे श्रुतज्ञानियो और केवलज्ञानियो का व्यवहार निरूपित किया है। उक्त विद्वानो ने निश्चयनय और उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय मे परस्परसापेक्षता का निषेध किया है, लेखक ने इसे भ्रान्तिपूर्ण बतलाते हुए परस्परसापेक्षता सिद्ध की है। निर्दिष्ट विद्वानो ने निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग मे कार्यकारणात्मक (निश्चयमोक्षमार्ग के अवलम्बन की सामर्थ्य का जनक) साध्य-साधकभाव न मानकर साध्यसाधकभाव की गलत व्याख्या करते हुए निश्चयमोक्षमार्ग का सहचर, अबाधक या अनुमापक होने के कारण व्यवहारमोक्षमार्ग को उसका साधक कहा जाना बतलाया है। लेखक ने इन व्याख्याओ की भ्रान्तिपूर्णता स्पष्ट करते हुए उनमे कार्यकारणात्मक साध्यसाधकभाव का प्रतिपादन किया है।

पूर्वोक्त विद्वानो की मान्यता है कि कोई भी वस्तु किसी अन्य वस्तु के कार्य का वास्तव मे निमित्त नही होती, अपितु उसे उपचार से निमित्त कहा जाता है। लेखक ने इस मान्यता का खण्डन इस तर्क द्वारा किया है कि किसी वस्तु के वास्तव मे निमित्त हुए बिना किसी अन्य वस्तु को उपचार से निमित्त नही कहा जा सकता। निमित्त के विषय मे उक्त विद्वानो ने दूसरी भ्रान्तिपूर्ण धारणा यह प्रचलित

की है कि प्रत्येक वस्तु अपना कार्य स्वय करती है, किन्तु सहचर होने मात्र से दूसरी वस्तु को उसका निमित्त कहा जाता है। इस धारणा का खण्डन करते हुए लेखक ने आगम-प्रमाण से सिद्ध किया है कि सहचर होने के कारण नही, बल्कि कार्योत्पत्ति के साथ उसका अन्वय-व्यतिरेक होने के कारण वह निमित्त कहलाती है। निमित्त को अकिंचित्कर सिद्ध करने के लिए कथित विद्वानो ने यह प्रतिपादन किया है कि कर्म भी धर्मादि द्रव्यो के समान उदासीन निमित्त हैं, प्रेरक नही। लेखक ने इस प्रतिपादन को इस तर्क द्वारा भ्रान्तिपूर्ण ठहराया है कि जो कर्म आत्मा के स्वभाव का घात करे उन्हे धर्मादि द्रव्यो के समान उदासीन कैसे कहा जा सकता है ? वे प्रेरक ही नही, अपितु आक्रामक और घातक भी है।

इन भ्रान्तिपूर्ण व्याख्याओ और मिथ्याधारणाओ का निराकरण अत्यन्त आवश्यक था। इससे लोग मिथ्या मान्यताओ मे फॅसने से बच सकेगे और जो फॅस चुके है, उन्हे उनसे मुक्त होने की प्रेरणा मिलेगी।

लेखक ने अन्तिम अध्याय मे लोगो के निश्चयाभासी (निश्चयैकान्तवादी) और व्यवहाराभासी (व्यवहारैकान्तवादी) बन जाने के कारणो की गवेषणा की है। ये कारण वक्ता और श्रोता दोनो से सम्बन्धित हैं। इनमे से अनेक ऐसे है जिन पर बहुतो का ध्यान नही गया है। आशा है इन पर ध्यान जाने से वक्ता और श्रोता इनके निराकरण का प्रयास करेगे।

प्रस्तुत ग्रन्थ लेखक के दीर्घकालीन गहन अध्यवसाय का सुपरिणाम है। ग्रन्थ पूर्णत आगमानुकूल और ज्ञानवर्धक है। यह जैनसाहित्य के लिए अमूल्य योगदान सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। लेखक ने भाषा को अधिक से अधिक सरल बनाने का प्रयास किया है, ताकि ग्रन्थ का विषय सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य हो सके। मैं प्रोफेसर रतनचन्द्र जी के प्रयास की सराहना करता हूँ और कामना करता हूँ कि वे निरन्तर अध्ययन-लेखन मे सलग्न रहते हुए ऐसे अनेक उपहार जैनसाहित्य को प्रदान करे। मेरा मगल आशीर्वाद उनके साथ है।

जबलपुर
२२ जनवरी, १९९७

डॉ० (पण्डित) पन्नालाल जैन साहित्याचार्य
निदेशक
श्री वर्णी दिगम्बर जैन गुरुकुल
पिसनहारी की मढ़िया
जबलपुर (म० प्र०)

अनुक्रमणी

अध्याय पृष्ठांक

अध्याय | पृष्ठांक

संकेतसूची

१. अनगारधर्मामृत ˙ /˙˙˙	अध्यायसख्या/श्लोकसख्या
२ अमितगतिश्रावकाचार ˙/˙	अधिकार स०/श्लोक स०
३. कसायपाहुड ˙˙˙/˙˙ /˙ /˙ (जयधवलाटीका)	पुस्तक स० /भाग स०/प्रकरण स०/पृष्ठ स०
४. काव्यप्रकाश ˙˙˙/ ˙˙	उल्लास स०/कारिका स० (वृत्ति)
५. चारित्रसार ˙˙˙/˙˙˙	पृष्ठ स०/पक्ति स०
६. ज्ञानार्णव ˙˙ /˙˙	सर्ग स०/श्लोक स०
७. तत्त्वार्थसूत्र ˙˙/˙˙	अध्याय स०/सूत्र स०
८. तत्त्वार्थवार्तिक ˙˙ /	अध्याय स०/सूत्र स०
९. तत्त्वार्थवृत्ति ˙ ˙/˙ ˙	अध्याय स०/सूत्र स०
१०. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ˙ /˙	अध्याय स०/सूत्र स०
,, ˙/˙˙ / ˙ / ˙	पुस्तक स०/अध्याय स०/सूत्र स०/वार्तिक स०
११ धवला ˙˙/ ˙˙, , ˙ / (षट्खण्डागम की टीका)	पुस्तक स०/खण्ड स०,भाग स०,सूत्र स०/ पृष्ठ स०
१२. न्यायदीपिका /	अधिकार स०/प्रकरण स०
१३. परमात्मप्रकाश /	अधिकार स०/दोहा स०
१४. प्रवचनसार /	अधिकार स०/गाथा स०
१५ श्रीमद्भगवद्गीता /	अध्याय स०/श्लोक स०
१६. सर्वार्थसिद्धि /	अध्याय स०/सूत्र स०
१७. स्याद्वादमंजरी ˙ /	श्लोक स०/पृष्ठ स०

प्रथम अध्याय

निश्चय और व्यवहार नयों की पृष्ठभूमि

वस्तु अनेकरूपात्मक है, जैसे आत्मा द्रव्यदृष्टि से नित्य है, पर्यायदृष्टि से अनित्य; द्रव्यदृष्टि से एक स्वभावात्मक है, पर्यायदृष्टि से अनेकस्वभावात्मक, द्रव्यदृष्टि से भेदरहित है, पर्यायदृष्टि से भेदसहित, द्रव्यदृष्टि से अबद्ध है, पर्यायदृष्टि से बद्ध, द्रव्यदृष्टि से रागादिशून्य है, पर्यायदृष्टि से रागादियुक्त। इन परस्पर विरुद्ध पक्षो मे से किसी एक पक्ष से वस्तु को देखनेवाली ज्ञाता (प्रमाता) की दृष्टि नय कहलाती है।

नय : एक नेत्र

आगम मे नय को नेत्र की उपमा दी गई है जिससे स्पष्ट होता है कि नय वस्तु के पक्षविशेष को जानने के साधन हैं। आचार्य माइल्लधवल कहते है —

जीवा पुग्गलकालो धम्माधम्मा तहेव आयास ।
णियणियसहावजुत्ता दट्ठव्वा णयपमाणणयणेहि ।।[१]

अपने-अपने प्रतिनियत स्वभाव से युक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल को नय और प्रमाणरूपी नेत्रो से देखना चाहिए।

उन्होने यह भी कहा है कि जो नयरूपी दृष्टि से रहित है उन्हे वस्तु के स्वरूप का ज्ञान नही हो सकता और वस्तुस्वरूप के ज्ञान से रहित जीव सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ?[२] कार्त्तिकेयानुप्रेक्षाकार का भी कथन है कि पक्षविशेष का आश्रय लेकर न देखा जाय तो वस्तु के नित्यत्व, अनित्यत्व आदि धर्म दिखाई नहीं देते 'निरवेक्ख दीसदे णेव'।[३]

आचार्य अमृतचन्द्र प्रवचनसार की ११४वी गाथा की व्याख्या करते हुए कहते है —

"समस्त वस्तुएँ सामान्य और विशेष रूपो से युक्त है। उनका दर्शन कराने वाले दो नेत्र है द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक सामान्य रूप के दर्शन

---

१ द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र, गाथा ३

२ जे णयदिट्ठिविहीणा ताण ण वत्थुसहावउवलद्धि ।
वत्थुसहावविहीणा सम्मादिट्ठी कह हुति ।। वही, गाथा १८१

३. कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २६१

कराता है और पर्यायार्थिक विशेषरूप के। उदाहरणार्थ, जब पर्यायार्थिक नेत्र को बन्द कर केवल द्रव्यार्थिक से देखते हैं तब जीवद्रव्य की नारक, तिर्यक्, मनुष्य, देव और सिद्ध पर्यायो मे ये पर्याये दिखाई नही देती, केवल उनमे अवस्थित वही-वही जीवद्रव्य दिखाई देता है, जिससे ये सब अन्य-अन्य पर्याये एक उसी जीवद्रव्य के रूप में (अनन्य) प्रतीत होती हैं। किन्तु, जब द्रव्यार्थिक नेत्र को बन्दकर केवल पर्यायार्थिक से अवलोकन करते हैं तब उस एक जीवद्रव्य मे जीवद्रव्य दिखाई नही देता, केवल उसमे अवस्थित नारक, तिर्यक्, मनुष्य, देव और सिद्ध, ये अनेक पर्याये दिखाई देती हैं, जिससे वही जीवद्रव्य अन्य-अन्य रूपो मे दृष्टिगोचर होता है। जब दोनो नेत्रो को एक साथ खोलकर इस ओर भी देखते है और उस ओर भी, तब नारकादि पर्यायो मे अवस्थित जीवसामान्य और जीवसामान्य मे अवस्थित नारकादि पर्यायरूप विशेष एक ही समय मे दिखाई देते हैं। इस तरह क्रमश एक-एक नेत्र से देखने पर वस्तु के एक-एक पक्ष के दर्शन होते है और दोनो नेत्रो से एक साथ देखने पर सम्पूर्ण वस्तु का अवलोकन होता है। सम्पूर्ण वस्तु का अवलोकन करने पर वस्तु के अन्यत्व और अनन्यत्व धर्मों मे विरोध प्रतीत नही होता।''[१]

इस व्याख्या से स्पष्ट होता है कि नय और प्रमाण नेत्रो के समान वस्तु के स्वरूप को जानने के साधन है। यह व्याख्यान नय और प्रमाण के लक्षणो को भी सरलतया बोधगम्य बना देता है। वस्तु के परस्परविरुद्ध दो पक्षो मे से एक समय मे एक ही पक्ष से वस्तु का परामर्श करनेवाली ज्ञाता की एकाकी दृष्टि का

---

१ सर्वस्य हि वस्तुन सामान्यविशेषात्मकत्वात् तत्स्वरूपमुत्पश्यता यथाक्रम सामान्य-विशेषौ परिच्छिन्दती द्वे किल चक्षुषी, द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक चेति। तत्र पर्यायार्थिक-मेकान्तनिमीलित विधाय केवलोन्मीलितेन द्रव्यार्थिकेन यदावलोक्यते तदा नारक-तिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकेषु विशेषेषु व्यवस्थित जीवसामान्यमेकम-वलोकयतामनवलोकितविशेषाणा तत्सर्व जीवद्रव्यमिति प्रतिभाति। यदा तु द्रव्यार्थिक-मेकान्तनिमीलित विधाय केवलोन्मीलितेन पर्यायार्थिकेनावलोक्यते तदा जीवद्रव्ये व्यवस्थितान्नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायत्मकान् विशेषाननेकानवलोकयताम-नवलोकितसामान्यानानामन्यदन्यत् प्रतिभाति। द्रव्यस्य तत्तद्विशेषकाले तत्तद्विशेषेभ्य-स्तन्मयत्वेनानन्यत्वाद् गणतृणपर्णदारुमयहव्यवाहवत्। यदा तु ते उभे अपि द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिके तुल्यकालोन्मीलिते विधाय तत इतश्चावलोक्यते तदा नारकतिर्यङ्मनुष्य-देवसिद्धत्वपर्यायायेषु व्यवस्थित जीवसामान्य जीवसामान्ये च व्यवस्थिता नारक-तिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मका विशेषाश्च तुल्यकालमेवावलोक्यन्ते। तत्रैकचक्षुर-वलोकनमेकदेशावलोकन, द्विचक्षुरवलोकन सर्वावलोकनम्। तत· सर्वावलोकने द्रव्यस्यान्यत्वमनन्यत्व च न विप्रतिषिध्यते।'' प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका २/२२

नाम नय है तथा एक समय मे दोनो पक्षो से परामर्श करनेवाले दृष्टियुगल को प्रमाण कहते हैं।[१]

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय ही अध्यात्म मे निश्चयनय और व्यवहारनय के नाम से जाने जाते हैं। आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने समयसार की टीका मे स्पष्ट किया है कि निश्चयनय द्रव्याश्रित है और व्यवहारनय पर्यायाश्रित।[२] आलापपद्धति मे भी कहा गया है —

णिच्छयव्यवहारणया मूलिमभेया णयाणसव्वाण ।
णिच्छयसाहणहेऊ दव्वयपज्जत्थिया मुणह ।।[३]

— सब नयो के निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो मूलभूत भेद है। निश्चय का हेतु द्रव्यार्थिक नय है और साधन का अर्थात् व्यवहारनय का हेतु पर्यायार्थिक नय है।[४]

इस प्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय भी नेत्रयुगल हैं जिनके द्वारा वस्तु के परस्परविरुद्ध पक्षो के दर्शन होते हैं।

निश्चय और व्यवहारनय प्रमाणैकदेश

वस्तु के स्वरूप का जो निर्णय उसके उभय पक्षो के आधार पर किया जाता है वह प्रमाण कहलाता है। प्रयोजनवश किसी एक पक्ष के आधार पर किये गये निर्णय को नय कहते है। दूसरे शब्दो मे, जब ज्ञाता (प्रमाता) की दृष्टि मे वस्तु के उभय पक्ष प्रतिबिम्बित होते हैं तब उस दृष्टि का नाम प्रमाण होता है और जब प्रयोजनवश दृष्टि मे किसी एक पक्ष का प्रतिबिम्ब ग्रहण किया जाता है तब उस दृष्टि को नय कहते हैं। इस तरह नय श्रुतज्ञान-प्रमाण का एकदेश (अश) है[५] अत. अप्रमाण नही है। जैसे समुद्र के अश को न तो समुद्र कहा जा सकता है न असमुद्र, अपितु समुद्रैकदेश ही कहा जा सकता है, वैसे ही प्रमाण के अवयव को न तो अप्रमाण माना जा सकता है, न प्रमाण, अपितु प्रमाणैकदेश ही माना

---

१ "अनेकान्तप्रतिपत्ति प्रमाणमेकधर्मप्रतिपत्तिर्नय ।" अष्टशती, देवागमकारिका, १०६

२. "व्यवहारनय: किल पर्यायाश्रितत्वात् . .। निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात् ..।" समयसार, गाथा, ५६

३ आलापपद्धति, गाथा, ४.

४. आलापपद्धति, गाथा, ४, अनुवादक — प० रतनचन्द जी मुख्तार

५ "श्रुतविकल्पो वा नय·। आलापपद्धति, सूत्र, १८१

जा सकता है।[१]

निश्चयनय और व्यवहारनय भी श्रुतज्ञाननामक प्रमाण के अवयव हैं[२] इसलिए प्रमाणैकदेश है। अत: उनसे वस्तु के पक्षविशेषो की सत्यता प्रमाणित होती है। आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने इन दोनो नयो को सत्य बतलाया है, क्योंकि वस्तु के शुद्ध-अशुद्ध रूप इनके विषय हैं और वस्तु की प्रतीति शुद्ध-अशुद्ध दोनो रूपो मे होती है।[३] आचार्य श्री जयसेन का कथन है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के समूह को मोक्षमार्ग कहना भेदप्रधान या पर्यायप्रधान व्यवहारनय से सत्य होता है। 'ऐकाग्र्य' को मोक्षमार्ग कहना अभेदप्रधान या द्रव्यप्रधान निश्चयनय से सत्य होता है तथा चूँकि समस्त वस्तुसमूह भेदाभेदात्मक है इसलिए मोक्षमार्ग के निश्चयव्यवहारात्मक दोनो रूप प्रमाण से सत्य सिद्ध होते है।[४]

समयसार की टीका मे आचार्य श्री अमृतचन्द्र लिखते है — "जब जीव और पुद्‌गल की अनादिबन्धपर्याय को दृष्टि मे रखकर अनुभव किया जाता है तब जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये नौ तत्त्व सत्य प्रतीत होते हैं, किन्तु अकेले जीवद्रव्य के शुद्ध चैतन्य स्वभाव को दृष्टि मे रखकर अनुभव करते है तब असत्य ठहरते है।[५] इसी प्रकार "अनादि बद्धस्पृष्टत्व पर्याय से आत्मा का अवलोकन करने पर बद्धस्पृष्टत्व भूतार्थ घटित होता है, किन्तु जब पुद्‌गल के जड़ स्वभाव को कभी भी ग्रहण न करनेवाले आत्मस्वभाव पर ध्यान दिया जाता है तब आत्मा का बद्धस्पृष्टत्व (पुद्‌गलकर्मो से सश्लेषसम्बन्ध) अभूतार्थ

१ नाप्रमाण प्रमाण वा नयो ज्ञानात्मको मत ।
स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधत ।। नयविवरण, १०

२ "श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयो ।" समयसार/आत्मख्याति, १४३

३ "रागादिपरिणामस्यैवात्मा कर्ता तस्यैवोपादाता हाता चेत्येष शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको निश्चयनय·। यस्तु पुद्‌गलपरिणाम आत्मन. कर्म स एव पुण्यपापद्वैत पुद्‌गलपरिणाम-स्यात्मा कर्ता तस्योपादाता हाता चेति सोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको व्यवहारनय। उभावप्येतौ स्त शुद्धाशुद्धत्वेनोभयथा द्रव्यस्य प्रतीयमानत्वात्।"
प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका, २/९७

४ "तस्य तु मोक्षमार्गस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति भेदात्मकत्वात् पर्याय-प्रधानेन व्यवहारनयेन निर्णयो भवति। ऐकाग्र्यं मोक्षमार्ग इत्यभेदात्मकत्वात् द्रव्यप्रधानेन निश्चयनयेन निर्णयो भवति। समस्तवस्तुसमूहस्यापि भेदाभेदात्मकत्वान्निश्चयव्यवहार-मोक्षमार्गद्वयस्यापि प्रमाणेन निश्चयो भवतीत्यर्थ।" प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति, ३/४२

५ "बहिर्दृष्ट्या नवतत्त्वान्यमूनि जीवपुद्‌गलयोरनादिबन्धपर्यायमुपेत्यैकत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि। अथ चैकजीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि।"
समयसार/आत्मख्याति, गाथा १३

सिद्ध होता है।''[१] इन वचनो से निश्चय और व्यवहारनयो की प्रमाणैकदेशता का समर्थन होता है।

स्याद्वादमञ्जरीकार ने अन्य के लिए अन्य के नाम का प्रयोग करने को अर्थात् उपचारात्मक असद्भूतव्यवहारनय को भी प्रमाणैकदेश बतलाया है, क्योंकि उपचारात्मक असद्भूतव्यवहारनय साधर्म्यादि सम्बन्ध से मुख्य अर्थ का ही द्योतन करता है।[२]

आचार्य जयसेन लोकव्यवहार अर्थात् असद्भूतव्यवहारनय की कथंचित् प्रामाणिकता का प्रतिपादन करने के लिये जैनो और बौद्धो के द्वारा मान्य व्यवहारनयों का भेद बतलाते हैं। वे कहते हैं —यद्यपि जैनो के समान बौद्ध भी बुद्ध को व्यवहारनय से सर्वज्ञ मानते हैं, तथापि बौद्धों के मत मे व्यवहारनय जैसे निश्चयनय की अपेक्षा असत्य होता है वैसे ही व्यवहाररूप से भी असत्य होता है। किन्तु, जैनमत मे व्यवहारनय यद्यपि निश्चय की अपेक्षा असत्य होता है, तथापि व्यवहाररूप से सत्य होता है। यदि वह लोकव्यवहार-रूप से भी सत्य न हो तो समस्त लोकव्यवहार मिथ्या ठहरेगा। इससे लोकव्यवहार को सर्वथा असत्य मानने का अतिप्रसगदोष उपस्थित होगा।''[३]

ये समस्त आर्षवचन निश्चय और व्यवहार नयो की प्रमाणैकदेशता की पुष्टि करते है।

सत्य के दो रूप

यत निश्चय और व्यवहार दोनो नय प्रमाणैकदेश है इसलिए उनके द्वारा अधिगत पदार्थ सत्य होता है। निश्चयनय द्वारा गृहीत पदार्थ तो सत्य होता ही है, व्यवहारनय द्वारा ज्ञात पदार्थ भी सत्य होता है।[३] किन्तु सत्य के रूपो मे अन्तर

---

१ ''तथात्मनोऽनादिबद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानताया बद्धस्पृष्टत्व भूतार्थमप्येकान्तत पुद्गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।''

समयसार/आत्मख्याति, गाथा १४

२ ''लौकिकानामपि घटाकाश पटाकाशमिति व्यवहारप्रसिद्धेराकाशस्य नित्यानित्यत्वम्। न चायमौपचारिकत्वादप्रमाणमेव। उपचारस्यापि किञ्चित् साधर्म्यद्वारेण मुख्यार्थ-स्पर्शित्वात्।'' स्याद्वादमञ्जरी, ५/२६

३ ''ननु सौगतोऽपि ब्रूते व्यवहारेण सर्वज्ञ , तस्य किमिति दूषण दीयते भवद्भिरिति ? तत्र परिहारमाह सौगतादिमते यथा निश्चयापेक्षया व्यवहारो मृषा, तथा व्यवहाररूपेणापि व्यवहारो न सत्य इति। जैनमते पुनर्व्यवहारनयो यद्यपि निश्चयापेक्षया मृषा तथापि व्यवहाररूपेण सत्य इति। यदि पुनर्लोकव्यवहाररूपेणापि सत्यो न भवति तर्हि सर्वोऽपि लोकव्यवहारो मिथ्या भवति, तथा सत्यतिप्रसङ्ग:।''

समयसार/तात्पर्यवृत्ति, गाथा ३५६-३६५

३. (क) ''उभावप्येतौ स्त. शुद्धाशुद्धत्वेनोभयथा द्रव्यस्य प्रतीयमानत्वात्।''

प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका, २/९७

है। अनेकान्त वस्तु से सम्बन्धित जिस सत्य की प्रतीति निश्चयनय से होती है वह परमार्थसत्य है और जिसका अनुभव व्यवहारनय से होता है वह व्यवहारसत्य या लौकिकसत्य है। जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये स्वत सिद्ध स्वतन्त्र मूलपदार्थ परमार्थसत्य हैं।[1] तथा जीव और पुद्‌गल के सयोग से सिद्ध मनुष्यादि जीवपर्याये, शरीरादि अजीवपर्याये, मोहरागादिरूप आस्रव, जीवपुद्‌गल-सश्लेषरूप बन्ध, पाप-पुण्य, सवर, निर्जरा और मोक्ष व्यवहार सत्य हैं। इसीलिए इन्हे व्यावहारिक नौ पदार्थ कहा गया है।[2] इनमे भी जो आस्रवादि तत्त्व जीव से सम्बद्ध हैं अर्थात् चेतनात्मक हैं वे परमार्थसत्य है, जो पुद्‌गल से सम्बद्ध है अर्थात् जड़स्वभावात्मक हैं वे व्यवहारसत्य हैं। आत्मा का स्वकीय शुद्ध परिणाम मोक्ष का साक्षात् मार्ग है इसलिए वह परमार्थसत्य है,[3] आत्मा का ही शुभपरिणाम मोक्षमार्ग का साधक है इसलिए वह व्यवहारसत्य है।

जीव का स्वत सिद्ध चैतन्यस्वभाव परमार्थसत्य है, पुद्‌गल कर्मों के निमित्त से उत्पन्न मोहरागादिभाव व्यवहारसत्य है। कर्मनिमित्तक देव, मनुष्य, तिर्यक्, नारक एव सिद्ध पर्याये भी व्यवहारसत्य है। केवलज्ञान तथा सर्वज्ञत्व भी नैमित्तिकभाव होने से व्यवहारसत्य है।

आत्मा और उसके दर्शनज्ञानचारित्रादि धर्मों मे जो प्रदेशगत मौलिक अभेद है वह परमार्थसत्य है तथा जो सज्ञादिगत बाह्य भेद है वह व्यवहारसत्य है। आत्मा और पुद्‌गलादि परद्रव्यो की प्रदेशगत मौलिक भिन्नता परमार्थसत्य है तथा सश्लेष, सयोग, निमित्तनैमित्तिक आदि बाह्य सम्बन्ध व्यवहारसत्य है। अपने दर्शनज्ञानादि

(ख) "अमीषु तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तमभूतार्थनयेन व्यपदिश्यमानेषु जीवाजीवपुण्य-पापास्रवसवरनिर्जराबन्धमोक्षलक्षणेषु नवतत्त्वेषु।"

समयसार/आत्मख्याति/गाथा १३

१ (क) "इमौ हि जीवाजीवौ पृथग्भूतास्तित्वनिर्वृत्तत्वेन भिन्नस्वभावभूतौ मूलपदार्थौ। जीवपुद्‌गलसयोगपरिणामनिर्वृत्ता सप्तान्ये च पदार्था.।"

पचास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा १०८

(ख) "निश्चयमनारूढा· परमार्थसत्य भगवन्त समयसार न पश्यन्ति।"

समयसार/आत्मख्याति/गाथा ४१३

(ग) "गगनादिवत् पारमार्थिको वस्तुविशेषोऽस्मि।" वही/गाथा ७३

२. "नारकादिजीवविशेषाजीवपुण्यपापास्रवसवरनिर्जराबन्धमोक्षलक्षणव्यावहारिकनव-तत्त्वेभ्य. · · ।" वही/गाथा ३८

३ मोत्तूणणिच्छयट्ठ ववहारेण विदुसा पवट्टंति ।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ।। समयसार/गाथा १५६

गुणों मे व्याप्त आत्मा का चैतन्यभावरूप एक मूल स्वभाव परमार्थसत्य है तथा चैतन्य- रूप मूलस्वभाव मे निमग्न दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि विशिष्ट स्वभाव व्यवहार-सत्य हैं।

शरीर, धन-सम्पत्ति तथा परिवारजनो के साथ आत्मा का प्रदेशात्मक एकत्व न होने से स्वस्वामिसम्बन्ध का अभाव परमार्थसत्य है, किन्तु सयोगसम्बन्ध होने से स्वस्वामिसम्बन्ध का सद्भाव व्यवहारसत्य है। परद्रव्यो मे स्वशरीर, परशरीर, स्वस्त्री, परस्त्री, निजधन, परधन इत्यादि अपने-पराये का भाव लौकिक सत्य है। इस सत्य के बिना परप्राणव्यपरोपणरूप हिसा, परधनहरणरूप चोरी, परस्त्रीगमनरूप अब्रह्म तथा धनादिसग्रहरूप परिग्रह के पाप घटित नही हो सकते, न ही इनके त्याग से फलित होने वाले अणुव्रतो और महाव्रतो, अनशनादि तप, श्रावकधर्म और मुनिधर्म का अस्तित्व सिद्ध हो सकता है। इसीलिए आचार्य जयसेन ने लोकव्यवहार को व्यवहाररूप से सत्य बतलाया है।

इसी प्रकार वस्तु का मूल नाम परमार्थसत्य है और औपचारिक नाम व्यवहारसत्य। जैसे शरीर का 'शरीर' नाम परमार्थ सत्य है क्योंकि यह नाम 'शरीर' शब्द का जो नियतस्वलक्षणभूत अर्थ है उसे ही सकेतित करता है, किन्तु शरीर की 'जीव' सज्ञा व्यवहारसत्य है क्योंकि यह नियतस्वलक्षणभूत अर्थ को सकेतित न कर जीव और शरीर के सश्लेषसम्बन्ध को लक्षणाशक्ति से बोधित करती है।

निश्चय और व्यवहारनय परस्परसापेक्ष है। इसलिए निश्चय शब्द व्यवहार-सत्य के अस्तित्व को स्वय द्योतित करता है। आचार्य श्री जयसेन समयसार की टीका मे स्पष्ट करते हैं —

"शुद्धनिश्चयनय से जीव अकर्त्ता, अभोक्ता तथा क्रोधादि से भिन्न है, ऐसी व्याख्या करने पर दूसरे पक्ष मे व्यवहारनय से कर्त्ता, भोक्ता तथा क्रोधादि से अभिन्न है, यह अर्थ स्वयमेव निकलता है, क्योंकि निश्चय और व्यवहार परस्पर सापेक्ष है। जैसे यह देवदत्त दायी ऑख से देखता है ऐसा कहने पर बायी ऑख से नही देखता, यह अर्थ बिना कहे ही सिद्ध होता है। किन्तु जो ऐसा नयविभाग नही मानते, उनके मत मे जैसे जीव शुद्धनिश्चयनय से अकर्त्ता तथा क्रोधादि से भिन्न होता है वैसे ही व्यवहारनय से भी होता है। ऐसा होने पर क्रोधादिरूप परिणमन के अभाव मे सिद्धो के समान कर्मबन्ध का अभाव फलित होता है। कर्मबन्ध के अभाव मे ससार का अभाव और ससार के अभाव मे सदा मुक्त रहने का प्रसग उपस्थित होता है। यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, क्योंकि ससार प्रत्यक्ष दिखाई देता है।"[१]

---

१ कि च शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्याकर्तृत्वमोक्तृत्व च क्रोधादिभ्यश्च भिन्नत्व च भवतीति

इस प्रकार सत्य के दो रूप : परमार्थसत्य और व्यवहारसत्य या लौकिक सत्य आगमसिद्ध हैं।

उपदेश के लिए निश्चय-व्यवहार नयों का आश्रय

जीवादि तत्त्व अनेकान्तात्मक हैं इसलिए जिनेन्द्रदेव ने उनकी प्ररूपणा निश्चय और व्यवहारनयो के आश्रय से की है।[१] गुरु भी शिष्यो के अज्ञान की निवृत्ति के लिए निश्चय और व्यवहार नयो का अवलम्बन कर वस्तुस्वरूप का विवेचन करते हैं, जैसा कि आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है —

> मुख्योपचार - विवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधा. ।
> व्यवहारनिश्चयज्ञा प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम् ।।[२]

अर्थात् निश्चय और व्यवहार के ज्ञाता गुरु मुख्य विवरण (द्रव्याश्रित या मूलाश्रित कथन) तथा उपचारविवरण (पर्यायाश्रित कथन) द्वारा शिष्यो के दुर्निवार अज्ञान को मिटाकर जगत् मे धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं।

अनादि अज्ञानवश जीव शरीर को आत्मा मानता है और इन्द्रियसुख को ही सुख समझता है। देवी-देवताओ के प्रकोप को दु:ख का कारण मानता है और उनकी पूजा-भक्ति को तथा प्राणियो की बलि देकर उन्हे प्रसन्न करने को दु:ख-निवारण का उपाय समझता है। ईश्वर की आराधना और शुभक्रियाएँ उसकी दृष्टि मे मोक्ष का मार्ग होती है। वह अपने को परद्रव्यो का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता और उन्हे अपने सुख-दु.ख का कारण मानकर चलता है। परद्रव्यो मे उसकी ममत्वबुद्धि होती है। दु:ख के वास्तविक कारण और दु ख-मुक्ति के वास्तविक उपाय की उसे समझ नही होती।

इसलिए हितैषी गुरु निश्चयनय का आश्रय लेकर प्रतिनियत स्वलक्षण की युक्ति से समझाते हैं कि जीवो मे जो शुद्धचैतन्य भाव है उसका नाम आत्मा है तथा वह शरीर और रागादिभावो से भिन्न है। इससे अज्ञानी जीव का आत्मविषयक

व्याख्याने कृते सति द्वितीयपक्षे व्यवहारेण कर्तृत्व भोक्तृत्व च क्रोधादिभ्यश्चाभिन्नत्व च लभ्यते एव। कस्मात् ? निश्चयव्यवहारयो परस्परसापेक्षत्वात्। कथमिति चेत् ? यथा दक्षिणेन चक्षुषा पश्यत्यय देवदत्त· इत्युक्ते वामेन न पश्यतीत्यनुक्तसिद्धिमिति। ये पुनरेवं परस्परसापेक्षनयविभाग न मन्यन्ते साख्यसदाशिवमतानुसारिणस्तेषा मते यथा शुद्धनिश्चयनयेन कर्त्ता न भवति क्रोधादिभ्यश्च भिन्नो भवति तथा व्यवहारेणापि। ततश्च क्रोधादिपरिणमनाभावे सति सिद्धानामिव कर्मबन्धाभाव:। कर्मबन्धाभावे संसाराभाव:। ससाराभावे सर्वदा मुक्तत्व प्राप्नोति।'' समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ११३-११५

१. ''उभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तना।'' पचास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा १५९

२ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, कारिका ४

अज्ञान दूर हो जाता है। वह शरीर और रागादिभावो से पृथग्भूत चिन्मात्रभाव मे ही जीवद्रव्य की सत्ता का निश्चय करता है। किन्तु इसके साथ ही गुरुदेव व्यवहारनय का अवलम्बन कर जीवसयुक्त शरीर को भी जीव कहते हैं, इसलिए कि शिष्य स्वभाव की दृष्टि से तो आत्मा को शरीर से पृथक् माने, किन्तु पर्यायदृष्टि से पृथक् न मान ले। यदि पर्यायदृष्टि से भी पृथक् मान लिया तो जीव के साथ शरीर का कोई सम्बन्ध दिखेगा ही नही और तब शरीर के घात से जीवघातरूप हिसा का पाप घटित नही होगा। इससे कर्मबन्ध के अभाव का प्रसग आयेगा और कर्मबन्ध के अभाव मे मोक्ष का अभाव घटित होगा। व्यवहारनय के उपदेश से यह अनर्थ नही हो पाता। इसी प्रकार शरीर को सर्वथा जीव समझने से जो अनर्थ हो सकता है वह निश्चयनय के उपदेश से बच जाता है। इसी प्रकार गुरु निश्चयनय के आश्रय से जीव को रागादिभावो से भिन्न दर्शाने के साथ-साथ व्यवहारनय का अवलम्बन कर अभिन्न भी प्रदर्शित करते है, जिससे कि जीव पर्यायदृष्टि से भी शुद्ध न मान लिया जाय, अन्यथा जो पर्यायदृष्टि से भी शुद्ध हो, उसके लिए मोक्ष की आवश्यकता कैसे सिद्ध होगी ? दूसरी तरफ द्रव्यदृष्टि से आत्मा को रागादि से भिन्न न माना जाय तो वे आत्मा के स्वभाव सिद्ध होगे। इस स्थिति मे मोक्ष की सम्भावना ही समाप्त हो जायेगी, क्योंकि जो स्वभाव है उससे कोई मुक्त कैसे हो सकता है ? इस अनर्थ का प्रतिकार निश्चयनय के उपदेश से हो जाता है।[१]

तथा गुरुदेव निश्चयनय (द्रव्यदृष्टि) का आश्रय लेकर परद्रव्य और आत्मा मे वस्तुरूप से पृथक्त्व दर्शाते है और सिद्ध करते हैं कि जो द्रव्य मूलत. पृथक्-पृथक् हैं अर्थात् जिनकी सत्ता ही अलग-अलग है उनमे कोई किसी का कर्त्ता या कर्म कैसे हो सकता है ? कोई किसी का स्वामी या स्व (अपना) कैसे हो सकता है ? कोई किसी की स्वस्त्री या परस्त्री, स्वधन या परधन कैसे हो सकता है ? इस निश्चयनयाश्रित विश्लेषण से शिष्य को निश्चय हो जाता है कि जीव परद्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता या स्वामी नही है, न ही कोई स्वस्त्री है, न परस्त्री, न स्वपुरुष, न परपुरुष, न स्वधन, न परधन। इस ज्ञान से परद्रव्य के प्रति ममत्व का आधार

---

१. सर्वे एवैतेऽध्यवसानादयो भावा जीवा इति यद्भगवद्भि सकलज्ञै. प्रज्ञप्त तदभूतार्थस्यापि व्यवहारस्यापि दर्शनम्। व्यवहारो हि व्यवहारिणा म्लेच्छाभाषेव म्लेच्छाना परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्त दर्शयितु न्याय्य एव। तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणा भस्मन इव नि:शङ्कमुपमर्दनेन हिंसाभावाद् भवत्येव बन्धस्याभाव·। तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावाद् भवत्येव मोक्षस्याभाव ।'' समयसार/आत्मख्याति/गाथा ४६

समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार गुरु अनुभव कराते हैं कि निश्चयनय से देखने पर केवल मूल पदार्थ ही दिखाई देता है, दो पदार्थों का सम्बन्ध दिखाई नही देता, क्योंकि इसको देखने वाली व्यवहारदृष्टि उस समय बन्द रहती है। इसलिए निश्चय-दृष्टि से संयोगादि सम्बन्ध अभूतार्थ सिद्ध होते है।

किन्तु, इसके साथ ही गुरु व्यवहारनय (पर्यायदृष्टि या द्विष्ठसम्बन्धदृष्टि) का अवलम्बन कर आत्मा और परद्रव्य मे संश्लेष, सयोग, निमित्तनैमित्तिकादि सम्बन्धो को भूतार्थ बतलाते है, जिससे यह समाधान हो जाता है कि जीव की संसारावस्था मौलिक नही है, अपितु पुद्‌गलसयोगजन्य है, रागादिभाव स्वाभाविक नहीं हैं, बल्कि पुद्‌गलकर्मनिमित्तक है। इसलिए पुद्‌गलकर्मो के सयोग से छुटकारा पाकर जीव मुक्त हो सकता है। इसी प्रकार स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति आदि के साथ संयोग सम्बन्ध का बोध होने से यह भी निश्चय हो जाता है कि इनके साथ लौकिकदृष्टि से अपने-पराये का भेद वास्तविक है। इस भेद की वास्तविकता के आधार पर ही परप्राणव्यपरोपणरूप हिसा, परस्त्रीगमनरूप व्यभिचार, परधनहरणरूप चोरी, परद्रव्यसग्रहरूप परिग्रह आदि पापो की सत्यता सिद्ध होती है।

तथा गुरुश्री निश्चयनय का आश्रय लेकर शुद्धोपयोग को ही मोक्षमार्ग ठहराते है, क्योंकि शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के कर्मो का सवर और निर्जरा शुद्धोपयोग से ही होती है। किन्तु व्यवहारनय (साध्य-साधकसम्बन्धदृष्टि) को प्रधानता देकर शुभोपयोग को मोक्षमार्ग प्रतिपादित करते है, क्योंकि शुभोपयोग के अभ्यास से ही जीव शुद्धोपयोग के योग्य बन पाता है। यदि केवल निश्चयनय के अभिप्राय से शुद्धोपयोग को ही मोक्षमार्ग बतलाया जाय और शुभोपयोग को मोक्षमार्ग सज्ञा न दी जाय तो शिष्य एकान्तरूप से शुद्धोपयोग को ही मोक्षमार्ग मानकर उसी मे स्थित होने का प्रयास करता रहेगा, लेकिन विषयकषायो से ग्रस्त होने के कारण सफल न हो पायेगा, जिससे पापसचय करते हुए ही मनुष्यायु समाप्त हो जायेगी। दूसरी ओर, व्यवहारनय की दृष्टि से केवल शुभोपयोग को ही मोक्षमार्ग कहा जाय, शुद्धोपयोग के मोक्षमार्गत्व का वर्णन न किया जाय तो जीव एकान्तरूप से शुभोपयोग को ही मोक्षमार्ग समझकर उसी मे लगा रहेगा और पुण्यबन्ध करता हुआ स्वर्गादि के चक्कर काटता रहेगा, मुक्त न हो पायेगा।

इसी प्रकार गुरुवर निश्चयनय की दृष्टि से पाप और पुण्य दोनो को बन्ध-कारण होने की अपेक्षा हेय प्रतिपादित करते हैं और व्यवहारनय के अभिप्राय से पाप से बचने के लिए पुण्य को उपादेय ठहराते हैं। निश्चयनय का अवलम्बन कर रागादि की उत्पत्ति को हिसा बतलाते है तथा व्यवहारनय की अपेक्षा से (निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध की दृष्टि से) परप्राणव्यपरोपण को हिसा सज्ञा देते हैं,

क्योंकि परप्राणो के व्यपरोपण को हिंसा सज्ञा न दी जाय तो जीव उनकी रक्षा का प्रयत्न नही करेगा। निश्चयनय की अपेक्षा गुरु मूर्च्छा को परिग्रह निरूपित करते हैं और व्यवहारनय की अपेक्षा परद्रव्य के सग्रह को 'परिग्रह' शब्द से अभिहित करते है, जिससे कि जीव मूर्च्छा के बाह्य निमित्त से बच सके।

इस प्रकार गुरुदेव निश्चय और व्यवहार दोनो नयो का अवलम्बन कर अज्ञानी शिष्यो को जीवादि तत्त्वो का उपदेश देते हैं, जिससे वस्तु के अनेकान्तस्वरूप के ज्ञानपूर्वक उनके दुर्निवार अज्ञान की निवृत्ति सम्भव होती है।

देशना के सम्यक् ग्रहण हेतु नयभेद का ज्ञान आवश्यक

गुरु निश्चय और व्यवहार नयो का आश्रय लेकर उपदेश देते है। उसे सम्यग्रूप से ग्रहण करने के लिए शिष्य को भी इन नयो के स्वरूप का समीचीन ज्ञान होना आवश्यक है। इन नयो के कथन किन अपेक्षाओ पर आश्रित हैं अथवा कौन सा कथन किस नय से सगत है, यह ज्ञान भलीभाँति होना चाहिए। यह ज्ञान न होने पर बड़ी भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती है। जैसे कोई द्रव्यदृष्टि से किये गए निश्चयनय के कथन को पर्यायदृष्टि से किया गया मान लेता है, अर्थात् निश्चयनय को व्यवहारनय समझ लेता है। उदाहरणार्थ, आगम मे आत्मा को द्रव्यदृष्टि से सिद्धसमान कहा गया है। नयज्ञान से रहित मनुष्य अपने को पर्याय की अपेक्षा सिद्धवत् अनुभव करने लगता है।[१] जिनेन्द्रदेव ने निश्चयनयाश्रित उपदेश मे जीव को द्रव्य की अपेक्षा रागादि से भिन्न बतलाया है। नयज्ञानशून्य मनुष्य आत्मा को पर्याय की अपेक्षा रागादि से भिन्न समझ लेता है।[२] समयसार मे आत्मा को द्रव्यदृष्टि से अबद्धस्पृष्ट कहा है। नयज्ञानविहीन व्यक्ति पर्याय की दृष्टि से अबद्धस्पृष्ट समझने की भूल कर बैठता है।[३] भगवान् ने शुभप्रवृत्ति को बन्ध की अपेक्षा हेय कहा है, पाप से बचने की अपेक्षा उपादेय बतलाया है, किन्तु नयनेत्ररहित मनुष्य सर्वथा हेय मान लेता है। आगम मे निश्चयनय का अवलम्बन कर द्रव्य की प्रधानता से आत्मा और परद्रव्य मे निमित्तनैमित्तिकादि समस्त सम्बन्धो का अभाव बतलाया है। नयदृष्टिविहीन जीव उनका सर्वथा अभाव समझ बैठता है। इन समस्त भ्रान्तियो को निश्चयैकान्त या निश्चयाभास कहते हैं।

कोई मनुष्य व्यवहारनय को निश्चयनय के रूप में ग्रहण कर लेता है। यथा, जिनेन्द्रदेव ने शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्ग का साधक होने की अपेक्षा सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग को व्यवहारनय से मोक्षमार्ग संज्ञा दी है, किन्तु नयभ्रमित व्यक्ति उसे

१ मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ७/पृ० १९३

२ वही/अधिकार ७/पृ० १९६.

३. वही/अधिकार ७/पृ० १९८

वास्तविक मोक्षमार्ग मान लेता है। इसी प्रकार आगम में आत्मा और शरीर के संश्लेष-सम्बन्ध की अपेक्षा व्यवहारनय से मनुष्यादि शरीरो को जीव कहा है। नयज्ञान से शून्य मनुष्य इसे द्रव्यदृष्टि से किया गया कथन मानकर मनुष्यादि शरीरो को ही परमार्थत: जीव समझने लगता है। इसे व्यवहारैकान्त या व्यवहाराभास कहा गया है।

कुछ लोग दोनो नयो के कथन को अपेक्षा भेद के बिना समानरूप से सत्य मान लेते हैं, क्योंकि नयो के भेद को वे समझ नही पाते है और दोनो नयो से भगवान् ने उपदेश दिया है, इसलिए किसी नय को असत्य मान नही सकते। अत: वे दोनो के कथन को परमार्थत· सत्य स्वीकार करने की मजबूरी निभाते चलते हैं। भगवान् ने आत्मा को निश्चयनय से चैतन्यस्वभाव कहा है और व्यवहारनय से रागादि-स्वभाव बतलाया है, इसलिए यह भेद किये बिना कि चैतन्यस्वभाव किस अपेक्षा से कहा है और रागादिस्वभाव किस अपेक्षा से, वे आत्मा को एक ही अपेक्षा से दोनो स्वभाववाला मान लेते हैं। इसी प्रकार निश्चयनय से शुद्धोपयोग को मोक्षमार्ग बतलाया है और व्यवहारनय से शुभोपयोग को। यहाँ अपेक्षाभेद का विचार किये बिना दोनो को वास्तविक मोक्षमार्ग समझकर एक साथ साधने की निष्फल चेष्टा करते हैं। यह उभयैकान्त अथवा उभयाभास है।

नयविभाग से अनभिज्ञ व्यक्ति की भ्रान्तबुद्धि का एक दृष्टान्त समयसार मे दिया गया है। कवियो ने तीर्थङ्करो की स्तुति उनके शारीरिक गुणो के द्वारा की है। इसे देखकर नयभेद से अनभिज्ञ व्यक्ति कहता है, "तीर्थङ्करो की स्तुति उनके शरीर की स्तुति के अतिरिक्त कुछ नही है। इसलिए मेरा दृढ़ मत है कि शरीर ही आत्मा है। यदि ऐसा न हो तो तीर्थङ्करो की सारी स्तुति मिथ्या हो जायेगी।[1]

इसके उत्तर मे आचार्य कहते हैं, "ऐसा नही है। तुम नयभेद से अनभिज्ञ हो (अर्थात् कौन सा कथन किस नय की अपेक्षा से किया गया है इसे तुम नही जानते)। जीव और शरीर के सश्लेषसम्बन्ध को दृष्टि मे रखकर व्यवहारनय से जीव और शरीर को एक माना जाता है। इसी अपेक्षा से अर्थात् व्यवहारनय से शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन सगत होता है। किन्तु, निश्चयनय से विचार करने पर अर्थात् आत्मा और पुद्गल के नियत स्वलक्षणों पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि जीव चेतनस्वभाव है और पुद्गल जड़स्वभाव। इस तरह उनके स्वभावो मे अत्यन्त भिन्नता है, अत. वे कभी एक नही हो सकते। इसलिए निश्चयनय से

---

१. जदि जीवो ण सरीर तित्थयरायरियसथुदी चेव ।
सव्वावि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ।। समयसार, गाथा २६

शरीर की स्तुति से आत्मा की स्तुति उपपन्न नहीं होती।[1] निष्कर्षत: शरीर जीव नहीं है, अपितु शुद्धचैतन्य तत्त्व ही जीव है। यह नयभेद से अनभिज्ञ व्यक्ति की भ्रान्तबुद्धि का दृष्टान्त है। इस विषय मे आचार्य अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं —

"जो व्यवहार को ही परमार्थबुद्धि से ग्रहण करते हैं उन्हे शुद्धात्मा का ज्ञान नही होता। जो परमार्थ को ही परमार्थरूप से ग्रहण करते हैं उन्हे शुद्धात्मस्वरूप की प्रतीति हो पाती है।"[2]

तथा जो व्यवहारनय को सर्वथा असत्य मानकर एकमात्र निश्चयनय को सत्य स्वीकार करते हुए प्रवृत्त होते हैं उनके विषय मे आचार्य कहते हैं —

णिच्छयमालबता णिच्छयदो णिच्छयं अयाणता ।
णासंति चरणकरण वाहरिचरणालसा केई ।।[3]

— कुछ लोग ऐसे होते हैं जो निश्चयनय को निश्चयनय से तो जानते नही हैं, किन्तु उसका अवलम्बन करते हैं। वे बाह्य चारित्र में आलसी बन जाते हैं और चारित्र से हाथ धो बैठते हैं।

उपर्युक्त अनर्थों से बचने के लिए मुमुक्षु शिष्य को निश्चय और व्यवहार नयो का समीचीन ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

●

---

१ (क) नैवं नयविभागानभिज्ञोऽसि —
ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ।।
समयसार/गाथा २७

(ख) एकत्व व्यवहारतो न तु पुन कायात्मनोर्निश्चया-
न्नु स्तोत्र व्यवहारतोऽस्ति वपुष· स्तुत्या न तत्तत्वत ।
स्तोत्र निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैव भवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्माङ्गयो:।। समयसारकलश, २७

२ "ततो ये व्यवहारमेव परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते ते समयसारमेव न चेतयन्ते। य एव परमार्थं परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते त एव समयसार चेतयन्ते।"
समयसार/आत्मख्याति, गाथा ४१४

३. पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका, गाथा १७२ मे उद्धृत

द्वितीय अध्याय

निश्चयनय

ज्ञाता की जो दृष्टि स्वत सिद्ध मूलपदार्थ, मूलस्वभाव, मौलिक भेद, मौलिक अभेद, नियत स्वलक्षण एव आत्माश्रित भाव के आधार पर वस्तुस्वरूप का निर्णय करती है उसे निश्चयनय कहते हैं तथा जो सोपाधिक (सयुक्त) पदार्थ, औपाधिक (नैमित्तिक) भाव, स्वभावविशेष (विशिष्ट स्वभाव), बाह्यभेद, बाह्य सम्बन्ध, पराश्रितभाव एव उपचार के आधार पर निर्णय करती है वह व्यवहारनय कहलाती है।[1]

मूल पदार्थ से तात्पर्य है परद्रव्य से असम्बद्ध, परसयोगादि से अनुत्पन्न, स्वत सिद्ध, स्वतन्त्र पदार्थ। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छ मूल पदार्थ है, क्योंकि ये परसयोगादि से रहित, स्वत.सिद्ध एव स्वतन्त्र है।[2] इन्हे द्रव्य भी कहते हैं। मूलस्वभाव का अर्थ है वस्तु का वह असाधारण स्वभाव जो उसके गुण नामक विशिष्ट स्वभावो मे व्याप्त होता है और जिसके कारण वे गुण द्रव्यविशेष के गुणो के रूप मे पहचाने जाते हैं। जैसे चैतन्यभाव आत्मा का असाधारण स्वभाव है। वह आत्मा के दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि गुणो मे व्याप्त होता है और उसके ही कारण दर्शनज्ञानचारित्रादि आत्मा के गुणो के रूप मे पहचाने जाते है। अत चैतन्यभाव आत्मा का मूलस्वभाव है। मौलिक भेद से अभिप्राय है स्वभाव या प्रदेशो (सत्ता) का भिन्न-भिन्न होना और उनका अभिन्न होना मौलिक अभेद कहलाता है। जो धर्म वस्तुविशेष की सभी अवस्थाओ मे तथा उस जाति की सभी वस्तुओ मे पाया जाता है, अन्य किसी वस्तु मे उपलब्ध नही होता, वह उस वस्तु का नियत-स्वलक्षण कहलाता है। स्वात्मा के श्रद्धानादि को आत्माश्रित भाव कहते है।

पुद्गलसयुक्त जीव और पुद्गलसयुक्त पुद्गल सोपाधिक पदार्थ हैं। पुद्गल की उपाधि या निमित्त से उत्पन्न जीव के परिणाम तथा जीव के निमित्त से उत्पन्न पुद्गल के परिणाम औपाधिक या नैमित्तिक भाव कहलाते हैं। पुण्य, पाप, आस्रव,

१ "इति भेदात्मकत्वात् पर्यायप्रधानेन व्यवहारनयेन निर्णयो भवति।"

प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति, ३/४२

२ "इमौ हि जीवाजीवौ पृथग्भूतास्तित्वनिर्वृत्तत्वेन भिन्नस्वभावभूतौ मूलपदार्थौ।"

पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा १०८

सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये सात पदार्थ पुद्गल के निमित्त से जीव मे उत्पन्न होते हैं, अत: ये जीव के औपाधिक (नैमित्तिक) भाव हैं।[1]

जीव के निमित्त से ये पुद्गल मे भी उत्पन्न होते हैं अत: वे पुद्गल के नैमित्तिक भाव हैं। औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक भाव जीव के औपाधिक भाव हैं, क्योंकि ये कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय के निमित्त से आविर्भूत होते हैं।[2] जीव की मनुष्य, देव, तिर्यञ्च और नारकपर्याये कर्मो के उदय के निमित्त से होती हैं तथा पुद्गलसयोगजन्य हैं, अत: ये जीव की औपाधिक अवस्थाएँ हैं। सिद्ध पर्याय की उत्पत्ति भी घाती और अघाती दोनो प्रकार के कर्मों के क्षय से होती है। इसलिए यह भी नैमित्तिक या औपाधिक है।

द्रव्य का असाधारण स्वभाव जिन विभिन्न गुणो के रूप मे अभिव्यक्त होता है वे द्रव्य के विशिष्टस्वभाव या 'विशेष' कहलाते हैं। वस्तु और उसके धर्मों मे जो सज्ञादि का भेद होता है वह बाह्य भेद है तथा परद्रव्य के साथ रहनेवाले सयोगादि सम्बन्ध का नाम बाह्यसम्बन्ध है। जीवादि परद्रव्यो के श्रद्धानादि को पराश्रित भाव कहते हैं। अन्य के लिए अन्य के वाचक शब्द का प्रयोग करना उपचार कहलाता है।[3]

इनमे से उपचार को छोड़कर सभी पदार्थ द्रव्य और पर्याय मे गर्भित हैं। मूलपदार्थ, मूलस्वभाव, मौलिक भेद, मौलिक अभेद और नियतस्वलक्षण ये पाँचो द्रव्य मे अन्तर्भूत हैं। जैसे शुद्ध चैतन्यभाव आत्मद्रव्य का नियतस्वलक्षण है और स्वत सिद्ध है, परद्रव्य के सयोगादि से उत्पन्न नही है, अत मूल पदार्थ है। अपने दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि विशेष-स्वभावो मे अखण्डरूप से व्याप्त होता है अत स्वय आत्मा का मूलस्वभाव है। आत्मद्रव्य और उसके दर्शनज्ञानादि गुणो मे अखण्ड रूप से व्याप्त रहने के कारण ही उनमे मौलिक अभेद का प्रकाशक है। आत्मा के अतिरिक्त शेष द्रव्यो मे उपलब्ध नही होता, इसलिए परद्रव्यो से मौलिक भेद का सूचक है।

दूसरी ओर, सोपाधिक पदार्थ (जीव और पुद्गल की सयुक्त अवस्था) तथा औपाधिक भाव पर्याय है। दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि विशेष भी पर्याय हैं।[4] सज्ञादि-

---

१ "जीवपुद्गलसयोगपरिणामनिर्वृत्ता. सप्तान्ये च पदार्था.।"

पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा १०८

२ "तत्रोदयेन युक्त औदयिक। उपशमेन युक्त औपशमिक। क्षयोपशमेन युक्त. क्षायोपशमिक:। क्षयेण युक्त क्षायिक·। परिणामेन युक्त. पारिणामिक.। त एते पञ्च जीवगुणा·। तत्रोपाधिचतुर्विधनिबन्धनाश्चत्वार। स्वभावनिबन्धन एक:।"

वही/गाथा, १६

३ "अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणसमद्भूतव्यवहार। असद्भूतव्यवहार एवोपचार.।" आलापपद्धति/सूत्र २०७-२०८

४ "तथात्मनो ज्ञानदर्शनादिपर्यायेण ''।" समयसार/आत्मख्याति/गाथा, १४

गत भेद भी पर्याय है।[१] परद्रव्य के साथ निमित्तनैमित्तिकादि सम्बन्ध भी पर्याय हैं।

यत: निश्चय और व्यवहार के विषयभूत उपर्युक्त पदार्थ द्रव्य और पर्याय मे गर्भित होते हैं, अत· आचार्यों ने सक्षेप मे द्रव्य का अवलम्बन कर वस्तुस्वरूप का निर्णय करनेवाली ज्ञाता की दृष्टि को निश्चयनय तथा पर्याय का अवलम्बन कर निर्णय करनेवाली दृष्टि को व्यवहारनय सज्ञा दी है —

"निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात् ··। व्यवहारनय· किल पर्यायाश्रितत्वात् ··।"[२]

निश्चय और व्यवहार के पूर्वोक्त विषयो को पृथक्-पृथक् लेकर इन नयो की परिभाषाएँ इस प्रकार की गई हैं —

"अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयत इति निश्चय:। भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियत इति व्यवहार·।"[३]

— मौलिक (प्रदेशगत) अभेद और नियतस्वलक्षण (अनुपचार) के आधार पर वस्तु का निश्चय करनेवाली दृष्टि निश्चयनय है तथा सज्ञादिगत बाह्य भेद और उपचार के आधार पर निर्णय करनेवाली दृष्टि व्यवहारनय।

"निश्चयनयोऽभेदविषयो, व्यवहारो भेदविषय·।"[४]

— निश्चयनय का विषय प्रदेशगत अभेद है और व्यवहारनय का विषय सज्ञादिगत भेद।

अर्थात् मौलिक अभेद का अवलम्बन कर वस्तुस्वरूप का निर्णय करनेवाली दृष्टि का नाम निश्चयनय और बाह्यभेद का अवलम्बन कर निर्णय करनेवाली दृष्टि का नाम व्यवहारनय है।

"भिन्नवस्तुसम्बन्धविषयोऽसद्भूतव्यवहार·।"[५]

— भिन्न वस्तुओ का सम्बन्ध असद्भूत व्यवहारनय का विषय है।

यहाँ परद्रव्यसम्बन्ध के आधार पर वस्तुस्वरूप का निर्णय करनेवाली ज्ञाता की दृष्टि को 'असद्भूतव्यवहारनय' शब्द से सकेतित किया गया है।

"आत्माश्रितो निश्चयनय., पराश्रितो व्यवहारनय·।"[६]

— निश्चयनय आत्माश्रित है, व्यवहारनय पराश्रित।

---

१. 'ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओ त्ति एयट्ठो।' गोम्मटसार/जीवकाण्ड/गाथा ५७२

२. समयसार/आत्मख्याति/गाथा, ५६

३ आलापपद्धति/सूत्र २०४-२०५

४. वही/सूत्र २१६

५ वही/पादटिप्पणी/द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र/पृष्ठ २२८

६ समयसार/आत्मख्याति/गाथा, २७२

यह परिभाषा मोक्षमार्ग को दृष्टि मे रखकर की गई है।[१]

इसका अभिप्राय यह है कि स्वात्मा के श्रद्धानादि के आधार पर मोक्षमार्ग का निर्णय करनेवाली दृष्टि निश्चयनय है तथा परद्रव्य के श्रद्धानादि के आधार पर निर्णय करनेवाली दृष्टि व्यवहारनय।[२] ये दोनों दृष्टियाँ नियतस्वलक्षणावलम्बिनी एवं उपचारावलम्बिनी दृष्टियों में गर्भित हैं, केवल स्पष्टता के लिए पृथक् रूप से उल्लेख किया गया है।

ये समस्त परिभाषाएँ निश्चय और व्यवहारनयो के पूर्वोक्त विषयो और लक्षणों पर प्रकाश डालती है।

प्रतिनियत लक्षण से पदार्थों की पहचान

यहाँ प्रश्न है कि निश्चय और व्यवहारनयो के उपर्युक्त विषयों की पहचान कैसे सम्भव है ? किसी भी वस्तु की पहचान उसके प्रतिनियत लक्षण से होती है।[३] उसी के द्वारा मूलपदार्थ का निश्चय होता है। उसी के द्वारा आस्रवादि औपाधिक तत्त्वो की पहचान होती है। उसी के द्वारा कर्त्ता-कर्मादि पर्यायो का निर्णय होता है। वही भिन्न वस्तुओ की भिन्नता का निश्चय कराता है।[४] वही वस्तु और उसके धर्मों की अभिन्नता का निर्णायक है।

प्रतिनियत स्वलक्षण वस्तु के उस धर्म को कहते है जो उसकी सभी अवस्थाओ मे पाया जाता है, किन्तु अन्य किसी वस्तु मे उपलब्ध नही होता, जिसके कारण वह अन्य सभी वस्तुओ से भिन्न सिद्ध होती है[५] तथा जिसके अभाव मे उस वस्तु का अभाव हो जाता है।[६] जैसे शुद्धचैतन्यभाव जीव का ऐसा धर्म है जो उसके

---

१ (क) "आत्माश्रितनिश्चयनयाश्रितानामेव मुच्चमानत्वात्। पराश्रितव्यवहारनयस्यैकान्ते-नामुच्यमानेनाभव्येनाप्याश्रीयमाणत्वाच्च।" समयसार/आत्मख्याति/गाथा, २७२
(ख) "एव पराश्रितत्वेन व्यवहारमोक्षमार्ग प्रोक्त इति। शुद्धात्माश्रितत्वेन निश्चय-मोक्षमार्गो ज्ञातव्य·।" वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, २७६-२७७

२ स्वात्मा का श्रद्धान, स्वात्मा का ज्ञान तथा स्वात्मलीनतारूप चारित्र आत्माश्रित (आत्मविषयक) भाव हैं तथा जीवादि का श्रद्धान, जीवादि का ज्ञान एव जीवरक्षादिरूप चारित्र पराश्रित (परद्रव्यविषयक) भाव हैं।

३ "यो हि परात्मनोर्नियतस्वलक्षणविभागपातिन्या प्रज्ञया ज्ञानी स्यात् स खल्वेक चिन्मात्र भावमात्मीय जानाति शेषांश्च सर्वानेव भावान् परकीयान् जानाति।"
समयसार/आत्मख्याति/गाथा, ३००

४ "जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नम्।" वही/कलश, ४३

५ "व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्।" न्यायदीपिका, १/३

६ "कि लक्खणम् ? जस्साभावे दव्वस्साभावो होदि त तस्स लक्खणं, जहा पोग्गलदव्वस्स रूवरसगधफासा, जीवस्स उवजोगो।" धवला ७/२, १, ५५

अतिरिक्त पुद्गलादि शेष द्रव्यो मे नही पाया जाता, जिसके कारण जीव पुद्गलादि द्रव्यो से भिन्न सिद्ध होता है, जिसके अभाव मे जीव की सत्ता नही रहती तथा जो जीव के दर्शनज्ञानादि समस्त गुणो एव देव-मनुष्यादि सभी पर्यायो मे विद्यमान रहता है। अत: यह जीव का नियतस्वलक्षण है। जीव मे अन्य भाव भी दिखाई देते हैं, जैसे शरीर, पुद्गलकर्म, मोहरागादि तथा केवलज्ञानादि, किन्तु ये जीव की सभी अवस्थाओ मे विद्यमान नही होते तथा इनके अभाव मे जीव का अभाव नही होता। उदाहरणार्थ, मनुष्यादि शरीर एव मोहरागादि भाव जीव की ससार पर्याय मे ही उपलब्ध होते हैं, मुक्तपर्याय मे नही, फिर भी मुक्तपर्याय मे जीव का अस्तित्व देखा जाता है। इसी प्रकार केवलज्ञानादि का मुक्तपर्याय मे ही सद्भाव होता है, संसारपर्याय मे नही, तथापि ससारपर्याय मे जीव की सत्ता विद्यमान रहती है। अत ये पदार्थ जीव के प्रतिनियत लक्षण सिद्ध नही होते। इसलिए इन्हे जीव सज्ञा नही दी जा सकती। एकमात्र शुद्धचैतन्यभाव ही जीव का प्रतिनियत लक्षण सिद्ध होता है, अत. उसी की जीव सज्ञा है। इसका स्पष्टीकरण आचार्य अमृतचन्द्र ने निम्नलिखित व्याख्यान मे किया है —

"आत्मनो हि समस्तशेषद्रव्यासाधारणत्वाच्चैतन्य स्वलक्षणम्। तत्तु प्रवर्तमान यद्यदभिव्याप्य प्रवर्तते, निवर्तमान च यद्यदुपादाय निवर्तते तत्समस्तमपि सहप्रवृत्त क्रमप्रवृत्त वा पर्यायजातमात्मेति लक्षणीय तदेकलक्षणलक्ष्यत्वात् समस्तसह-क्रमप्रवृत्तानन्तपर्यायाविनाभावित्वाच्चैतन्यस्य चिन्मात्र एवात्मा निश्चेतव्य इति यावत् ।"[1]

अर्थात् अपने अतिरिक्त समस्त शेष द्रव्यो मे उपलब्ध न होने के कारण 'चैतन्य' आत्मा का स्वलक्षण है। वह अपने समस्त गुण-पर्यायो मे व्याप्त होता है। चैतन्यस्वभावात्मक होने के कारण ही वे समस्त गुण और पर्याये आत्मा के गुण-पर्यायो के रूप मे पहचानी जाती हैं। अत उन समस्त गुणपर्यायो के समूह को आत्मा समझना चाहिये। चूँकि चैतन्यभाव का अस्तित्व गुणपर्यायो के रूप मे ही होता है, अत आत्मा चिन्मात्र ही है ऐसा निश्चय करना चाहिए।

इसी प्रकार अपने गुणरूप विशेष-स्वभावो मे असाधारणधर्म के रूप से व्याप्त होना मूलस्वभाव का लक्षण है। स्वभावभेद या प्रदेशभेद मौलिक भेद का लक्षण है[2] और स्वभावो या प्रदेशो की अभिन्नता मौलिक अभेद का।[3] इन नियत स्वलक्षणो के द्वारा निश्चयनय और व्यवहारनय के विषयो को सरलतया पहचाना जा सकता है।

---

१ समयसार/आत्मख्याति/गाथा, २९४

२ "पविभत्तपदेसत्त पुधत्तमिदि।" प्रवचनसार, २/१४
"प्रविभक्तप्रदेशत्व हि पृथक्त्वस्य लक्षणम् ।" वही/तत्त्वदीपिका, २/१४

३ "तद्भावो ह्येकत्वस्य लक्षणम्।" वही/तत्त्वदीपिका, २/१४

मूलपदार्थावलम्बिनी (द्रव्यार्थिक) दृष्टि से आत्मस्वरूप का निर्णय

समयसार की टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र ने स्पष्ट किया है कि जब हम जीव और पुद्‌गल की अनादि सयोगपर्याय को एक पदार्थ के रूप में देखते हैं तब जीव मनुष्यादिरूप भी दिखाई देता है, आस्रवमय (रागद्वेषमोहमय) भी दृष्टिगोचर होता है, पुण्यमय (शुभभावमय) भी प्रतीत होता है, पापमय (अशुभभावमय) भी परिलक्षित होता है, बन्धमय (कर्मबद्ध) भी दृष्टि मे आता है, सवररूप (रागद्वेष-मोहाभावरूप) भी दिखाई देता है, निर्जरारूप (शुद्धोपयोगरूप) भी अनुभव मे आता है और मोक्षमय (कर्ममुक्त) भी घटित होता है। इस प्रकार पर्यायाश्रित व्यवहारनय से देखने पर जीव की सप्ततत्त्वात्मक या नवपदार्थात्मक अवस्थाएँ[1] भूतार्थ सिद्ध होती हैं। किन्तु जब एकमात्र जीवद्रव्यरूप मूलपदार्थ को दृष्टि मे रखकर अवलोकन करते है तब जीव चैतन्यभावमात्र प्रतीत होता है, उसकी सप्ततत्त्वात्मक या नवपदार्थरूप अवस्थाएँ अनुभव मे नही आती। अत· निश्चयनय से अवलोकन करने पर ये अभूतार्थ सिद्ध होती है।[2]

अन्यत्र भी वे कहते है कि जो यह स्वत सिद्ध होने के कारण अनादि-अनन्त नित्यप्रकाशमान विशदज्योति ज्ञायकरूप एक पदार्थ है वह ससारावस्था मे अनादि बन्धपर्याय की दृष्टि से विचार करने पर कर्मपुद्‌गलो के साथ क्षीरनीरवत् अभिन्न दिखाई देता है, किन्तु जब द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा विचार करते हैं तब प्रतीत होता है कि कर्मोदयवश जो शुभाशुभभाव उत्पन्न होते हैं, ज्ञायकभाव उनके रूप मे परिवर्तित नही होता, ज्ञायक ही बना रहता है। अत समस्त शेष द्रव्यो से सदा भिन्न बने रहने के कारण उसे (ज्ञायकरूप आत्मा को) शुद्ध कहा जाता है।[3]

इस प्रकार मूलपदार्थावलम्बिनी निश्चयदृष्टि जीव को पुद्‌गलसयोग से अलग कर मूलरूप मे देखती है और तब इस निश्चय पर पहुँचती है कि जीव सप्ततत्त्वात्मक या नवपदार्थात्मक अवस्थाओ से सदा अलग रहनेवाला चिन्मात्र तत्त्व है।

---

१ 'नवपदार्थरूपेण वर्तनात्रवार्थ.।' पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका, गाथा ७१-७२

२ 'बहिर्दृष्ट्या नवतत्त्वान्यमूनि जीवपुद्‌गलयोरनादिबन्धपर्यायमुपेत्यैकत्वेनानुभूयमानताया भूतार्थानि। अथ चैकजीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि। ततोऽमीषु नव-तत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते।' समयसार/आत्मख्याति/गाथा, १३

३ 'यो हि नाम स्वत सिद्धत्वेनानादिरनन्तो नित्योद्योतोविशदज्योतिर्ज्ञायक एकोभाव· स ससारावस्थायामनादिबन्धपर्यायनिरूपणया क्षीरोदकवत् कर्मपुद्‌गलै· सममेकत्वेऽपि द्रव्यस्वभावनिरूपणया दुरन्तकषायचक्रोदयवैचित्र्यवशेन प्रवर्तमानाना पुण्यपाप-निर्वर्तकानामुपात्तवैश्वरूप्याणा शुभाशुभभावाना स्वभावेनापरिणमनात् प्रमत्तोऽप्रमत्तश्च न भवत्येष एवाशेषद्रव्यान्तरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमान· शुद्ध इत्यभिलप्येत।'
वही/गाथा, ६

मूलपदार्थावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से अवलोकन करने पर आत्मा का अबद्ध-स्पृष्ट, *अनन्य*, *नियत*, *अविशेष और असयुक्त रूप भी दृष्टिगोचर होता है। आचार्य* कुन्दकुन्द कहते है —

जो पस्सदि अप्पाण अबद्धपुट्ठ अणण्णय णियदं ।
अविसेसमसजुत्त त सुद्धणय वियाणीहि ।।[1]

अर्थात् जिस दृष्टि से देखने पर आत्मा अबद्धस्पृष्ट (कर्मो से अबद्ध) अनन्य, नियत, अविशेष और असयुक्त दिखाई देता है वह दृष्टि शुद्धनय है।

इसकी व्याख्या आचार्य अमृतचन्द्र ने इस प्रकार की है . जब आत्मा को अनादि कर्मबद्ध पर्याय की ओर से देखते है तब उसकी कर्मबद्धता यथार्थ प्रतीत होती है, किन्तु जब उसके उस चैतन्यस्वभाव पर ध्यान देते हैं जो पुद्गल के जड़स्वभाव से सदा अछूता रहता है तब कर्मबद्धता असत्य सिद्ध होती है।[2]

जिस समय आत्मा को देव, मनुष्य, नारक आदि पर्यायो के पक्ष से अनुभव करते है उस समय आत्मा के विभिन्न रूप सत्य ठहरते है, किन्तु जब उन पर्यायो मे व्याप्त एक चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि डालते है तब विभिन्न रूप मिथ्या सिद्ध होते है।[3]

जब गुणो की हीनाधिक अभिव्यक्तिरूप वृद्धिहानिपर्याय की दिशा से आत्मा का अवलोकन किया जाता है तब उसका अनियतत्व भूतार्थ प्रतीत होता है, परन्तु जब सदा व्यवस्थित (एक ही स्थिति मे) रहने वाले चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख होकर निरीक्षण करते है तब अभूतार्थ ठहरता है।[4]

जिस समय चैतन्यसामान्य के ज्ञानदर्शनादि विशेषों की ओर दृष्टि करके देखते हैं उस समय आत्मा का सविशेषत्व वास्तविक सिद्ध होता है, किन्तु जब ज्ञानदर्शनादि विशेषो मे व्याप्त चैतन्य रूप मूलस्वभाव पर दृष्टि डाली जाती है तब सविशेषत्व अभूतार्थ प्रमाणित होता है।[5]

---

१ समयसार/गाथा, १४

२ "तथात्मनोऽनादिबद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानताया बद्धस्पृष्टत्व भूतार्थमप्येकान्तत पुद्गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।"
वही/आत्मख्याति/गाथा, १४

३. "तथात्मनो नारकादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्व भूतार्थमपि सर्वतोऽप्यस्खलन्तमेकमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।" वही/आत्मख्याति/गाथा, १४

४. "तथात्मनो वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्व भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितात्मास्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।' वही/आत्मख्याति/गाथा, १४

५ "तथात्मनो ज्ञानदर्शनादिपर्यायेणानुभूयमानताया विशेषत्व भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।" वही/आत्मख्याति/गाथा, १४

जब आत्मा को कर्मनिमित्तक मोहरागात्मक पर्याय के द्वारा अनुभव करते हैं तब उसका मोहरागादि से सयुक्त होना वास्तविक सिद्ध होता है, परन्तु जब स्वत:-सिद्ध चैतन्यस्वभाव को दृष्टि मे रखकर विचार करते हैं तब वह असत्य ठहरता है।[१]

मूलस्वभावावलम्बिनी दृष्टि से आत्मस्वरूप का निर्णय

आत्मा के दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि गुणो या विशेषस्वभावो मे उसका शुद्ध चैतन्यरूप असाधारण स्वभाव ही समाया होता है, इसलिए वे सब चैतन्यस्वभावात्मक हैं। इसी कारण दर्शनज्ञानादि गुण आत्मा के असाधारण धर्म या नियतस्वलक्षण सिद्ध होते है।[२] इस प्रकार शुद्ध चैतन्यभाव ही आत्मा का मूल स्वभाव है। अत: मूलस्वभावावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से देखने पर आत्मा शुद्धचैतन्यरूप एकस्वभाववाला दिखाई देता है, दर्शनज्ञानादिरूप विशेषस्वभावात्मकता या अनेकस्वभावात्मकता असत्य ठहरती है। इसीलिए आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने पूर्वोद्धृत गाथा मे कहा है कि जिस दृष्टि मे आत्मा अविशेष (दर्शनज्ञानादि विशेषो से रहित) अर्थात् शुद्धचैतन्यरूप एकस्वभावात्मक दिखाई देता है, वही निश्चयदृष्टि है।[३]

इस मूलस्वभावावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का अनुसरण करके ही आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है —

"एकश्चित. चिन्मय एव भावो।"[४]

— चैतन्य (आत्मा) का तो एक चिन्मयस्वभाव ही है।

मौलिकभेदावलम्बिनी दृष्टि से आत्मस्वरूप का निर्णय

भिन्न वस्तुओ मे जो स्वभावभेद अथवा प्रदेशभेद (सत्ताभेद) होता है वह मौलिकभेद का लक्षण है। जहाँ स्वभावभेद है वहाँ प्रदेशभेद अवश्यम्भावी है, जहाँ प्रदेशभेद है वहाँ स्वभावभेद अनिवार्य है। इस मौलिक भेद का अवलम्बन करनेवाली निश्चयदृष्टि (निश्चयनय) का अनुसरण करते हुए जिनेन्द्रदेव ने परद्रव्य और आत्मा मे सभी प्रकार के सम्बन्धो का निषेध किया है, जैसा कि आचार्य अमृतचन्द्र के निम्नलिखित शब्दो से स्पष्ट है —

---

१. "तथात्मन. कर्मप्रत्ययमोहसमाहितत्वपर्यायेणानुभूयमानताया सयुक्तत्व भूतार्थमप्येकान्तत: स्वयंबोधबीजस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।"

समयसार/आत्मख्याति/गाथा, १४

२. "चेतनाया दर्शनज्ञानविकल्पानतिक्रमणाच्चेतयितृत्वमिव द्रष्टृत्व ज्ञातृत्व चात्मन स्वलक्षणमेव।" वही/गाथा, २९८-२९९

३ वही/गाथा, १४

४. वही/कलश, १८४

"नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।"[१]
"सर्वद्रव्याणा परैः सह तत्त्वतः सम्बन्धशून्यत्वात्।"[२]

समयसार की टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र जी बतलाते हैं कि एक वस्तु का दूसरी वस्तु से कोई सम्बन्ध नही है, क्योंकि दोनो के प्रदेश भिन्न-भिन्न होते हैं, इसलिए उनकी एक सत्ता नही हो सकती अर्थात् दो वस्तुएँ मिलकर एक वस्तु नहीं बन सकती।[३] जिनका स्वभाव अलग-अलग होता है उनका अस्तित्व भी अलग-अलग होता है अर्थात् वे अलग-अलग वस्तुएँ होती हैं · "स्वभावभेदाच्च वस्तुभेद एवेति।"[४] कोई वस्तु स्वतन्त्र वस्तु है, इसका निश्चय तभी होता है जब उसमे अपने स्वरूप की सत्ता तथा अन्य के स्वरूप की असत्ता (अभाव) सिद्ध हो . स्वरूप-पररूपसत्ताऽसत्ताभ्यामेकस्य वस्तुनो निश्चीयमानत्वात्।"[५]

शरीर और आत्मा में एकत्व का निषेध

मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का अनुसरण करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने अधोलिखित गाथा मे शरीर और आत्मा के एकत्व का निषेध किया है —

ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ।।[६]

अर्थात् व्यवहारनय (सश्लेषसम्बन्धावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि) के अनुसार कहा जाता है कि जीव और देह एक हैं, किन्तु निश्चयनय (मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि) से देखा जाय तो जीव और देह कभी एक पदार्थ नही हो सकते।

इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते है जैसे गलाकर मिश्रित किये गए सोने और चाँदी के पिण्ड मे एक पदार्थ का व्यवहार होता है वैसे ही आत्मा और शरीर एक क्षेत्र मे रहते हैं, इसलिए व्यवहारमात्र से उन्हे एक कहा जाता है, निश्चयनय से नही। निश्चयनय से देखने पर अर्थात् स्वभावगत भिन्नता पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि सोना पीतवर्ण है और चाँदी श्वेतवर्ण। इस प्रकार दोनो के स्वभावो मे अत्यन्त भिन्नता है, अत. उनका एक पदार्थ होना सिद्ध नही होता। इसी प्रकार आत्मा और शरीर के स्वभावगतभेद पर दृष्टिपात करने

१. समयसार/कलश, २००
२ प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका, ३/४
३ "न खल्वेकस्य द्वितीयमस्ति द्वयोर्भिन्नप्रदेशत्वेनैकसत्तानुपपत्ते ।"
समयसार/आत्मख्याति/गाथा, १८१-१८३
४ वही/आत्मख्याति/गाथा, १८१-१८३
५ वही/आत्मख्याति/गाथा, २०१-२०२
६ वही/गाथा, २७

से प्रतीत होता है कि आत्मा चेतनस्वभाव है और शरीर जड़स्वभाव। अत· दोनो के स्वभावों मे अत्यन्त भेद होने से उनका एकवस्तुत्व घटित नही होता। इसलिए उनमे भिन्नत्व ही है।[1]

आत्मा और कर्म में बद्धत्व या संश्लेष का निषेध

मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का अनुगमन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा के कर्मबद्ध या कर्मसंश्लिष्ट होने का भी निषेध किया है —

जीवे कम्म बद्ध पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिद ।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्म ।।[2]

अमृतचन्द्र सूरि ने इस गाथा के भाव को निम्नलिखित शब्दो मे समझाया है, "जीव ओर पुद्गलकर्म की सयुक्त बन्धपर्याय पर दृष्टि डालने से वे अभिन्न दिखाई देते है। इसलिए व्यवहारनय (सश्लेषसम्बन्धावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि) का अनुसरण करते हुए कहा जाता है कि जीव मे कर्म बद्धस्पृष्ट हैं। किन्तु जब उनके भिन्नवस्तुत्व पर दृष्टिपात किया जाता है तब वे एक दूसरे से बिल्कुल पृथक् दिखाई देते हैं। तब निश्चयनय (मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि) का अनुगमन करते हुए कहा जाता है कि जीव मे कर्म अबद्धस्पृष्ट हैं।"[3]

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चयनय के अवलम्बन द्वारा आत्मा के कर्मबद्ध होने का निषेध कर आत्मा की सत्ता मे परद्रव्य की सत्ता के अभाव की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।

जीव और पुद्गलकर्म के परस्परावगाहरूप सश्लेषसम्बन्ध को ही बन्ध कहते हैं।[4] अत निश्चयनय से बद्धत्व का निषेध निश्चयनय से सश्लेषसम्बन्ध का

---

१ "इह खलु परस्परावगाढावस्थायामात्मशरीरयो· समावर्तितावस्थाया कनककलधौतयो-रेकस्कन्धव्यवहारवद् व्यवहारमात्रेणैवैकत्व न पुनर्निश्चयत:। निश्चयतो ह्यात्मशरीरयो-रुपयोगानुपयोगस्वभावयो· कनककलधौतयो. पीतपाण्डुरत्वादिस्वभावयोरिवात्यन्त-व्यतिरिक्तत्वेनैकार्थत्वानुपपत्ते: नानात्वमेवेत्येव किल नयविभाग:।"
समयसार/आत्मख्याति/गाथा, २७

२ वही/गाथा, १४१

३ 'जीवपुद्गलकर्मणोरेकबन्धपर्यायत्वेन तदात्वे व्यतिरेकाभावाज्जीवे बद्धस्पृष्ट कर्मेति व्यवहारनयपक्ष·। जीवपुद्गलकर्मणोरनेकद्रव्यत्वेनात्यन्तव्यतिरेकाज्जीवेऽबद्धस्पृष्ट कर्मेति निश्चयनयपक्ष·।" वही/आत्मख्याति/गाथा, १४१

४. "एवं जीवपुद्गलयो· परस्परावगाहलक्षणसम्बन्धात्मा बन्ध: सिद्ध्येत्।"
वही/आत्मख्याति/गाथा, ६९-७०

निषेध है। व्यवहारनय (संश्लेषसम्बन्धावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि) से सश्लेषसम्बन्ध को वास्तविक बतलाया गया है।[1]

पर के साथ स्वस्वामिसम्बन्ध का निषेध

मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का अनुसरण करते हुए जिनेन्द्रदेव ने संसारी जीव मे दिखाई देनेवाले शरीर के वर्णादि भावो तथा पुद्‌गलकर्मनिमित्तक रागादिभावो के साथ जीव के स्वस्वामिसम्बन्ध का निषेध किया है। आचार्य कुन्दकुन्द इस पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं . "यद्यपि अरहन्तदेव ने जीव मे बन्धपर्याय से अवस्थित कर्म या नोकर्म (शरीर) के वर्ण को देखकर आधाराधेयसम्बन्ध के कारण 'यह जीव का वर्ण है' ऐसा उपचार से प्रज्ञापित किया है, तथापि (मौलिकभेदावलम्बी) निश्चयनय से विचार करने पर प्रतीत होता है कि जीव नित्य अमूर्त स्वभाववाला है एव उपयोग गुण (चैतन्यस्वभाव) के कारण शेष समस्त द्रव्यो से भिन्न है, अत· उसके कोई वर्ण नही है। इसी प्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, देह तथा सस्थान आदि को भी निश्चयद्रष्टा ऋषि (उपचारावलम्बी) व्यवहारनय से जीव का कहते है, (मौलिकअभेदावलम्बी) निश्चयनय से नही।[2] निश्चयनय से इन्हे जीव का क्यो नही कहा जा सकता, इसका व्याख्यान कुन्दकुन्ददेव ने इस प्रकार किया है —

"वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, सस्थान, सहनन, राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्वादि प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभाग-स्थान, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, सक्लेश-

---

१. "ननु वर्णादयो बहिरङ्गास्तत्र व्यवहारेण क्षीरनीरवत् सश्लेषसम्बन्धो भवतु ।"
समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, ५७

२ (क) पथे मुस्सत पस्सिदूण लोगा भणति ववहारी ।
मुस्सदि एसो पथो ण य पथो मुस्सदे कोई ।।
तह जीवे कम्माण णोकम्माण च पस्सिदु वण्ण ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहि ववहारदो उत्तो ।।
गंधरसफासरूवा देहो सठाणमाइया जे य ।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसति ।।
समयसार/गाथा, ५८-६०

(ख) 'तथा जीवे बन्धपर्यायेणावस्थित कर्मणो नोकर्मणो वा वर्णमुत्प्रेक्ष्य तात्स्थ्यात्त-दुपचारेण जीवस्यैष वर्ण इति व्यवहारतोऽर्हद्देवाना प्रज्ञापनेऽपि न निश्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणाधिकस्य जीवस्य कश्चिदपि वर्णोऽस्ति।'
वही/आत्मख्याति/गाथा, ५८-६०

स्थान, विशुद्धिस्थान, सयमलब्धिस्थान, जीवस्थान और गुणस्थान ये सभी पुद्गल के परिणाम (पुद्गलकर्मनिमित्तक) हैं। अतः चैतन्यलक्षण से शून्य होने के कारण इनके साथ जीव का तादात्म्यसम्बन्ध नही है अर्थात् जीव तद्रूप (वर्णादिरूप) नहीं है। इसलिए इन्हे निश्चयनय से जीव का नही कहा जा सकता।"[१]

तादात्म्यसम्बन्ध के लक्षण को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं · "जो धर्म वस्तु की सभी अवस्थाओ मे व्याप्त होता है, कोई भी अवस्था जिसकी व्याप्ति से रहित नही होती, उसके साथ वस्तु का तादात्म्यसम्बन्ध होता है। वर्णादिभाव जीव की संसारावस्था मे व्याप्त होते है, किन्तु मोक्षावस्था उनकी व्याप्ति से शून्य होती है, इसलिए वर्णादि के साथ जीव का तादात्म्यसम्बन्ध किसी भी प्रकार नही है।"[२] आचार्य कुन्दकुन्द एव आचार्य अमृतचन्द्र बतलाते हैं कि वर्णादिभावो के साथ जीव का वैसा ही एकक्षेत्रावगाह (सश्लेष) सम्बन्ध है जैसा दूध और पानी का होता है। जैसा अग्नि का उष्णता के साथ तादात्म्यसम्बन्ध होता है अर्थात् जैसे अग्नि उष्णतारूप ही होती है वैसा तादात्म्यसम्बन्ध वर्णादि के साथ जीव का नही है। क्योंकि जीव अपने चैतन्यरूप प्रतिविशिष्ट स्वभाव के कारण अन्य समस्त द्रव्यो से भिन्न है। इसलिए वर्णादिभाव जीव के नही हैं[३] अर्थात् वर्णादि भावो का

---

१ समयसार/गाथा, ५०-५५

२ *"यत्किल सर्वास्वप्यवस्थासु यदात्मकत्वेन व्याप्त भवति तदात्मकत्वव्याप्तिशून्य न भवति तस्य तै सह तादात्म्यलक्षण· सम्बन्ध स्यात्। तत. सर्वास्वप्यवस्थासु वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो, वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्याभवतश्च पुद्गलस्य वर्णादिभि· सह तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध स्यात्। ससारावस्थाया कथञ्चिद् वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्याभवतश्चापि मोक्षावस्थाया सर्वथा वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्याभवतश्च जीवस्य वर्णादिभि सह तादात्म्यलक्षण सम्बन्धो न कथञ्चनापि स्यात्।"*

वही/आत्मख्याति/गाथा, ६१

३ (क) एएहि य सबधो जहेव खीरोदय मुणेदव्वो ।
ण य हुति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ।।

वही/गाथा, ५७

(ख) "वर्णादिपुद्गलद्रव्यपरिणाममिश्रितस्यास्यात्मन· पुद्गलद्रव्येण सह परस्परावगाहलक्षणे सम्बन्धे सत्यपि स्वलक्षणभूतोपयोगगुणव्याप्यतया सर्वद्रव्येभ्योऽधिकत्वेन प्रतीयमानत्वाद् अग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावान्न निश्चयेन वर्णादिपुद्गलपरिणामाः जीवस्य सन्ति।"

वही/आत्मख्याति/गाथा, ५७

नाम जीव नही है।[१]

रागादिभाव भी जीव की ससारावस्था मे ही व्याप्त होते है, मोक्षावस्था उनकी व्याप्ति से रहित होती है। इसलिए उनके साथ भी जीव का तादात्म्यसम्बन्ध नही होता। अतः रागादिभाव भी जीव के भाव नही हैं, अर्थात् जीव नही हैं।[२]

आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्त जिन भावो का पूर्व मे कथन किया गया है वे सिद्धान्तग्रन्थो मे (उपचारावलम्बी) व्यवहार-नय से जीव के भाव कहे गये हैं, (मौलिकअभेदावलम्बी) निश्चयनय से नही।[३] इसे आचार्य अमृतचन्द्र ने इस प्रकार स्पष्ट किया है, "व्यवहारनय पर्यायाश्रित है। इसलिए वह जीव की पुद्गलसयोग से सिद्ध अनादि बन्धपर्याय के औपाधिक (नैमित्तिक) भावो का अवलम्बन कर प्रवृत्त होता है। अत· वह अन्य के भावो को अन्य का बतलाता है। किन्तु निश्चयनय द्रव्य पर आश्रित होता है। फलस्वरूप वह केवल जीव के स्वाभाविक भाव के आश्रय से प्रवृत्त होता है, इसलिए अन्य के भाव को अन्य का भाव बतलाये जाने का निषेध करता है।"[४]

स्वभावभेद के कारण जिनकी सत्ता ही जीव से सदा पृथक् रहती है वे न तो जीव के स्व हो सकते हैं, न जीव उनका स्वामी। जिनेन्द्रदेव ने निश्चयनय से स्वगुणपर्यायो के साथ ही जीव का स्वस्वामिसम्बन्ध बतलाया है, क्योंकि स्वधर्मो मे ही जीव का स्वभाव विद्यमान रहता है,[५] जिसके कारण उनकी सत्ता जीव की

---

१ 'ततो न वर्णादयो जीव इति निश्चयसिद्धान्त ।' समयसार/आत्मख्याति/गाथा, ६५-६६

२. (क) 'रागद्वेषमोह गुणस्थानान्यपि जीवस्य सर्वाण्यपि न सन्ति तादात्म्यलक्षण-सम्बन्धाभावात्।' वही/आत्मख्याति/गाथा, ५८-६०

(ख) 'एव रागद्वेषमोह लब्धिस्थानान्यपि पुद्गलकर्मपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतन-त्वात् पुद्गल एव न तु जीव इति स्वयमायातम्। ततो रागादयो भावा न जीव इति सिद्धम्।' वही/आत्मख्याति/गाथा, ६८

३ ववहारेण दु एदे जीवस्स हवति वण्णमादीया ।
गुणठाणता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ।। वही/गाथा, ५६

४ 'इह हि व्यवहारनय. किल पर्यायाश्रितत्वाज्जीवस्य पुद्गलसयोगवशादनादिप्रसिद्ध-बन्धपर्यायस्य कुसुम्भरक्तस्य कार्पासिकवासस इवौपाधिक भावमवलम्ब्योत्प्लवमान· परभाव परस्य विदधाति। निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात् केवलस्य जीवस्य स्वाभाविक भावमवलम्ब्योत्प्लवमान परभाव परस्य सर्वमेव प्रतिषेधयति। ततो व्यवहारेण वर्णादयो गुणस्थानान्ता भावा जीवस्य सन्ति, निश्चयेन तु न सन्तीति युक्ता प्रज्ञप्ति·।'
वही/आत्मख्याति/गाथा, ५६

५ 'यो हि यस्य स्वो भाव· स तस्य स्व·, स तस्य स्वामीति।'
वही/आत्मख्याति/गाथा, २०७

सत्ता से अभिन्न होती है। यह बात आचार्य अमृतचन्द्र ने निम्नोद्धृत व्याख्यान मे स्पष्ट की है —

"जिसे परद्रव्य और आत्मा के नियत स्वलक्षणो की भिन्नता का ज्ञान होता है वही ज्ञानी एक चिन्मात्रभाव को अपना समझता है, शेष समस्त भावो को पराया। ऐसा जानते हुए वह परभावो को 'ये मेरे है' यह कैसे कह सकता है ? पर और आत्मा मे निश्चयनय (मौलिक भेद की दृष्टि) से स्वस्वामिसम्बन्ध नही है। इसलिये चिद्भाव ही सर्वथा ग्राह्य है, शेष सभी भाव त्याज्य हैं।[1]

परद्रव्य के साथ जीव के स्वस्वामिसम्बन्ध का निश्चयनय से अभाव प्रतिपादित करने के लिए कुन्दकुन्ददेव ने एक सुन्दर युक्ति दी है। वे कहते हैं · "*ऐसा कौन ज्ञानी होगा जो यह कहे कि यह परद्रव्य मेरा द्रव्य है ? ज्ञानी तो निश्चितरूप से निजात्मा को ही अपना परिग्रह (स्व) मानता है।*[2] वह सोचता है कि यदि जड़ परद्रव्य मेरा परिग्रह हो तो उससे मेरे अभिन्न (तद्रूप) होने का प्रसग आयेगा, जिससे मै भी जड़ ठहरूँगा। किन्तु मै तो ज्ञाता हूँ, इसलिए जड़ द्रव्य मेरा परिग्रह (स्व) नही है।[3] मेरी अपनी वस्तु तो एकमात्र ज्ञायकभाव है। वही मेरा स्व है, उसी का मैं स्वामी हूँ।"[4] जीव को अपने नियतस्वलक्षण के द्वारा यह निर्णय करना चाहिये कि मेरे भीतर जो यह चैतन्यभाव है वही निश्चयनय से मै हूँ। इसके अतिरिक्त जितने भी भिन्न लक्षण वाले भाव मुझमे दिखाई देते हैं वे मुझसे भिन्न तत्त्व हैं, मै नही हूँ।"[5] यही बात आचार्य अमृतचन्द्र ने निम्नलिखित काव्य मे कही है —

---

१ "यो हि परात्मनोर्नियतस्वलक्षणविभागपातिन्या प्रज्ञया ज्ञानी स्यात् स खल्वेक चिन्मात्र भावमात्मीय जानाति शेषाश्च सर्वानेव भावान् परकीयान् जानाति। एवं च जानन् कथ परभावान् ममामी इति ब्रूयात् परात्मनोर्निश्चयेन स्वस्वामिसम्बन्धस्यासम्भवात् ? अत. सर्वथा चिद्भाव एव गृहीतव्य , शेषा: सर्वे एव भावा प्रहातव्या इति सिद्धान्त ।"
समयसार/आत्मख्याति/गाथा, ३००

२ को णाम भणिज्ज बुहो परदव्व मम इम हवदि दव्व ।
अप्पाणमप्पणो परिग्गह तु णियद वियाणतो ।। समयसार/गाथा, २०७

३. मज्झ परिग्गहो जइ तदो अहमजीवद तु गच्छेज्ज ।
णादेव अह जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झ ।। वही/गाथा २०८

४ "मम तु एको ज्ञायक एव भाव य· स्व अस्यैवाह स्वामी।"
समयसार/आत्मख्याति/गाथा २०८

५ पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अह तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा ।। समयसार/गाथा, २९७

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभि· सेव्यता
शुद्ध चिन्मयमेकमेव परम ज्योति सदैवास्म्यहम् ।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावा पृथग्लक्षणा·
तेऽह नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्य समग्रा अपि ।।[१]

अर्थात् जिनके चित्त का चरित्र उदात्त है उन मोक्षार्थियो को यह सिद्धान्त गाँठ में बाँधकर रख लेना चाहिये कि मैं सदैव एक ही शुद्ध चिन्मय परम ज्योति हूँ। ये जो पृथक् लक्षणवाले अन्य अनेक भाव मुझमे झलकते हैं वे मैं नही हूँ, क्योंकि वे सब मुझसे भिन्न द्रव्य है।

परभाव से कर्त्ता-कर्मसम्बन्ध का निषेध

द्रव्य का अपना परिणाम कर्म कहलाता है और उसका जन्मदाता द्रव्य उसका कर्त्ता, जैसा कि कहा गया है —

'य परिणमति स कर्त्ता य परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।'[२]

तथा

'ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयत.।'[३]

दूसरे शब्दो मे, पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य का नाम कर्त्ता है और उत्तरपर्याय से युक्त उसी द्रव्य का नाम कर्म —

पुव्वपरिणामजुत्त कारणभावेण वट्टदे दव्व ।
उत्तरपरिणामजुद त चिय कज्ज हवे णियमा ।।[४]

कर्त्ता-कर्म के यही नियत लक्षण हैं। अत कर्त्ता-कर्मभाव एक ही वस्तु मे होता है। इसीलिए आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है —

व्यावहारिकदृशैव केवल कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते ।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तृ कर्म चसदैकमिष्यते ।।[५]

अर्थात् व्यवहारनय से ही भिन्न वस्तुओ मे कर्त्ताकर्मभाव माना जाता है। यदि निश्चयनय से विचार किया जाय तो सदा एक ही वस्तु कर्त्ता और कर्म होती है।

---

१. समयसार/कलश, १८५
२. वही/कलश, ५१
३. वही/कलश, २११
४. कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा/गाथा, २२२
५. समयसार/कलश, २१०

'तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे।'[1]

— वस्तु भेद होने पर (भिन्न वस्तुओ मे) कर्त्ता-कर्मभाव सम्भव नही है।

इसलिए वस्तुभेदरूप मौलिक भेद का अवलम्बन करने वाली निश्चयदृष्टि का अनुसरण करते हुए जिनेन्द्रदेव ने जीव और पुद्गल मे कर्त्ता-कर्मभाव का निषेध किया है, जिसे आचार्य कुन्दकुन्द ने निम्नलिखित शब्दो मे प्रस्तुत किया है —

जे पुग्गलदव्वाण परिणामा होंति णाण आवरणा ।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ।।[2]

— पुद्गल द्रव्य के जो ज्ञानावरणादि परिणाम होते है उनका कर्त्ता आत्मा नही है, यह जो जानता है वह ज्ञानी है।

जीवो ण करेदि घड णेव पड णेव सेसगे दव्वे ।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसि हवदि कत्ता ।।[3]

— जीव न घट का कर्त्ता है, न पट का, न अन्य द्रव्यों का। उसके योग और उपयोग इनके निमित्तकर्त्ता होते है। इन योग और उपयोग का ही जीव कदाचित् (अज्ञानावस्था मे) कर्त्ता होता है।

जीवपरिणामहेदु कम्मत्त पुग्गला परिणमति ।
पुग्गलकम्मणिमित्त तहेव जीवो वि परिणमइ ।।
ण वि कुणइ कम्मगुणे जीवो कम्म तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणाम जाण दोह्लम्पि ।।[4]

— जीव के शुभाशुभ भावो के निमित्त से पुद्गल द्रव्य कर्मरूप मे परिणमित हो जाता है और पुद्गल कर्मों के निमित्त से जीव रागद्वेषमोहरूप मे परिणमित होता है। किन्तु, न तो जीव से पुद्गलकर्मो की उत्पत्ति होती है, न पुद्गलकर्मों से जीव के रागद्वेषमोह-परिणामो की। पुद्गलद्रव्य से ही पुद्गलकर्म उत्पन्न होते हैं और मोहरागद्वेष की उत्पत्ति जीव से ही होती है। जीव और पुद्गल इन कार्यों मे केवल एक-दूसरे के निमित्त बनते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र इस तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं — जैसे मिट्टी से मिट्टी के स्वभाववाला कलश ही उत्पन्न हो सकता है, वैसे ही जीव से जीव

---

१ समयसार/कलश, २०१
२ वही/गाथा, १०१
३ वही/गाथा, १००
४ वही/गाथा, ८०-८१

के स्वभाववाले कार्य की ही उत्पत्ति सम्भव है। इसलिए जीव स्वपरिणाम का ही कर्त्ता है। किन्तु, जैसे मिट्टी से भिन्नस्वभाववाला वस्त्र उत्पन्न नही हो सकता वैसे ही जीव से पुद्गल के स्वभाववाला कार्य उत्पन्न नही हो सकता। इससे सिद्ध है कि जीव पुद्गल के भावो का कर्त्ता कदापि नही है। अत यह स्थित होता है कि जीव का स्वपरिणामो के साथ ही कर्त्ताकर्मभाव और भोक्ताभोग्यभाव है।[१]

यत: एक ही वस्तु मे कर्त्ता-कर्मभाव होता है अत मौलिक-अभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का अनुसरण करते हुए जिनेन्द्रदेव ने आत्मा को आत्मभाव (स्वपरिणाम) का ही कर्त्ता और भोक्ता बतलाया है। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दो मे —

णिच्छयणयस्स एव आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।
वेदयति पुणो त चेव जाण अत्ता दु अत्ताण ।।[२]

—(कर्त्ताकर्मादि के नियत स्वलक्षण का अनुसरण करनेवाली) निश्चयदृष्टि से देखने पर यह निश्चय होता है कि आत्मा आत्मभाव का ही कर्त्ता है और आत्मभाव का ही भोक्ता।

परद्रव्य से भोक्ताभोग्यसम्बन्ध का निषेध

स्वभावभेद की अपेक्षा से ही केवलीभगवान् ने चेतन-अचेतन परद्रव्य के साथ जीव के भोक्ता-भोग्यसम्बन्ध का निषेध किया है। जीव चेतन है पुद्गल अचेतन। चेतन को अचेतन का स्पर्श नही हो सकता (उसमे व्याप्त नही हो सकता), तब भोग कैसे सम्भव है ? प्रदेशभेद के कारण एक जीव दूसरे जीव का भी स्पर्श नही कर सकता, इसलिए चेतन के द्वारा चेतन परद्रव्य का भी भोग सम्भव नही है। इस प्रकार मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि आत्मा को परद्रव्यभोक्ता के रूप मे नही पाती।

स्वभाव के साथ ही जीव का तादात्म्य होता है और उसी का भोग सम्भव होता है, जैसा कि कहा गया है . "जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्च।"[३] अत: मुक्त जीव अपने स्वभावोत्थ अतीन्द्रिय सुख का भोग

---

१ "मृत्तिकया कलशस्येव स्वेन भावेन स्वस्य भावस्य करणाज्जीव· स्वभावस्य कर्त्ता कदाचित् स्यात्। मृत्तिकया वसनस्येव स्वेन भावेन परभावस्य कर्तुमशक्यत्वात् पुद्गलभावाना तु कर्त्ता न कदाचिदपि स्यादिति निश्चय । तत स्थितमेतज्जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्च।"

समयसार/आत्मख्याति/गाथा, ८०-८२

२ वही/गाथा, ८३

३ वही/आत्मख्याति/गाथा ८०-८२

करता है तथा ससारी जीव शुभाशुभ कर्म तथा इष्टानिष्ट इन्द्रियविषयो के निमित्त से होनेवाले अपने सुख-दु:खरूप परिणामो का वेदन करता है। इसलिए जीव मौलिक-अभेदावलम्बी निश्चयनयरूप प्रमाणैकदेश से निजस्वभाव का ही भोक्ता है। आचार्य कुन्दकुन्द की निम्नलिखित गाथा इसमे प्रमाण है —

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताण ।।[1]

आचार्य जयसेन का भी ऐसा ही कथन है —

"शुद्धनिश्चयेन शुद्धात्मोत्थवीतरागपरमानन्दरूप-सुखस्य तथैवाशुद्ध-निश्चयेनेन्द्रियजनित-सुखदु.खाना भोक्तृत्वाद् भोक्ता भवति।"[2]

— जीव शुद्धनिश्चयनय से शुद्धात्मा से उत्पन्न वीतराग परमानन्दरूप सुख का तथा अशुद्धनिश्चयनय से इन्द्रियजनित सुख-दु:ख का भोग करने से भोक्ता है।

यद्यपि परद्रव्य के साथ तादात्म्य स्थापित न होने से आत्मा निश्चयनय से उसका भोक्ता नही है, तथापि उसके निमित्त से आत्मा का भोक्तास्वभाव (सुखदु ख-वेदन स्वभाव) परिणमित होता है तथा आत्मा के भोक्तास्वभाव के निमित्त से परद्रव्य का भोग्यस्वभाव (सुखदु खनिमित्तस्वभाव) परिणमित होता है। अत: इस निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण उपचारावलम्बी व्यवहारनय से जीव को परद्रव्य का भोक्ता तथा परद्रव्य को जीव का भोग्य कहा जाता है।[3]

पर से ग्रहण-त्यागसम्बन्ध का निषेध

मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का आश्रय लेकर जिनेन्द्रदेव ने आत्मा को परद्रव्य के ग्रहण-त्याग मे असमर्थ बतलाया है जिसका वर्णन आचार्य कुन्दकुन्द ने इस प्रकार किया है —

अत्ता जस्सामुत्तो ण हु सो आहारओ हवइ एव ।
आहारो खलु मुत्तो जह्मा सो पुग्गलमओ उ ।।
ण वि सक्कइ घित्तु ज ण विमोत्तु ज य ज परदव्व ।
सो को वि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वा वि ।।

---

१ समयसार/गाथा, ८३

२. पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा २७

३. (क) "कत्ता भोता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारो।" नियमसार/गाथा १८

(ख) "व्यवहारेण शुभाशुभकर्मसम्पादितेष्टानिष्टविषयाणा भोक्तृत्वाद् भोक्ता।"
पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा, २७

तह्मा उ जो विसुद्धो चेया सो णेव गिण्हए किंचि ।
णेव विमुचइ किंचिवि जीवाजीवाण दव्वाण ।।[१]

— आत्मा आहारक नही है, क्योंकि आहार पुद्‌गलमय होने से मूर्त है और आत्मा अमूर्त है। जो परद्रव्य है (जिसकी सत्ता आत्मा से पृथक् है) उसे ग्रहण करने या छोड़ने की शक्ति आत्मा मे नही है, न स्वभाव से, न कर्मोदय के प्रभाव से। अत. समस्त परद्रव्यो से भिन्न होने के कारण आत्मा जीव या अजीव किसी भी परद्रव्य को न ग्रहण करता है, न त्यागता है।

श्री अमृतचन्द्र सूरि ने भी उपर्युक्त निश्चयनय का अनुसरण करते हुए आत्मा को आहारादि परद्रव्य के आदान और विसर्जन से शून्य बतलाया है

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियत बिभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमल ज्ञान तथावस्थितम् ।[२]

— यह रागादिमल से रहित ज्ञानस्वरूप आत्मा परद्रव्यो से भिन्न है, स्वय मे नियत है तथा पृथक् वस्तुत्व धारण करता है, इसलिए न तो परद्रव्य का ग्रहण करता है, न विसर्जन।

निश्चयनय से परद्रव्य का ग्रहण तब कहलायेगा जब आत्मा उससे तन्मय हो जाय (परद्रव्यरूप हो जाय), किन्तु भिन्न द्रव्य होने के कारण ऐसा होता नही है।[३] इसलिए मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि उसे परद्रव्य-ग्राहक के रूप मे नही पाती। परद्रव्य ग्राहकत्व के अभाव मे परद्रव्य-त्याजकत्व का भी अभाव हो जाता है।

तथापि जीव रागादि के वशीभूत होकर शरीर के साथ परद्रव्य का सश्लेष या सयोग होने के अनुकूल उपयोग (इच्छा) और तज्जन्य योग (शारीरिक व्यापार को प्रेरित करने वाली आत्मप्रदेश-परिस्पन्दरूप चेष्टा)[४] करता है, जिससे शरीर के साथ इच्छित पदार्थ का सयोग या सश्लेष होता है। इसे ही उपचार से परद्रव्य का ग्रहण कहते है।[५] इसी प्रकार सश्लिष्ट या सयुक्त पदार्थ के वियुक्त होने-योग्य

---

१ समयसार/गाथा, ४०५-४०७

२ समयसार/कलश २३५

३ "नत्वनेकद्रव्यत्वेन ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेण तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वव्यवहार ।" समयसार/आत्मख्याति/गाथा ३४९-३५५

४ "योगोपयोगयोस्त्वात्मविकल्पव्यापारयो कदाचिदज्ञानेन करणादात्मापि कर्तास्तु।"
वही/आत्मख्याति/गाथा १००

५. "सश्लेषरूपेण व्यवहारनयेन गृह्णाति।" वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ३४९-३५५

योग और उपयोग करता है, जिसके निमित्त से वियोग घटित होता है। इसे उपचार से परद्रव्य का त्याग कहते हैं। इस तरह उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि आत्मा को परद्रव्य के ग्राहक और त्याजक के रूप मे पाती है। किन्तु मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से यह असत्य ठहरता है।

आत्मा का तादात्म्य स्वपरिणाम (स्वपर्याय) से होता है। उसी मे वह प्रवृत्त (व्याप्त) होता है और उसी से निवृत्त होता है। अत: मौलिक-अभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि मे आत्मा स्वपरिणाम के ही ग्राहक और त्याजक के रूप मे प्रतिबिम्बित होता है। इसके अनुसार आत्मा की जो परद्रव्येच्छारूप परिणाम में प्रवृत्ति और उससे निवृत्ति होती है उन्हे उपचार (उपचारावलम्बी व्यवहारनय) से परद्रव्य का ग्रहण और त्याग कहा जाता है।

परद्रव्य से निमित्तनैमित्तिकसम्बन्ध का निषेध

पुद्गल कर्मो के निमित्त से जीव रागद्वेषमोहरूप मे परिणमित होता है और जीव के रागद्वेषमोहपरिणाम के निमित्त से पुद्गलद्रव्य कर्मरूप मे परिणमित होता है। जब इस बाह्य सम्बन्ध पर ध्यान देते हैं अर्थात् परद्रव्यसम्बन्धावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि से अवलोकन करते है तब जीव और पुद्गल के निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध की सत्यता का बोध होता है।[१] किन्तु, जब दोनो के भिन्न-भिन्न स्वभावो पर दृष्टि डालते हैं अर्थात् मौलिक-भेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से देखते हैं तब निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध का कोई लक्षण दिखाई नही देता, सर्वथा असम्बन्ध ही दृष्टिगोचर होता है। जहाँ स्वभाव अलग-अलग दिखाई दे रहे हो, जहॉ प्रदेश अलग-अलग दिखाई दे रहे हो वहॉ कोई सम्बन्ध कैसे दिखाई दे सकता है ? इसीलिए अरहन्तदेव ने परद्रव्य और आत्मा मे किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को निश्चयदृष्टि से असत्य बतलाया है, जैसा कि आचार्य अमृतचन्द्र की अधोलिखित उक्तियो से स्पष्ट है . 'नास्तिसर्वोऽपि सम्बन्ध· परद्रव्यात्मतत्त्वयो:'[२] तथा 'एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्धं सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्ध:।'[३]

---

१. (क) "निमित्तनैमित्तिकभावमात्रस्याप्रतिषिद्धत्वादितरेतरनिमित्तमात्रीभवनेनैव द्वयोरपि परिणाम.।" समयसार/आत्मख्याति/गाथा, ८०-८२

(ख) "तदेव व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठ: सम्बन्ध सयोग-समवायादिवत् प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव न पुन· कल्पनारोपित. सर्वथाप्यनवद्यत्वात् ।" तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १/७

२. समयसार/कलश, २००

३ वही/कलश, २०१

पर के साथ ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध का निषेध

परद्रव्य और आत्मा भिन्न वस्तुएँ हैं। उनमे स्वभावभेद है, प्रदेशभेद है। इस मौलिक भेद पर ध्यान देने से अर्थात् मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से देखने पर उनमे भिन्नता ही दिखाई देती है, कोई सम्बन्ध दिखाई नही देता। इसलिए **ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध** के भी दिखाई देने का प्रश्न नही उठता। जैसा कि कहा गया है — "**नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः**"[१] — परद्रव्य और आत्मा मे कोई भी **सम्बन्ध नही** होता। अथवा परद्रव्यो को जानते समय आत्मा परद्रव्यरूप से परिणमित (तन्मय) नही होता, स्वरूप मे ही स्थित रहता है, इसलिए मौलिकरूप से भिन्न रहने के कारण मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से उनमे ज्ञेयज्ञायकरूप सम्बन्ध घटित नही होता। यह आशय आचार्य जयसेन ने निम्नलिखित शब्दो मे प्रकट किया है —

"ज्ञान ज्ञेय वस्तु जानाति तथापि धवलकुड्ये श्वेतमृत्तिकावन्निश्चयेन तन्मय न भवति।"[२]

"ज्ञानमात्मा घटपटादिज्ञेयपदार्थस्य निश्चयेन ज्ञायको न भवति तन्मयो न भवतीत्यर्थ·। तर्हि किं भवति ? ज्ञायको ज्ञायक एव स्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थ ।"[३]

— जैसे चूना दीवार को सफेद करते हुए भी दीवार से तन्मय नही होता (दीवार मे परिवर्तित नही होता) इसलिए दीवार को निश्चयनय से सफेद नही करता, वैसे ही ज्ञान ज्ञेय को जानता है, तो भी उससे तन्मय नही होता (ज्ञेयरूप मे परिणत नही होता), इसलिए उसे निश्चयनय से नही जानता।

— ज्ञानस्वरूप आत्मा घटपटादि ज्ञेय पदार्थो का निश्चयनय से ज्ञायक नही है, इसका अभिप्राय यह है कि वह उनसे तन्मय नही होता। तो क्या होता है ? ज्ञायक ज्ञायक ही रहता है अर्थात् अपने स्वरूप मे स्थित रहता है।

इस प्रकार परद्रव्यो को जानते हुए भी आत्मा उनसे भिन्न बना रहता है, अत· मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से देखने पर उनमे ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध का अभाव ही दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए जिनेन्द्रदेव ने केवली भगवान् के निश्चयनय से सर्वज्ञ होने का निषेध किया है।

किन्तु जैसे दर्पण मे मुखादि की छाया पड़ती है, वैसे ही ज्ञान मे परद्रव्यो

---

१ समयसार/कलश, २००

२ वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ३५६-३६५

३ वही

के आकार प्रतिबिम्बित होते है,[१] जिन्हे ज्ञेयाकार कहते हैं।[२] ज्ञेयाकारमय ज्ञान के साथ आत्मा का तादात्म्य या अभेद होता है, इसलिए उसके साथ आत्मा का साक्षात् ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध घटित होता है। अत: अपनी ज्ञेयाकारात्मक ज्ञानपर्याय को जानने से आत्मा को परद्रव्यो का ज्ञान होता है। इसे आचार्य अमृतचन्द्र ने इस प्रकार स्पष्ट किया है —

"ननु कुत आत्मनो द्रव्यज्ञानरूपत्व द्रव्याणा च आत्मज्ञेयरूपत्व च ? परिणामसम्बन्धत्वात् । यत: खलु आत्मद्रव्याणि च परिणामै: सह सम्बन्ध्यन्ते, तत आत्मनो द्रव्यालम्बनज्ञानेन द्रव्याणा तु ज्ञानमालम्ब्य ज्ञेयाकारेण परिणतिरबाधिता प्रथ्यते।"[३]

इसका भाव यह है कि द्रव्यो के निमित्त से आत्मा का ज्ञानस्वभाव द्रव्यज्ञानरूप से परिणमित होता है तथा आत्मा के ज्ञानस्वभाव के निमित्त से द्रव्य अपने ज्ञेयस्वभावरूप से परिणमित होते है। इस परस्परावलम्बित निमित्तनैमित्तिक परिणाम के द्वारा परद्रव्य और आत्मा मे ज्ञेय-ज्ञायक-सम्बन्ध घटित होता है।

इस प्रकार चूँकि परद्रव्यो के निमित्त से ज्ञान की ज्ञेयाकारात्मक अवस्था होती है और उस अवस्था के ज्ञान से आत्मा को परद्रव्यो का ज्ञान होता है, इसलिए निमित्तनैमित्तिक बाह्य सम्बन्ध के द्वारा केवली भगवान् परद्रव्यो को जानते हैं। अत: जब हम बाह्यसम्बन्धावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि से देखते हैं, तभी केवली भगवान् के समस्त परद्रव्यो के ज्ञायक होने का सत्य दृष्टिगोचर होता है। इसी अभिप्राय से केवली भगवान् को व्यवहारनय से सर्वज्ञ कहा गया है —

जाणदि पस्सदि सव्व ववहारणएण केवली भगव ।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाण ।।[४]

— केवली भगवान् व्यवहारनय से समस्त परद्रव्यो को जानते हैं (अर्थात् व्यवहारनय से सर्वज्ञ हैं)। निश्चयनय से आत्मा को ही जानते हैं (अर्थात् निश्चयनय से आत्मज्ञ ही हैं)।

यहाँ केवली भगवान् को व्यवहारनय से सर्वज्ञ कहकर निश्चयनय से सर्वज्ञ होने का निषेध किया गया है। निश्चयनय से उन्हे आत्मज्ञ बतलाया गया है, क्योंकि

---

१ "नीलपीतादिबहि पदार्था आदर्शे बिम्बवत् परिच्छित्त्याकारेण ज्ञाने प्रतिफलन्ति।"
प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति, १/२६

२ "नैमित्तकभूतज्ञेयाकारान् आत्मस्थान् अवलोक्य सर्वेऽर्थास्तद्गता इत्युपचर्यन्ते।"
वही/तत्त्वदीपिका, १/२६

३. वही, १/३६

४. नियमसार/गाथा, १५९

आत्मा का स्वपर्याय के साथ अभेद (तादात्म्य) होता है, अत वह निजपर्याय को तन्मय होकर जानता है। फलस्वरूप अभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से अवलोकन करने पर स्वयं के साथ ही आत्मा का ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध निश्चित होता है। यत केवली भगवान् की स्वकीय ज्ञानपर्याय सर्वज्ञेयाकारमय होती है, इसलिए आत्मज्ञता मे सर्वज्ञता गर्भित है, किन्तु जब उनके लिए 'सर्वज्ञ' शब्द का प्रयोग किया जाता है तब वह व्यवहारनय से ही उपपन्न होता है।

पर से श्रद्धेय-श्रद्धानकारकसम्बन्ध का निषेध

जीवादिपरद्रव्य के निमित्त से आत्मा का श्रद्धानस्वभाव जीवादिश्रद्धानरूप से परिणमित होता है, किन्तु आत्मा जीवादि परद्रव्यरूप से परिणमित (तन्मय) नही होता, इसलिए परद्रव्य से भिन्न रहने के कारण मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से आत्मा और परद्रव्य मे श्रद्धेय-श्रद्धानकारक सम्बन्ध सिद्ध नही होता।[1] जीवादि परद्रव्य के निमित्त से होने वाले अपने श्रद्धानपरिणाम से ही आत्मा तन्मय होता है, अत· मौलिक-अभेदावलम्बी निश्चयनय दर्शाता है कि आत्मा स्वय का ही श्रद्धानकारक है और स्वय ही श्रद्धेय। तथापि जीवादिपरद्रव्य और आत्मा के जीवादिश्रद्धानरूप परिणाम मे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होता है, उसके कारण उपचारावलम्बी व्यवहारनय से जीवादिपरद्रव्य को 'श्रद्धेय' शब्द से तथा आत्मा को 'जीवादि-श्रद्धानकारक' शब्द से अभिहित किया जाता है।[2]

पर से साध्यसाधकसम्बन्ध का निषेध

यत· आत्मा भिन्न द्रव्य के रूप मे परिणमित (तन्मय) नही हो सकता अथवा भिन्नद्रव्य से उसका प्रदेशात्मक अभेद नही हो सकता, उनमे दूरी ही बनी रहती है, इसलिए मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से परीक्षण करने पर परद्रव्य के साथ आत्मा का मोक्षविषयक साध्यसाधकभाव उपपन्न नही होता। अत जिनेन्द्रदेव ने उक्त निश्चयनय का आश्रय लेकर परद्रव्य के साथ जीव के साध्य-साधक सम्बन्ध का अभाव प्रतिपादित किया है।

आत्मा स्वय सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणमित होकर सिद्धावस्था प्राप्त करता है। सम्यग्यदर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणमन साधकभाव है तथा सिद्धत्वरूप परिणमन साध्यभाव। आत्मा इन दोनो पर्यायो से तन्मय होता है, इसलिए मौलिक अभेद पर आश्रित निश्चयनय से देखने पर वह स्वय ही साध्य और स्वय ही साधक

---

१. "तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शन श्रद्धेयस्य बहिर्भूतजीवादिपदार्थस्य निश्चयनयेन श्रद्धान-कारकं न भवति, तन्मय न भवतीत्यर्थ ।" समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ३५६-३६५

२. "जीवादिकं परद्रव्य व्यवहारेण श्रद्दधाति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति।" वही

सिद्ध होता है। इस तथ्य की मीमासा करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं —

"आत्मवस्तु ज्ञानमात्र है, तो भी उसमें उपायभाव और उपेयभाव विद्यमान हैं, क्योंकि वह एक होते हुए भी साधक और सिद्ध उभयरूप मे परिणमित होता है। इनमे जो साधकरूप है वह उपाय है और जो सिद्धरूप है वह उपेय। आत्मा अनादिकाल से मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अचारित्र के वशीभूत हो स्वरूप से च्युत होकर ससरण करता है। वह जब व्यवहार-सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्र को सुनिश्चलरूप से ग्रहण करता है तब उसके पाकप्रकर्ष की परम्परा से क्रमशः स्वरूप मे आरूढ़ होता है और अन्तर्मग्न (स्वात्माश्रित) निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की विशेषता से साधक-रूप मे परिणमित होता है। तथा जब स्वात्माश्रित रत्नत्रय परमप्रकर्ष पर पहुँचता है तब समस्त कर्मों का क्षय कर निर्मल परमात्मस्वभाव की प्राप्ति द्वारा स्वय सिद्धरूप मे परिणमित होता है। इस प्रकार एक ही ज्ञान उपाय और उपेय भावो को साधता है।"

उक्त आशय को व्यक्त करने वाले आचार्य अमृतचन्द्र के शब्द इस प्रकार है —

"आत्मवस्तुनो हि ज्ञानमात्रत्वेऽप्युपायोपेयभावो विद्यत एव। तस्यैकस्यापि स्वयसाधकसिद्धोभयपरिणामित्वात्। तत्र यत्साधकं रूप स उपायः। यत्सिद्ध रूपं स उपेय.। अतोऽस्यात्मनोऽनादिमिथ्यादर्शनज्ञानाचारित्रै स्वरूपप्रच्यवनात्संसरत· सुनिश्चलपरिगृहीतव्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपाकप्रकर्षपरम्परया क्रमेण स्वरूप-मारोप्यमाणस्यान्तर्मग्ननिश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रविशेषतया साधकरूपेण तथा परम-प्रकर्षमकरिकाधिरूढरत्नत्रयातिशयप्रवृत्तसकलकर्मक्षयप्रज्वलितास्खलितविमल-स्वभावभावतया सिद्धरूपेण च स्वय परिणममानज्ञानमात्रमेकमेवोपायोपेयभाव साधयति।"[१]

आचार्यद्वय अमृतचन्द्र एव जयसेन ने मौलिकअभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का आश्रय लेकर स्वय के साथ ही आत्मा के मोक्षविषयक साध्य-साधक भाव को अभेदषट्कारक के रूप मे इस प्रकार प्रतिपादित किया है —

"आत्मा स्वतन्त्ररूप से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मे परिणमन करता है, अतः स्वय कर्त्ता होता है। स्वयं सिद्धपर्यायरूप परिणाम को प्राप्त होता है, अत· स्वय कर्म बनता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से साधक बनकर सिद्धपर्याय को साधता है, इसलिए स्वय करण का रूप धारण करता है। उपलब्ध सिद्धपर्याय स्वय को प्रदान कर स्वय को सन्तुष्ट करता है, इस तरह स्वयं ही सम्प्रदान मे परिणत

---

१. समयसार/स्याद्वादाधिकार/पृ० ५३१

हो जाता है। पूर्वप्रवृत्त मत्यादिज्ञानविकल्पो का अपगम होने पर सहजज्ञानस्वभाव के रूप मे ध्रुव रहता है, अतः स्वय अपादानभाव को प्राप्त होता है। अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव का स्वय आधार होने से स्वय अधिकरण है।''[१]

आचार्य अमृतचन्द्र परद्रव्य के साथ आत्मा के षट्कारकात्मक साध्य-साधक सम्बन्ध का निषेध करते हुए लिखते हैं —

"स्वयमेव षट्कारकीरूपेणोपजायमान·, उत्पत्तिव्यपेक्षया द्रव्यभावभेदभिन्न-घातिकर्माण्यपास्य स्वयमेवाविर्भूतत्वाद्वा स्वयम्भूरिति निर्दिश्यते। अतो न निश्चयत· परेण सहात्मन. कारकत्वसम्बन्धोऽस्ति।''[२]

— स्वय ही षट्कारकरूप से परिणत होने के कारण अथवा उत्पत्ति की अपेक्षा द्रव्यकर्म और भावकर्म इन दो प्रकार के घाती कर्मो का विनाशकर स्वयमेव आविर्भूत होने से आत्मा स्वयम्भू कहलाता है। अत निश्चयनय से परद्रव्य के साथ आत्मा का कारकात्मक सम्बन्ध नही है।

पर के साथ आधाराधेयसम्बन्ध का निषेध

मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का अनुसरण करते हुए अरहन्तदेव ने आत्मा और परद्रव्य मे आधाराधेय सम्बन्ध का भी अभाव बतलाया है। इस पर प्रकाश डालते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते है —

"न खल्वेकस्य द्वितीयमस्ति द्वयोर्भिन्नप्रदेशत्वेन एकसत्तानुपपत्ते·। तदसत्त्वे च तेन सहाधाराधेयसम्बन्धोऽपि नास्त्येव। तत. स्वरूपप्रतिष्ठत्वलक्षण एवाधाराधेय सम्बन्धोऽवतिष्ठते।''[३]

—एक वस्तु मे दूसरी वस्तु की सत्ता नही है, क्योंकि दोनो के प्रदेश परस्पर भिन्न है, इसलिए उनकी एक सत्ता की उपपत्ति नही होती। एकसत्तात्मक न होने से उनमे आधाराधेयसम्बन्ध भी नही है। वस्तु स्वरूप मे ही स्थित होती है, अत स्वरूप के ही साथ उसका आधाराधेय सम्बन्ध घटित होता है।

पुद्गलकर्मनिमित्तक रागादिभावों के साथ आत्मा के उक्त सम्बन्ध का निषेध करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं —

उवओए उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो ।
कोहे कोहो चेव ही उवओगे णत्थि खलु कोहो ।।

---

१. प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका एव तात्पर्यवृत्ति १/१६

२. वही/तत्त्वदीपिका १/१६

३. समयसार/आत्मख्याति/गाथा, १८१-१८३

अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो ।
उवओगम्हि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ।।[1]

— चैतन्यपरिणामभूत दर्शनज्ञानरूप उपयोग, उपयोग मे ही स्थित है, क्रोधादि भावो मे नही, और क्रोध की सत्ता क्रोध मे ही है, उपयोग मे नही। आठ प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्मों मे तथा शरीरादि नोकर्मो मे भी उपयोग स्थित नही है और उपयोग मे इन कर्म-नोकर्मो का अस्तित्व नही है। कारण यह है कि इनके स्वरूप अत्यन्त विपरीत हैं, अत: इनमे परमार्थत: आधाराधेयसम्बन्ध नही है।[2]

आत्मा का स्वरूप के साथ तादात्म्य होता है, इसलिए मौलिक-अभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से देखने पर स्वरूप आधेय के रूप मे और आत्मा उसके आधार के रूप मे दृष्टिगोचर होता है।

तथापि बाह्यसम्बन्धावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि से प्राप्त ज्ञान के अनुसार परद्रव्य के साथ आत्मा का आधाराधेय सम्बन्ध होता है। इसका निरूपण अगले अध्याय मे किया जायेगा।

इस प्रकार मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि (निश्चयनय) से अवलोकन करने पर निश्चित होता है कि परद्रव्य से आत्मा किसी भी प्रकार सम्बद्ध नही है, न स्वस्वामिभावरूप से, न कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण, इन षट्कारको के रूप मे। निश्चयदृष्टि से वह परद्रव्यो से सर्वथा पृथक् दिखाई देता है।

मौलिक-अभेदावलम्बिनी दृष्टि से आत्मस्वरूप का निर्णय

वस्तु और उसके गुणपर्यायरूप धर्मो मे प्रदेश (सत्ता) की अपेक्षा अभेद है, किन्तु सज्ञा (नाम), सख्या, लक्षण और प्रयोजन की दृष्टि से भिन्नता (अन्यत्व) है। जैसे जीव और उसके दर्शनज्ञानादि गुणो के प्रदेश पृथक्-पृथक् नही हैं, वे (जीव और दर्शनज्ञानादि गुण) एक ही वस्तु है, तथापि उनमे सज्ञादि की अपेक्षा भिन्नता है। यथा, जीवद्रव्य की सज्ञा 'जीव' है और ज्ञानगुण की सज्ञा 'ज्ञान'। यह सज्ञा की दृष्टि से भेद है। जो चतुर्विध प्राणो से जीता है, जियेगा और और जीता था, वह जीव है तथा जिसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान होता है वह ज्ञान है। यह लक्षण की अपेक्षा अन्यत्व है। अविनश्वर रहते हुए बन्धमोक्षादि-पर्यायरूप से परिणमित होना जीवद्रव्य का प्रयोजन है और पदार्थों को जानना ज्ञानगुण का

---

१ समयसार/गाथा १८१-१८२

२ "न च ज्ञाने क्रोधादय· कर्म नोकर्म वा सन्ति परस्परमत्यन्त स्वरूपवैपरीत्येन परमार्थाधाराधेयसम्बन्ध-शून्यत्वात् ।" वही/आत्मख्याति/गाथा १८१-१८३

प्रयोजन है। यह प्रयोजनगत भेद है। इसी प्रकार दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि गुणो मे एक ही जीवद्रव्य व्याप्त होता है, किन्तु एक जीवद्रव्य मे, दर्शन, ज्ञान आदि अनेक गुण अन्तर्मग्न होते हैं। यह संख्या की दृष्टि से भेद है।[1]

यह संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन का भेद बाह्य भेद है। मूलत वस्तु और उसके धर्मों में अभेद है, क्योंकि उनके स्वभाव, प्रदेश या सत्ता अभिन्न होती है। स्वभावगत अभेद, प्रदेशगत अभेद, सत्तागत अभेद अथवा वस्तुरूप अभेद ये सब मौलिक अभेद के नामान्तर है।

मौलिक-अभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि (निश्चयनय) का अनुसरण करते हुए अरहन्तदेव ने धर्म और धर्मी, गुण और गुणी, पर्याय और पर्यायी, कर्त्ता और कर्म आदि मे भिन्नत्व का निषेध किया है और एकत्व दर्शाया है। अर्थात् धर्म और धर्मी आदि अलग-अलग वस्तु न होकर एक ही वस्तु के अलग-अलग नाम है, यह उपदेश दिया है। दूसरे शब्दो मे जीवादि द्रव्यो को एकत्वमय, अद्वैत या अखण्ड बतलाया है।

धर्म-धर्मी में भिन्नत्व का निषेध

आचार्य कुन्दकुन्द ने उपर्युक्त निश्चयनय का अवलम्बनकर आत्मा से दर्शनज्ञानचारित्रादि धर्मो के भिन्न होने का निषेध इन शब्दो मे किया है —

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दसण णाण ।
णवि णाण ण चरित्त ण दसण जाणगो सुद्धो ।।[2]

— आत्मा मे दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है, इस प्रकार धर्म और धर्मी मे भिन्नता दर्शानेवाला वर्णन व्यवहारनय से किया जाता है। निश्चयनय से न दर्शन आत्मा से स्वतन्त्र वस्तु है, न ज्ञान, न चारित्र, अपितु दर्शन भी आत्मा ही है, ज्ञान भी आत्मा ही है, चारित्र भी आत्मा ही है। अत· मात्र आत्मा (ज्ञायक) ही एक स्वतन्त्र वस्तु है।

---

१ "सज्ञादि . सज्ञासख्यालक्षणप्रयोजनानि। गुणगुणीति सज्ञा नाम। गुणा अनेके गुणीत्वेक इति सङ्ख्याभेद । सद्द्रव्यलक्षण, द्रव्याश्रयानिर्गुणा गुणा इति लक्षणभेद । द्रव्येण लोकमान क्रियते, गुणेन द्रव्य ज्ञायते इति प्रयोजनभेद । यथा जीवद्रव्यस्य जीव इति सज्ञा। ज्ञानगुणस्य ज्ञानमिति सज्ञा। चतुर्भि· प्राणैर्जीवति, जीविष्यति अजीवद् इति जीवद्रव्यलक्षणम्। ज्ञायते पदार्थ अनेनेति ज्ञानमिति ज्ञानगुणलक्षणम्। जीवद्रव्यस्य बन्धमोक्षादिपर्यायैरविनश्वररूपेण परिणमन प्रयोजनम्। ज्ञानगुणस्य पुन पदार्थपरिच्छित्तिमात्रमेव प्रयोजनमिति।" आलापपद्धति/टिप्पण/सूत्र, ११२

२ समयसार/गाथा, ७

यही भाव उन्होने निम्नलिखित गाथा मे अभिव्यक्त किया है —

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाण चेव णिच्छयदो ।।[1]

—साधु को सदा दर्शन, ज्ञान और चारित्र की उपासना करनी चाहिए, किन्तु निश्चयनय से ये तीनो एक अखण्ड आत्मा ही हैं, यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए।

इसे आचार्य अमृतचन्द्र ने इस प्रकार स्पष्ट किया है — "जैसे किसी देवदत्त नामक पुरुष के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण देवदत्त के स्वभाव से भिन्न न होने के कारण देवदत्त ही हैं, अन्य वस्तु नही, वैसे ही आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और आचरण भी आत्मस्वभाव से पृथक् न होने के कारण आत्मा ही हैं, अन्य वस्तु नही। इसलिए 'साधु को नित्य दर्शनज्ञानचारित्र की उपासना करनी चाहिए', इस व्यवहारनयात्मक कथन से यह निश्चयकथन प्रद्योतित होता है कि एकमात्र आत्मा ही उपास्य है।"[2]

अधोलिखित गाथा मे भी यही तथ्य प्रकट किया गया है —

जह्मा जाणइ णिच्च तह्मा जीवो दु जाणओ णाणी ।
णाण च जाणयादो अव्वदिरित्त मुणेयव्व ।।[3]

— क्योंकि जीव ही सदा जानता है इसलिए वही ज्ञायक है, वही ज्ञानी है। इस तरह ज्ञान ज्ञायक से अभिन्न है।

इसकी व्याख्या मे आचार्य अमृतचन्द्र लिखते है — "अथ जीव एवैको ज्ञान चेतनत्वात् ततो ज्ञानजीवयोरेवाव्यतिरेक·।"[4] अर्थात् चेतन होने के कारण एकमात्र जीव ही ज्ञान है, इसलिए ज्ञान और जीव मे अभेद है।

तात्पर्य यह कि जब हम मौलिक अभेद की दृष्टि से देखते है तब दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि समस्त जीवधर्म जीव ही प्रतीत होते हैं, किन्तु जब सज्ञादिबाह्य-भेद की दृष्टि से अवलोकन किया जाता है तब जीव और दर्शनज्ञानादि गुणो मे परस्पर अन्यत्व दिखाई देता है।

इसी प्रकार स्वात्मा का सम्यग्दर्शन, स्वात्मा का सम्यग्ज्ञान तथा

---

१ समयसार/गाथा, १६

२ "यथा देवदत्तस्य कस्यचिद् ज्ञान श्रद्धानमनुचरण च देवदत्तस्य स्वभावानतिक्रमाद् देवदत्त एव न वस्त्वन्तर तथात्मन्यप्यात्मनो ज्ञान श्रद्धानमनुचरण चात्मस्वभावानतिक्रमाद् आत्मैव न वस्त्वन्तर तत आत्मा एक एवोपास्य इति स्वयमेव प्रद्योतते।" वही/आत्मख्याति/गाथा, १६

३ वही/गाथा, ४०३

४ वही/आत्मख्याति/गाथा, ३९०-४०४

स्वात्मलीनतारूप सम्यग्चारित्र इन तीन के समूह का नाम ही ऐकाग्र्य या शुद्धोपयोग है। अत मौलिक-अभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से अथवा अभेदप्रधान निश्चयनय से देखने पर अकेला ऐकाग्र्य या शुद्धोपयोग ही मोक्षमार्ग है, यह निर्णय होता है। तथा सज्ञादि-भेदप्रधान व्यवहारनय से निरीक्षण करने पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीन का समूह मोक्षमार्ग है, इस निर्णय पर पहुँचते हैं।[1]

मौलिक-अभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि (निश्चयनय) से अवलोकन करने पर यह भी निश्चय होता है कि आत्मा के स्वस्वामी, कर्त्ताकर्म, भोक्ताभोग्य, ग्रहणत्याग, ज्ञेयज्ञायक, श्रद्धेय-श्रद्धानकारक, साध्यसाधक, आधाराधेय आदि सम्बन्ध निजस्वभाव के ही साथ होते हैं। इनका स्पष्टीकरण पूर्व मे प्रसगानुसार किया जा चुका है।

नियतस्वलक्षणावलम्बिनी दृष्टि से वस्तुस्वरूप का निर्णय

ज्ञाता की जो दृष्टि नियतस्वलक्षण के आधार पर वास्तविक वस्तु का निर्णय करती है वह नियतस्वलक्षणावलम्बिनी दृष्टि है तथा जो नियतस्वलक्षण के बिना सयोगादि सम्बन्ध के आधार पर प्रयोजनवश अन्य वस्तु को अन्य वस्तु का नाम देती है तथा अन्य के द्वारा इस प्रकार नाम दिये जाने की वास्तविकता को समझते हुए उसके प्रयोजन का निर्णय करती है, वह उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि है, क्योंकि सयोगादि सम्बन्ध के आधार पर प्रयोजनवश अन्य के लिए अन्य के नाम का प्रयोग करना उपचार कहलाता है।[2]

आगम मे नियतस्वलक्षण के आधार पर वास्तविक जीवादि तत्त्वो को भी जीवादि के नाम से वर्णित किया गया है तथा नियतस्वलक्षण के अभाव मे जो जीवादि नही है उन्हे भी उपचार से जीवादि सज्ञाएँ दी गयी है। नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से यह निर्णय होता है कि इनमे वास्तविक जीवादि कौन है ?

---

१ (क) "तस्य तु मोक्षमार्गस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति भेदात्मकत्वात् पर्यायप्रधानेन व्यवहारनयेन निर्णयो भवति। ऐकाग्र्य मोक्षमार्ग इत्यभेदात्मकत्वात् द्रव्यप्रधानेन निश्चयनयेन निर्णयो भवति। समस्तवस्तुसमूहस्यापि भेदाभेदात्मकत्वान्निश्चयव्यवहारमोक्षमार्ग-द्वयस्यापि प्रमाणेन निश्चयो भवतीत्यर्थ ।" प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति, ३/४२

(ख) "तथा भेदनयेन सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानसम्यक्चारित्ररूपस्त्रिविधमोक्षमार्गो भवति। स एवाभेदनयेन श्रामण्यापरमोक्षमार्गनामा पुनरेक एव।" वही ३/६६

२. (क) "अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्रसमारोपणमसद्भूतव्यवहार । असद्भूतव्यवहार एवोपचार ।" आलापपद्धति/सूत्र, २०७-२०८

(ख) "मञ्चा. क्रोशन्ति इति तात्स्थ्यात् तच्छब्दोपचार ।"

श्लोकवार्तिक, २/१/६/५६

चैतन्यभाव की 'जीव' संज्ञा

जिनेन्द्रदेव ने जीव और शरीर तथा जीव और रागादि मे कथचित् अभेद दर्शाने के लिए (ताकि शरीरघात से जीवघातरूप हिसा तथा पर्याय की अपेक्षा आत्मा अशुद्ध सिद्ध हो सके) उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि का आश्रय लेकर जीवसंयुक्त शरीर एव रागादि भावो को जीव शब्द से वर्णित किया है। किन्तु कोई उन्हे वास्तविक जीव न समझ ले, इस सम्भावना का निराकरण करने हेतु नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का अनुसरण कर शुद्ध चैतन्यरूप वास्तविक जीव को जीव शब्द से अभिहित किया है और यह स्पष्ट किया है कि जो शरीर और रागादि को जीव कहा गया है वह उपचार (उपचारावलम्बी व्यवहारनय) से कहा गया है, नियतस्व-लक्षणावलम्बी निश्चयनय से नही। इससे शरीर और रागादि के वास्तविक जीव होने का निषेध हो जाता है और उपचार का अर्थ समझनेवाले शिष्य शरीर और रागादि को जीव सज्ञा दिये जाने का अभिप्राय समझ लेते है तथा उन्हे वास्तविक जीव मानने की भूल नही करते।

जिनेन्द्रदेव के उपदेश के आधार पर नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से परमार्थ (वास्तविक) आत्मा का निश्चय कराते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते है —

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अह तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा ।।[1]

— नियतस्वलक्षण का अवलम्बन करने वाली प्रज्ञा से पहचानना चाहिए कि मेरे भीतर जो चैतन्यभाव है वही मै हूँ,[2] अन्य लक्षणवाले शेष भाव मुझसे भिन्न है।

इसी उद्देश्य से आचार्य अमृतचन्द्र भी कहते हैं कि एकमात्र चैतन्यभाव ही आत्मा है, ऐसा निश्चय करना चाहिए — "चिन्मात्र एव आत्मा निश्चेतव्यः।"[3]

चैतन्यभाव मे ही वास्तविक आत्मा का निश्चय कराने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द स्पष्ट करते हैं कि यद्यपि जिनेन्द्रदेव ने जीवसयुक्त शरीर को जीवसज्ञा दी है, किन्तु वह उपचारावलम्बी व्यवहारनय से दी है (नियतस्वलक्षणावलम्बी निश्चयनय से नही) —

---

१ समयसार/गाथा, २९७

२ "यो हि नियतस्वलक्षणावलम्बिन्या प्रज्ञयाप्रविभक्तश्चेतयिता सोऽयमहम्।"
वही/आत्मख्याति/गाथा, २९७

३. वही/आत्मख्याति/गाथा, २९४

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा वादरा य जे चेव ।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ।।[१]

—सूत्र (आगम) मे जो पर्याप्त, अपर्याप्त, सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रियादि शरीरो को 'जीव' सज्ञा दी गई है वह व्यवहारनय (उपचारावलम्बी व्यवहारनय) से दी गयी है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि शरीर को प्रयोजनवश उपचार से जीव कहा गया है, वास्तव मे जीव नही है। निष्कर्षत एकमात्र चैतन्यभाव ही वास्तविक जीव सिद्ध होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने यह भी स्पष्ट किया है कि सूत्र मे उपचारावलम्बी व्यवहारनय का अनुसरण करते हुए रागादिभावो को भी प्रयोजनवश 'जीव' शब्द से अभिहित किया गया है —

एवमेव च ववहारो अज्झवसाणादिअण्णभावाण ।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जीवो ।।[२]

—(जैसे लोक मे राजा की सेना के लिए राजा शब्द का व्यवहार किया जाता है)[३] वैसे ही सूत्र मे अध्यवसानादि (रागादि) भावो के लिए जीव शब्द का व्यवहार (उपचार) किया गया है।

इससे यह तथ्य सामने आ जाता है कि रागादिभावो को प्रयोजनवश उपचार से जीव कहा गया है, वे यथार्थत· जीव नही हैं।

इस प्रकार नियतस्वलणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि एकमात्र चैतन्यभाव को परमार्थ आत्मा के रूप मे प्रकट करती है और शरीरादि को जीव सज्ञा दिये जाने का रहस्य उद्‌घाटित कर उन्हे वास्तविक जीव मानने की भूल से बचाती है।

शुद्धोपयोग की 'मोक्षमार्ग' संज्ञा

स्वात्माश्रित सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप शुद्धोपयोग मोक्षमार्ग का नियतस्वलक्षण है, क्योंकि उसके होने पर नियम से मोक्ष होता है, न होने पर नही होता।[४]

१ समयसार/गाथा, ६७

२ वही/गाथा, ४८

३ राया हु णिग्गदो त्तिय एसो बलसमुदायस्स आदेसो ।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ।। वही/गाथा, ४७

४ (क) "निश्चयमोक्षमार्गेस्थिताना नियमेन मोक्षोभवति।"

वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, २७६-२७७

(ख) "आत्माश्रितनिश्चयनयाश्रितानामेव मुच्यमानत्वात्।"

वही/आत्मख्याति/गाथा २७२

इसलिए जिनेन्द्र भगवान् ने शुद्धोपयोगरूप वास्तविक मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग कहा है। उसे ग्रहण करने की सामर्थ्य सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग (परद्रव्याश्रित-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र) की साधना से आती है। इसलिए यद्यपि वह मोक्षमार्ग का नियतस्वलक्षण नही है, तथापि साध्यसाधकसम्बन्ध के कारण उसकी उपादेयता दर्शाने हेतु भगवान् ने उसे भी उपचार से मोक्षमार्ग नाम दिया है। इससे कोई शिष्य शुभोपयोग को वास्तविक मोक्षमार्ग समझने की भूल कर सकता है। अत. इस सम्भावना को टालने के लिए भगवान् ने नियतस्वलक्षणावलम्बिनी दृष्टि का अनुसरण करते हुए शुद्धोपयोग अथवा आत्माश्रित सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की समष्टि को 'निश्चय' विशेषण के प्रयोग द्वारा वास्तविक मोक्षमार्ग निरूपित किया है, जिसे आचार्यों ने अपने शब्दो मे इस प्रकार दर्शाया है —

णिच्चयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा ।
ण कुणदि किंचिवि अण्ण ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति ।।[1]

—जो आत्मा निज शुद्धस्वरूप के सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान सहित उसी मे *निश्चलरूप से स्थित होता है,* वह न तो किसी परभाव से *ग्रस्त होता है, न स्वभाव* को छोड़ता है। इसलिए वही निश्चयनय से मोक्षमार्ग है।

"निश्चयरत्नत्रयात्मक. शुद्धात्मानुभूतिलक्षणो मोक्षमार्गो मोक्षार्थिना पुरुषेण सेवितव्य ।"[2]

— मोक्षार्थी पुरुष को शुद्धात्मानुभूतिरूप निश्चयरत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग का अवलम्बन करना चाहिए।

"परमात्मतत्त्वश्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपाणि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमर्गं जिना विदन्ति।"[3]

—निज परम आत्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान एव सम्यग् अनुभूति के रूप मे जो सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र हैं उन्ही के समूह को जिनेन्द्रदेव ने मोक्षमार्ग कहा है।

इसके ही वास्तविक मोक्षमार्ग होने की पुष्टि के लिए आचार्यो ने यह स्पष्ट किया है कि अरहन्तदेव ने जो जीवादिपरद्रव्याश्रित सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप शुभोपयोग को मोक्षमार्ग सज्ञा दी है वह उपचारावलम्बी व्यवहारनय से दी है। यथा —

---

१. पञ्चास्तिकाय/गाथा, १६१
२ समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ४१२
३ वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, ४१०

धम्मादीसद्दहण सम्मत्त णाणमगपुव्वगद ।
चिट्ठा तवहि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति ।।[१]

—जीवादि पदार्थों का श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन, ग्यारह अगो एव चौदह पूर्वों का ज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान तथा बारह प्रकार के तप एव तेरह प्रकार के चारित्र मे प्रवृत्ति-रूप सम्यक्चारित्र, इनके सम्मिलित रूप की मोक्षमार्ग सज्ञा व्यवहारनय से है।

इससे यह तथ्य दृष्टि मे आ जाता है कि परद्रव्याश्रित सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्ररूप शुभोपयोग को प्रयोजनवश उपचार से मोक्षमार्ग नाम दिया गया है, परमार्थत. मोक्षमार्ग नही है। इस तथ्य के दृष्टि मे आने से निश्चित हो जाता है कि शुद्धोपयोग ही वास्तविक मोक्षमार्ग है।

स्वात्मश्रद्धानादि की 'सम्यग्दर्शनादि' संज्ञाएँ

स्वात्मा का सम्यक्श्रद्धान निश्चयमोक्षमार्ग का अग होने से सम्यग्दर्शन का नियतस्वलक्षण है। अत नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का अनुसरण कर इस वास्तविक सम्यग्दर्शन को सम्यग्दर्शन कहा गया है[२] और इसका साधक होने से जीवादि के श्रद्धान को उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि से सम्यग्दर्शन सज्ञा दी गई है।[३] यहाँ निश्चय और व्यवहार विशेषणो से स्पष्ट कर दिया गया है कि स्वात्मश्रद्धान ही वास्तविक सम्यग्दर्शन है, जीवादिश्रद्धान वास्तविक सम्यग्दर्शन नही है, अपितु वास्तविक सम्यग्दर्शन का साधक होने से उसकी उपादेयता दर्शाने हेतु उसे उपचार से सम्यग्दर्शन नाम दिया गया है।

इसी न्याय से आत्मज्ञान की सम्यग्ज्ञान सज्ञा नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि पर आश्रित है[४] तथा जीवादि तत्त्वो के ज्ञान का सम्यग्ज्ञान नाम उपचारा-वलम्बिनी व्यवहारदृष्टि पर।[५] ये दोनो दृष्टियाँ इस बात का निश्चय कराती है कि आत्मज्ञान ही वास्तविक सम्यग्ज्ञान है, जीवादि तत्त्वो का ज्ञान वास्तविक सम्यग्ज्ञान नही है, अपितु उसका साधक होने से उपचार से सम्यग्ज्ञान शब्द से अभिहित किया गया है।

इसी प्रकार निजशुद्धात्मभाव मे निश्चल अवस्थान के लिए सम्यक्चारित्र

---

१ पञ्चास्तिकाय/गाथा, १६०
२. "दर्शनमात्मविनिश्चिति·।" पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/कारिका, २१६
३ "जीवादीसद्दहण सम्मत्त।" समयसार/गाथा, १५५
४ "आत्मपरिज्ञानमिष्यते बोध ।" पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/कारिका, २१६
५ "जीवादीसद्दहण सम्मत्त तेसिमधिगमो णाण।" समयसार/गाथा, १५५

शब्द का प्रयोग नियतस्वलक्षणावलम्बी निश्चयनय से किया गया है[1] तथा अशुभ से निवृत्ति एवं शुभ मे प्रवृत्ति को सम्यक्चारित्र सज्ञा उपचारावलम्बी व्यवहारनय से दी गयी है।[2] यहाँ भी इन दोनो दृष्टियो से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि निजशुद्धात्मस्वभाव मे निश्चल अवस्थान वास्तविक सम्यक्चारित्र है और अशुभ से निवृत्ति एव शुभ मे प्रवृत्ति को साध्य-साधक सम्बन्ध के कारण उपचार से सम्यक्चारित्र नाम दिया गया है।

रागद्वेषमोह की 'आस्रव-बन्ध' संज्ञाएँ

जीव के रागद्वेषमोह परिणाम द्रव्यास्रव (पुद्‌गल कर्मों के आस्रव) एव द्रव्यबन्ध (आत्मा और पुद्‌गलकर्मों के सश्लेष सम्बन्ध) के निमित्त होते हैं। अतएव आस्रव एव बन्ध के नियतलक्षण है।[3] इसलिए नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से उन्हे जिनेन्द्रदेव के द्वारा आस्रव और बन्ध नाम दिये गये है, जैसा कि आचार्य अमृतचन्द्र के निम्नलिखित प्ररूपण से प्रकट होता है —

"मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा पुद्‌गलपरिणामा· । ज्ञानावरणादिपुद्‌गल-कर्मास्रवणनिमित्तत्वात् किलास्रवा । तेषा तु तदास्रवणनिमित्तत्वनिमित्तम् अज्ञानमया आत्मपरिणामा रागद्वेषमोहा·। तत आस्रवणनिमित्तत्वनिमित्तत्वाद् रागद्वेषमोहा एवास्राव ।"[4]

—नवीन पुद्‌गलकर्मो का आस्रव पूर्वबद्ध मिथ्यात्वादि पुद्‌गलकर्मों के उदय के निमित्त से होता है और उनका उदय आस्रव का निमित्त तभी बनता है जब उससे आत्मा रागद्वेषमोहपरिणाम करता है। इस प्रकार नवीन पुद्‌गलकर्मो के आस्रव के जो निमित्त है उनके निमित्त होने से रागद्वेषमोहपरिणाम ही मुख्यत आस्रव है।

"द्रव्यबन्धस्य साधकतमत्वाद् रागपरिणाम एव निश्चयेन बन्ध·।"[5]

— द्रव्यबन्ध का साधकतम होने से रागपरिणाम ही निश्चयनय से बन्ध है।

चूँकि रागद्वेषमोह के निमित्त से आत्मा मे द्रव्यकर्मो का आगमन और सश्लेष होता है, अत: जिनेन्द्रदेव ने कार्य मे कारण का उपचारकर अर्थात् उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि से द्रव्यकर्मों के आगमन और सश्लेष को भी आस्रव और बन्ध सज्ञाएँ

१ "रागादिविकल्परहितत्वेन स्वशुद्धात्मन्यवस्थान निश्चयचारित्रमिति।"
समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, १५५

२ "असुहादो विणिवित्ती सुहे पउत्ती य जाण चारित्त।" बृहद्‌द्रव्यसग्रह/गाथा, ४५

३ "बन्धस्य तु आत्मद्रव्यासाधारणा रागादय स्वलक्षणम्।"
समयसार/आत्मख्याति/गाथा, २९४

४ वही/आत्मख्याति/गाथा, १६४-१६५

५. प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका, २/८७

दी हैं। यहाँ अलग-अलग पदार्थों के लिए किये गये एक ही नाम-प्रयोग पर नियत-स्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि तथा उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि रागद्वेषमोह परमार्थत· (यथार्थत·) आस्रव और बन्ध हैं तथा पुद्गलकर्मों के आगमन और सश्लेष के लिए दिये गये ये नाम अवास्तविक हैं।

रागद्वेषमोहाभाव की 'संवर' संज्ञा

ज्ञान जब शुभाशुभविकल्पो से रहित होकर शुद्धोपयोगमय हो जाता है तब रागद्वेषमोह की उत्पत्ति नही होती। इससे द्रव्यकर्मो का आस्रव रुकता है। फलस्वरूप द्रव्यकर्मो के आस्रवनिरोध का हेतु होने से रागद्वेषमोह का निरोध सवर का नियतस्वलक्षण है। अत. अरहन्त भगवान् ने नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से इसे सवर शब्द से अभिहित किया है, जिस पर प्रकाश डालते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते है —

"एवमिद भेदविज्ञान यदा ज्ञानस्य वैपरीत्यकणिकामप्यनासादयद् अविचलितम् अवतिष्ठते तदा शुद्धोपयोगमयात्मत्वेन ज्ञान ज्ञानमेव केवल सन्न किञ्चनापि रागद्वेषमोहरूप भावमारचयति। ततो भेदविज्ञानाच्छुद्धात्मोपलम्भ. प्रभवति। शुद्धात्मोपलम्भाद् रागद्वेषमोहाभावलक्षण सवर प्रभवति।"[१]

— इस प्रकार यह भेदविज्ञान जब रचमात्र भी ज्ञान के विपरीत न होकर अर्थात् रागादिविकार से ग्रस्त न होकर स्वभाव मे अविचलित रहता है तब शुद्धोपयोगमय होने से ज्ञान ज्ञान ही रहता है, किचित् भी रागद्वेषमोह नही करता। इस प्रकार भेदविज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है। उससे रागद्वेषमोहाभावरूप सवर फलित होता है।

रागद्वेषमोह का अभाव द्रव्यकर्मों के निरोध का हेतु है। इसलिए जिनेन्द्रदेव ने उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि का अनुसरण करते हुए कार्य मे कारण के उपचार द्वारा द्रव्यकर्मो के निरोध को 'सवर' सज्ञा दी है। यहाँ उपर्युक्त दोनो दृष्टियो से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि रागद्वेषमोहाभाव की सवर सज्ञा वास्तविक है और द्रव्य- कर्मों के निरोध की अवास्तविक।

शुद्धोपयोग की 'निर्जरा' संज्ञा

बहिरग और अन्तरग तपो से सवर्धित शुद्धोपयोग से द्रव्यकर्मों का एकदेशक्षय होता है। अत यह निर्जरा का नियत स्वलक्षण है।[२] फलस्वरूप नियत-

---

१. समयसार/आत्मख्याति/गाथा, १८१-१८३

२ "कर्मवीर्यशातनसमर्थो बहिरङ्गान्तरङ्गतपोभिर्बृंहितशुद्धोपयोगो जीवस्य ' ··· निर्जरा।"
पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा, १०८

स्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का अनुसरण कर आगम मे इसे निर्जरा नाम दिया गया है। और चूँकि शुद्धोपयोग के निमित्त से द्रव्यकर्मों का एकदेशक्षय होता है, इसलिए उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि का अनुगमन करते हुए जिनेन्द्रदेव ने कार्य मे कारण के उपचार द्वारा द्रव्यकर्मों के एकदेशक्षय को निर्जरा शब्द से अभिहित किया है।

यहाँ नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से विचार करने के बाद उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि से विचार करने पर निश्चित होता है कि द्रव्यकर्मों के एकदेशक्षय की निर्जरा सज्ञा अवास्तविक है, अत शुद्धोपयोग ही वास्तविक निर्जरा है। इससे द्रव्यकर्मों के एकदेशक्षय को वास्तविक निर्जरा समझ लेने की भूल नही हो पाती।

क्षायिकसम्यग्दर्शनादि की 'मोक्ष' संज्ञा

क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यग्ज्ञान तथा यथाख्यात नामक क्षायिक सम्यक्चारित्र, इन तीनो की अभिन्नता जिसमे होती है, उस आत्परिणाम से समस्त कर्मो का क्षय होता है, अत वह मोक्ष का नियतस्वलक्षण है।[1] इसलिए नियत-स्वलक्षणावलम्बी निश्चयनय के अनुसार सर्वज्ञ ने उसे मोक्ष सज्ञा दी है और क्योंकि वह सम्पूर्ण द्रव्यकर्मो के क्षय का निमित्त है, फलस्वरूप उपचारावलम्बी व्यवहारनय का अनुगमन कर नैमित्तिक मे निमित्त के नाम का उपचार किया है अर्थात् सम्पूर्ण द्रव्यकर्मों के क्षय को मोक्ष नाम दिया है।[2] यहाँ भी जब उपर्युक्त दोनो दृष्टियो से विचार किया जाता है तब क्षायिकसम्यग्दर्शनादिमय आत्मपरिणाम ही वास्तविक मोक्ष सिद्ध होता है, सम्पूर्ण द्रव्यकर्मों के क्षय की 'मोक्ष' सज्ञा अवास्तविक ठहरती है।

रागादि के अभाव की 'हिंसादि' संज्ञाएँ

रागादिभाव से ग्रस्त होकर किसी जीव का घात करने पर घातक को कर्मबन्ध होता है। रागादि के अभाव मे पूर्ण यत्नाचार करते हुए जीवघात हो जाने पर भी कर्मबन्ध नही होता।[3] इसलिए रागादिभाव के साथ ही कर्मबन्ध का अन्वय-व्यतिरेक होने से रागादि की उत्पत्ति अथवा प्रमत्तभाव हिंसा का नियतलक्षण है। यत रागादि की उत्पत्ति हिंसा का नियतलक्षण है, अतः रागादि की अनुत्पत्ति अहिंसा

---

१ "निरवशेषकर्माणि येन परिणामेन क्षायिकज्ञानदर्शनयथाख्यातचारित्रसज्ञितेन अस्यन्ते स मोक्ष·।" भगवतीआराधना, टीका ३८/१३४

२ "बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृतस्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष ।" तत्त्वार्थसूत्र, १०/२

३ मरदु वा जियदु वा जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ।। प्रवचनसार, ३/१७

का नियतलक्षण सिद्ध होता है। इसलिए नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का अवलम्बनकर जिनेन्द्रदेव ने इन्हे क्रमश· 'हिसा' और 'अहिसा' शब्दो से अभिहित किया है। यह आचार्य अमृतचन्द्र के अधोलिखित कथन से ज्ञात होता है —

अप्रादुर्भाव खलु रागादीना भवत्यहिसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिसेति जिनागमस्य सक्षेप ।।[1]

— रागादिभावो की उत्पत्ति न होना अहिसा है और उत्पत्ति होना हिसा, यह जिनागम का सक्षेप है।

रागादिभावो से ग्रस्त होना प्रमाद कहलाता है, इसलिए प्रमादयुक्त होने को हिसा और प्रमादरहित होने को अहिसा कहा गया है —

स्वय ह्यहिसा स्वयमेव हिसन न तत्पराधीनमिह द्वय भवेत् ।
प्रमादहीनोऽत्र भवत्यहिसक प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिसक ।।[2]

— जीव स्वय अहिसा है और स्वय हिसा। ये दोनो पराधीन नही है। जो प्रमादहीन है वह अहिसक है, जो प्रमादयुक्त है वह सदैव हिसक है।

प्रमादहीन होने का लक्षण है जीवरक्षा के प्रयत्न मे तत्पर होना। इसलिए जीवो का मरण हो या न हो, जो अयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करता है वह हिसा करता है, जो यत्नपूर्वक आचरण करता है वह अहिसामय होता है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं —

अयदाचारो समणो छस्सुवि कायेसु वधकरोत्ति मदो ।
चरदि जद जदि णिच्च कमल व जले णिरुवलेवो ।।[3]

— यत्नाचाररहित श्रमण छहो कायो के जीवो का वध करनेवाला कहा गया है। यदि वह यत्नपूर्वक प्रवृत्त होता है तो जैसे कमल जल से लिप्त नही होता वैसे वह हिसा से लिप्त नही होता।

इस तरह रागादि की अनुत्पत्ति या प्रमाद का अभाव अथवा यत्नाचार ही अहिसा का नियतलक्षण है। अत नियतस्वलक्षणावलम्बिनी दृष्टि के आधार पर आगम मे इसे अहिसा शब्द से अभिहित किया गया है। किन्तु रागादि के वशीभूत होकर ही जीव परप्राणो के घात मे प्रवृत्त होता है अथवा उनकी रक्षा का यत्न नही करता जिससे अशुभकाययोग द्वारा प्राणव्यपरोपण होने पर परजीव को पीडा होती

---

१ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/कारिका, ४४
२ धवला/पुस्तक, १४/५, ६, ९३
३. प्रवचनसार, ३/१८

है। यह क्रूरपरिणाम से निष्पन्न अशुभकाययोग[1] अशुभास्रव का कारण होता है और अशुभ द्रव्यकर्मों का आस्रव तीव्रकषायवश बन्ध मे परिणत हो जाता है। इसलिए बन्ध का हेतु होने से[2] प्रमत्तयोगजन्य परजीवघात को जिनेन्द्रदेव ने उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि का अनुसरण करते हुए उपचार से हिसा सज्ञा दी है।[3] इसीलिए जीवघात से निवृत्ति को उपचारतः अहिसा शब्द से अभिहित किया है।

परपीड़ाकर अप्रशस्त वचन असत्यवचन कहलाते हैं। उनकी उत्पत्ति आत्मा के रागादिग्रस्त होने पर होती है।[4] और मुख से अप्रशस्त वचन निकले या न निकले रागादिग्रस्त होने मात्र से कर्मबन्ध होता है, अतः रागादिपरिणाम या प्रमत्तभाव असत्य का नियतलक्षण होने से नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि के अनुसार 'असत्य' शब्द से अभिहित किया गया है। और रागादिपरिणाम या प्रमत्तभाव का अभाव सत्य का नियतलक्षण है। अत उपर्युक्त दृष्टि से इसे 'सत्य' नाम दिया गया है। असत्य-वचन अशुभ वाग्योग है। वह अशुभास्रव का निमित्त है और अशुभास्रव बन्ध का। इसलिए परम्परया बन्ध का हेतु होने से सर्वज्ञ ने असत्यवचन को उपचार (उपचारा-वलम्बी व्यवहारनय) से असत्य नाम दिया है[5] और उसके अभाव को उपचार से 'सत्य' शब्द से अभिहित किया है।

चौर्यक्रिया मे प्रवृत्ति लोभादिरूप रागपरिणति से होती है। इस दशा मे चोरी की जाय या नही रागपरिणतिमात्र से कर्मबन्ध होता है। अत· लोभरूप रागपरिणति चौर्य का नियत लक्षण है। इस अपेक्षा से उसकी 'चौर्य' सज्ञा है। और लोभरूप रागपरिणति का अभाव अचौर्य का नियत लक्षण है। इस दृष्टि से उसका नाम अचौर्य है। अदत्तादान अर्थात् चोरी की क्रिया अशुभ काययोग है। वह अशुभास्रव का निमित्त है और अशुभास्रव बन्ध का । अत· परम्परया बन्धहेतु होने से अदत्तादान को आगम मे उपचारत 'चौर्य' शब्द से अभिहित किया गया है और उसके अभाव को उपचारत 'अचौर्य' शब्द से।

कामभावरूप रागपरिणाम काम-क्रियाओ मे प्रवृत्ति का हेतु है। इस प्रमत्तदशा

---

१ (क) "प्राणातिपातादत्तादानमैथुनादिरशुभ· काययोग·।"
(ख) "अशुभपरिणामनिर्वृत्तश्चाशुभ ।" सर्वार्थसिद्धि ६/३

२. "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव ।" तत्त्वार्थसूत्र ८/१

३ "प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण हिसा।" वही, ७/१३

४ यदिद प्रमादयोगादसदभिधान विधीयते किमपि ।
तदनृतमपि विज्ञेय तद्भेदा· सन्ति चत्वार. ।। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ९१

५ (क) "असदभिधानमनृतम्।" तत्त्वार्थसूत्र, ७/१४
(ख) "अनृतभाषणपरुषासभ्यवचनादिरशुभो वाग्योग ।" वही, ६/३

में कामचेष्टा की जाय या नही, कर्मबन्ध अवश्यम्भावी है। इसलिए कामभावरूप रागपरिणाम अब्रह्म का नियतस्वलक्षण है और कामभाव का अभाव ब्रह्मचर्य का। इसलिए नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से कामभाव को 'अब्रह्म' की सज्ञा दी गई है तथा कामभाव के अभाव को ब्रह्मचर्य की। और चूँकि मन, वचन एव काय से की जानेवाली मैथुनादि कामचेष्टा अशुभ मनोयोग, अशुभ वाग्योग और अशुभ काययोग होने से अशुभास्रव का निमित्त अतएव बन्ध का कारण है, इसलिए अरहन्तदेव ने उसके लिए उपचार से अब्रह्म शब्द का प्रयोग किया है[1] और उसके अभाव को उपचार से 'ब्रह्म' नाम दिया है।

इसी प्रकार परद्रव्येच्छारूप रागपरिणति बाह्यपरिग्रह का निमित्त है। इस अवस्था मे बाह्य पदार्थो का सग्रह किया जाय या नही इच्छामात्र से कर्मबन्ध होता है।[2] अत. इच्छा परिग्रह का नियतलक्षण है और इच्छा का अभाव अपरिग्रह का। इसलिए नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का अनुसरण करते हुए जिनेन्द्रदेव ने इच्छा को 'परिग्रह'[3] शब्द से अभिहित किया है और इच्छा के अभाव को 'अपरिग्रह'[4] शब्द से। यत: परद्रव्येच्छारूप रागभाव से जीव परद्रव्य को ग्रहण करता है और परद्रव्यग्रहण मूर्च्छा (परद्रव्य के सरक्षण, सवर्धन और सस्करण की इच्छा) का निमित्त होता है[5] इसलिए अरहन्त भगवान् ने उसे उपचार से 'परिग्रह' सज्ञा दी है और परद्रव्य के त्याग को 'अपरिग्रह' सज्ञा।

इस प्रकार नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि (निश्चयनय) के अनुसार आत्मा के रागादिपरिणाम की हिसा,[6] असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह सज्ञाएँ हैं। इसके विपरीत उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि (व्यवहारनय) के अनुसार जीवघात (प्राणव्यपरोपण), असत्यवचन, अदत्तादान, मैथुन एव बाह्यपरिग्रह को ये सज्ञाएँ दी गयी हैं।

---

१ "मैथुनमब्रह्म।" तत्त्वार्थसूत्र, ७/१६

२ "परद्रव्ये ममत्वरूपमूर्च्छापरिग्रहेण तु नियमेन बन्धो भवति।"
प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति, ३/१९

३ "इच्छा परिग्रह ।" समयसार/आत्मख्याति, २११

४ "अपरिग्गहो अणिच्छो।" वही/आत्मख्याति, २११

५ (क) "तस्योभयप्रकारस्यापि परिग्रहस्य सरक्षणे, उपार्जने, सस्करणे, वर्द्धनादौ व्यापारो मनोऽभिलाष मूर्च्छा प्रतिपाद्यते।" तत्त्वार्थवृत्ति, ७/१७

(ख) यद्येव भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरङ्ग ।
भवति नितरा यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छानिमित्तत्वम् ।।
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ११३

६. "रागादिपरिणतिर्निश्चयहिसा।" प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति, ३/१७

इसी प्रकार एक ओर नियतस्वलक्षणावम्बी निश्चयनय से रागादि के अभाव को अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नाम दिये गये हैं, दूसरी ओर, उपचारावलम्बी व्यवहारनय से जीवघातनिवृत्ति, असत्यवचननिवृत्ति, अदत्तादान-निवृत्ति, मैथुननिवृत्ति एव बाह्यपरिग्रहनिवृत्ति को इन नामो से सकेतित किया गया है।

इन दोनो दृष्टियो के अभिप्राय को समझनेवाला व्यक्ति जब इन दृष्टियो से विचार करता है तब स्पष्ट हो जाता है कि रागादिपरिणाम की ही हिसा आदि सज्ञाएँ वास्तविक हैं, जीवघातादि की अवास्तविक। जीवघातादि को प्रयोजनवश ये नाम दिये गये है। इसी प्रकार रागादि के अभाव की अहिसादि संज्ञाएँ यथार्थ है, और जीवघातादि से निवृत्ति को दी गई ये सज्ञाएँ अयथार्थ। इस प्रकार दोनो दृष्टियो से विचार करने पर मनुष्य अयथार्थ को यथार्थ समझने की भूल से बच जाता है।

शुभाशुभपरिणामनिवृत्ति की 'व्रत' संज्ञा

समस्त शुभाशुभ परिणामो से निवृत्ति अर्थात् स्वस्वरूप मे निश्चलरूप से स्थित होना, जिसे परमसामायिक और निर्विकल्प समाधि भी कहते हैं, व्रत का नियतस्वलक्षण है,[1] क्योंकि उससे शुभाशुभ दोनो प्रकार के कर्मों का सवर और निर्जरा होती है। इसलिए नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का आश्रय लेकर सर्वज्ञदेव ने इसे 'व्रत' संज्ञा दी है, जैसा कि श्री ब्रह्मदेव सूरि के निम्नलिखित वचन से विदित होता है —

"सर्वशुभाशुभनिवृत्तिरूपाणि निश्चयव्रतानि।"[2]

— समस्त शुभाशुभ भावो से निवृत्ति निश्चयव्रत है।

अत. जब हम नियतस्वलक्षणावलिम्बनी निश्चयदृष्टि से व्रतो के स्वरूप का विचार करते हैं तब इस निर्णय पर पहुँचते है कि शुभाशुभभावो से निवृत्ति ही वास्तविक (स्वलक्षणसम्मत) व्रत है तथा जीवघात, अप्रशस्तवचन, अदत्तादान, मैथुन तथा बाह्यपरिग्रह से विरति को उपचार से 'व्रत' सज्ञा दी गयी है, क्योंकि इनके अभ्यास से ही जीव निश्चयव्रत को ग्रहण करने मे समर्थ होता है, इसलिए निश्चयव्रत के साथ इनका साध्यसाधक सम्बन्ध है।[3]

---

१ "तत· पर समस्तशुभाशुपरिणामनिवृत्तिरूप स्वस्वरूपे निश्चलावस्थान परमसामायिक-व्रतमारोहति।" प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति, ३/७

२ बृहद्द्रव्यसग्रह/ब्रह्मदेवसूरिटीका/गाथा, ५७

३. "निश्चयेन समस्तशुभाशुभरागादिविकल्पनिवृत्तिव्रतम्। व्यवहारेण तत्साधक हिसानृतास्तेयाब्रह्मपरिग्रहाच्च यावज्जीवनिवृत्तिलक्षण पञ्चविध व्रतम्।

बृहद्द्रव्यसग्रह/ब्रह्मदेवसूरिटीका/गाथा, ३५

अत. जब नियतस्वलक्षणावलम्बिनी दृष्टि से देखने पर जीवघातादि से निवृत्ति मे व्रत का लक्षण दिखाई नही देता तब निश्चय होता है कि इन्हे उपचार से व्रत कहा गया है, ये वास्तविक व्रत नही है। और तब हम उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि का आश्रय कर उपचार के निमित्त और प्रयोजन का अन्वेषण करते हैं, तब ज्ञात होता है कि उपचरित व्रतो और वास्तविक व्रतो मे साध्य-साधकभाव है, इसलिए उपचरितव्रत कथचित् उपादेय हैं।

शुद्धात्मस्वरूप में अवस्थान की 'समिति' आदि संज्ञाएँ

निज शुद्धात्मस्वरूप मे निश्चलतापूर्वक स्थित होना समिति का नियत-स्वलक्षण है। इसलिए इसकी नियतस्वलक्षणावलम्बी निश्चयनय से समिति सज्ञा है। इसकी सिद्धि मे सहायक होने से सम्यक् ईर्या (यत्नपूर्वकगमन), सम्यक् भाषा (हितमितप्रियवचन), सम्यक् एषणा (समभावपूर्वक निर्दोष आहार-ग्रहण), सम्यक् आदान-निक्षेपण (कमण्डलु आदि को यत्नपूर्वक उठाना-रखना) तथा सम्यक् व्युत्सर्ग (निर्बाधस्थान मे मलमूत्र-विसर्जन) को जिनेन्द्रदेव ने उपचार से समिति संज्ञा प्रदान की है।[१]

निज शुद्धस्वरूप मे निश्चलरूप से स्थित रहना गुप्ति का नियतस्वलक्षण है। अत इसकी नियतस्वलक्षण की दृष्टि से 'गुप्ति' सज्ञा है। इसकी सिद्धि मे सहायक होने से मन, वचन और काय की प्रवृत्ति के निरोध को उपचार से त्रिगुप्ति नाम दिया गया है।[२]

स्वशुद्धात्मस्वभाव मे परिणत होना धर्म का नियत स्वलक्षण है। अत इसे नियत स्वलक्षण की अपेक्षा 'धर्म' शब्द से अभिहित किया गया है। इसमे साधक होने से अशुभ से निवृत्ति और शुभ मे प्रवृत्ति को उपचार से धर्म कहा गया है।[३]

---

१ (क) "निश्चयेन तु स्वस्वरूपे सम्यग् इतो गत परिणत समित ।
प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति ३/४०

(ख) "व्यवहारेण तद्बहिरङ्गसहकारिकारणभूताचारादिचरणग्रन्थोक्ता ईर्याभाषैषणादान-निक्षेपोत्सर्गसज्ञा: पञ्चसमितय ।" बृहद्द्रव्यसग्रह/ब्रह्मदेवटीका, ३५

२ "निश्चयेन सहजशुद्धात्मभावनालक्षणे गूढस्थाने ससारकारणरागादिभयात् स्वस्यात्मनो गोपन गुप्ति । व्यवहारेण बहिरङ्गसाधनार्थं मनोवचनकायव्यापारनिरोधो गुप्ति ।"
वही, ३५

३ "निजशुद्धात्मपरिणतिरूपो निश्चयधर्मो भवति। पञ्चपरमेष्ठ्यादिभक्तिपरिणामरूपो व्यवहारधर्मस्तावदुच्यते।" प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति, १/८

स्वशुद्धात्मा के चिन्तन (अनुभूति) मे लीन होना[1] नियतस्वलक्षण की अपेक्षा अनुप्रेक्षा है। तत्साधक होने से शरीरादि के अनित्यत्वादि स्वभाव का जो बार-बार चिन्तन किया जाता है, उसे उपचार से अनुप्रेक्षा नाम दिया गया है।

निजशुद्धात्मस्वरूप की अनुभूति से विचलित न होना नियतस्वलक्षण की दृष्टि से परीषहजय है। इसकी सिद्धि मे सहायक होने से जो क्षुधादि की पीड़ा को समभाव से सहा जाता है, उसे उपचार से परीषहजय कहा गया है।

निर्विकार निश्चल चित्तवृत्ति[2] अथवा शुद्धोपयोग निश्चयरत्नत्रय का लक्षण है। तत्परिणत निजात्मा का स्वरूप स्वशुद्धात्मस्वरूप कहलाता है। उसमे चरण करने (स्थित रहने) से शुभाशुभ कर्मों का उन्मूलन होता है। अत स्वशुद्धात्मस्वरूप मे चरण नियतस्वलक्षण की अपेक्षा चारित्र है।[3] इसकी उपलब्धि मे सहायक होने से अशुभ से निवृत्ति एव शुभ में प्रवृत्ति को उपचार से चारित्र संज्ञा दी गई है।[4]

स्वय को अपने शुद्धस्वरूप मे सयमित (स्थित) करना नियतस्वलक्षण की दृष्टि से सयम है। तत्साधक होने से षट्कायिक जीवो के वध तथा इन्द्रियविषयो के सेवन से निवृत्त होने को उपचार से सयम कहा गया है।[5]

अपने वीतरागज्ञानदर्शनसुखस्वभाव मे तपना (स्थित होना) नियतस्वलक्षण की अपेक्षा तप है। उसमे साधक होने के कारण अनशनादि बाह्य तपो के लिए उपचार से तप सज्ञा का व्यवहार किया गया है।[6]

स्वशुद्धात्मा मे शोभन अध्याय या अभ्यास (सम्यक् प्रवृत्ति) की नियतस्वलक्षण से स्वध्याय सज्ञा है। इसकी सिद्धि मे सहायक होने से जिनेन्द्रप्रणीत

---

१ "समस्तरागादिविभावपरित्यागेन तल्लीन-तच्चिन्तन-तन्मयत्वेन ।'
बृहद्द्रव्यसग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा, ३५

२ "निर्विकारनिश्चलचित्तवृत्तिरूपचारित्रस्य ।" प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति, १/७

३ "शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयपरिणते स्वशुद्धात्मस्वरूपे चरणमवस्थान चारित्रम्।"
वही/ब्रह्मदेवटीका/गाथा, ३५

४ असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्त ।
वदसमिदिगुत्तिरूव ववहारणयादु जिणभणिय ।। वही/गाथा, ४५

५ "सकलषड्जीवनिकायनिशुम्भनविकल्पात् पञ्चेन्द्रियाभिलाषविकल्पाच्च व्यावर्त्यात्मन शुद्धस्वरूपे संयमनात्।" प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका, १/१४

६. "समस्तपरद्रव्येच्छानिरोधेन तथैवानशनादिद्वादशतपश्चरणबहिरङ्गसहकारिकारणेन च स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयन निश्चयतपश्चरणम्।"
बृहद्द्रव्यसग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा, ५२

द्रव्यश्रुत के अभ्यास (अध्ययन) को उपचार से स्वाध्याय नाम दिया गया है।[1]

निज शुद्धस्वरूप मे चित्तवृत्ति के अविचलित रहने को नियतस्वलक्षण की अपेक्षा ध्यान कहा गया है।[2] इसमे साधक होने से पञ्चपरमेष्ठी आदि के स्वरूप-चिन्तन को उपचार से ध्यान सज्ञा दी गई है।[3]

शुद्धात्मपरिणति आदि की 'निःशङ्का' आदि संज्ञाएँ

सप्त भयो से मुक्त होकर घोर उपसर्ग और परीषह की स्थिति मे भी शुद्धोपयोगरूप निश्चयरत्नत्रय मे लीन रहने का जो गुण है उसकी नियतस्वलक्षण के अनुसार 'नि शङ्का' सज्ञा है। जिनोपदेश मे शका का अभाव इसकी सिद्धि मे सहायक है। अत इस सहायक गुण को उपचार से 'नि शका' सज्ञा दी गई है।[4]

दृष्ट, श्रुत और अनुभूत इन्द्रियभोगो का त्यागकर निश्चयरत्नत्रय की भावना से उत्पन्न पारमार्थिक स्वात्मोत्थ सुख के आस्वादन मे तृप्ति अनुभव करने का जो गुण है उसका नियतस्वलक्षण की अपेक्षा 'निष्काक्षा' नाम है। इहलोक और परलोक के सुखो की आकाक्षा का त्याग इसकी प्राप्ति मे सहायक है। इसलिए इस सहायक गुण को उपचार से 'निष्काक्षा' नाम दिया गया है।[5]

समस्त रागद्वेषादि विकल्पो का परित्याग कर निर्मल आत्मानुभूतिरूप निज शुद्धात्मा मे स्थित होने का गुण नियतस्वलक्षण की अपेक्षा 'निर्विचिकित्सा' शब्द से सकेतित होता है। मुनियो और श्रावको की शारीरिक बीभतसता को देखकर घृणा के भाव को मन मे न आने देना इसकी सिद्धि मे सहायक है। अत इस साधक

---

१ "स्वशुद्धात्मनि शोभनमध्यायोऽभ्यासो निश्चयस्वाध्याय ।"
बृहद्द्रव्यसग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा, ५३

२ "शुद्धस्वरूपेऽविचलितचैतन्यवृत्तिर्हि ध्यानम्।" पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा, १४६

३ "पञ्चपरमेष्ठिभक्त्यादिरूपेण पराश्रितधर्मध्यानबहिरङ्गसहकारित्वेनानन्तज्ञानादिस्वरूपोऽहमित्यादिभावनास्वरूपमात्माश्रित धर्मध्यान प्राप्य भावमोक्ष प्राप्नोतीति।"
वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, १५०-१५१

४ "रागादिदोषा अज्ञान वाऽसत्यवचनकारण तदुभयमपि वीतरागसर्वज्ञाना नास्ति तत: कारणात्तत्प्रणीते हेयोपादेयतत्त्वे मोक्षे मोक्षमार्गे च भव्यै सशय· सन्देहो न कर्त्तव्य । · इद व्यवहारेण सम्यक्त्वस्य व्याख्यानम्। निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनि शङ्कागुणस्य सहकारित्वेनेहलोकात्राणागुप्तिमरणव्याधिवेदनाकस्मिकाभिधानभयसप्तक मुक्त्वा घोरोपसर्गपरीषहप्रस्तावेऽपि शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयभावेनैव नि·शङ्कगुणो ज्ञातव्य इति।" बृहद्द्रव्यसग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा, ४१

५ वही

गुण को उपचारत: 'निर्विचिकित्सा' शब्द से अभिहित किया जाता है।[1]

मिथ्यादृष्टियों द्वारा प्रणीत शास्त्रो को पढ़-सुनकर उनसे प्रभावित न होना अमूढ़दृष्टिगुण की उत्पत्ति का हेतु है। अत· इसे जिनेन्द्रदेव ने उपचार से अमूढ़दृष्टि-गुण नाम दिया है। इसके प्रसाद से अन्तस्तत्त्व (आत्मा) और बहिस्तत्त्व (शरीर) का निश्चय हो जाने पर समस्त परद्रव्यो में आत्मबुद्धि, उपादेयबुद्धि, हितबुद्धि और ममत्वभाव का त्यागकर त्रिगुप्ति द्वारा विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मक निजात्मा मे जो निश्चलरूप से स्थित होने का गुण है, उसका नियतस्वलक्षण की अपेक्षा अमूढदृष्टिगुण नाम है।[2]

भेदाभेदरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग तो स्वभाव से शुद्ध है। उसका जब अज्ञानियो या अशक्त पुरुषो के दूषित आचरण से अपवाद होता है तब आगम के अनुसार यथाशक्ति धन की सहायता से अथवा धर्मोपदेश से जो दोष का निवारण किया जाता है उसे उपगूहन गुण का साधक होने से उपचार से उपगूहनगुण नाम दिया गया है। उसकी सहायता से निजनिर्दोषपरमात्मा के प्रच्छादक मिथ्यात्वरागादि दोषो का स्वात्मा के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप ध्यान से जो प्रच्छादन अर्थात् विनाश किया जाता है उसकी नियतस्वलक्षण की दृष्टि से उपगूहनगुण सज्ञा है।[3]

भेदाभेदरत्नत्रय के धारक चातुर्वर्ण सघ मे जब कोई दर्शनचारित्रमोह के उदय से दर्शन, ज्ञान अथवा चारित्र को छोड़ना चाहता है तब आगम के अनुसार यथाशक्ति धर्मोपदेश से, धन से अथवा अन्य किसी भी उपाय से उसे जो धर्म मे स्थिर किया जाता है उसे स्थितीकरण मे साधक होने से उपचार से स्थितीकरण सज्ञा दी गई है। उसकी सहायता से धर्म मे दृढ़ता हो जाने पर मिथ्यात्वरागादि के अभाव से निजपरमात्मस्वभावजन्य सुखामृत के आस्वादन मे चित्त का स्थिर होना नियतस्व-लक्षण की अपेक्षा स्थितीकरण है।[4]

बाह्य और आभ्यन्तर रत्नत्रय के धारक चतुर्विध सघ से बछड़े से गाय के समान नि स्वार्थ प्रेम करना वात्सल्य गुण की अभिव्यक्ति का निमित्त है। अत· इसे उपचार से वात्सल्य कहा गया है। इसकी सहायता से जब धर्म मे दृढ़ता हो जाती है तब मिथ्यात्वरागादि समस्त शुभाशुभभावो मे प्रीति का अभाव होने पर स्वशुद्धात्मानुभूतिजन्य परमानन्द के आस्वादन मे जो प्रीति का आविर्भाव होता है उसकी नियतस्वलक्षण के अनुसार वात्सल्यगुण सज्ञा है।[5]

---

१ बृहद्द्रव्यसग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा, ४१
२ वही
३ वही
४ वही
५. वही

श्रावक दानपूजा आदि के द्वारा तथा मुनि ज्ञान, तप आदि के द्वारा जो जैन शासन की प्रभावना करता है उससे प्रभावना गुण प्रकट होता है, अतः इसे उपचार से प्रभावनागुण नाम दिया गया है। इसके बल से मिथ्यात्व-कषाय आदि समस्त विभावपरिणामरूप परमतो के प्रभाव को नष्ट कर शुद्धोपयोगरूप स्वसवेदन-ज्ञान के द्वारा विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मक निज आत्मा का अनुभव करना नियत-स्वलक्षणसम्मत प्रभावना गुण है।[१]

हसने आदि की 'हास्य' आदि संज्ञाएँ

हसने की नियतस्वलक्षण की अपेक्षा हास्य सज्ञा है। जिस कर्मस्कन्ध के उदय से हास्य उत्पन्न होता है उसकी, कारण मे कार्य का उपचार करने से, उपचारत हास्य सज्ञा है — "हसन हास·। जस्स कम्मक्खधस्स उदएण हस्सणिमित्तो जीवस्स रागो उप्पज्जइ तस्स कम्मक्खधस्स हस्सो त्ति सण्णा, कारणे कज्जुवयारादो।"[२]

भीति की मुख्यत भय सज्ञा है। जिन कर्मस्कन्धो के उदय से जीव मे भय उत्पन्न होता है उनकी, कारण मे कार्य का उपचार करने से, उपचारत भय सज्ञा है — "भीतिर्भयम्। जेहि कम्मक्खधेहि उदयमागदेहि जीवस्स भयमुप्पज्जइ तेसि भयमिदि सण्णा, कारणे कज्जुवयारादो।"[३]

जीवो का सदृशपरिणाम नियतस्वलक्षण की अपेक्षा 'जाति' है। जिस कर्मस्कन्ध से जीवो मे अत्यन्त सादृश्य उत्पन्न होता है उस कर्मस्कन्ध को, कारण मे कार्य का उपचार करके, उपचार से जाति नाम दिया जाता है — "जातिर्जीवाना सदृशपरिणाम.।   जत्तो कम्मक्खधादो जीवाण भूओ सरिसत्तमुप्पज्जदे सो कम्म-क्खधो कारणे कज्जुवयारादो जादि त्ति भण्णदे।"[४]

कर्मभूमि नियतस्वलक्षण की दृष्टि से कर्मभूमि है। कर्मभूमियो मे उत्पन्न मनुष्यो को उपचार से कर्मभूमि सज्ञा दी गई है — "कम्मभूमीसुप्पण्णमणुस्साण-मुवयारेण कम्मभूमीववदेसादो।"[५]

स्वात्मा का सम्यक् श्रद्धान नियतस्वलक्षणतः सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के साथ उदित रहने से आप्त, आगम और पदार्थो की श्रद्धा मे शिथिलता उत्पन्न

---

१ बृहद्द्रव्यसग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा, ४१

२ धवला/पुस्तक ६/सूत्र २४/पृ० ४७

३ वही

४. वही/पुस्तक ६/चूलिका १/सूत्र २८/पृ० ५१

५ वही/चूलिका ८/सूत्र ११/पृ० २४५

करनेवाली कर्मप्रकृति को उपचार से सम्यक्त्व नाम दिया गया है।[१]

मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल — ये पाँच ज्ञान प्रमाण हैं। इनमे प्रथम दो परोक्ष प्रमाण हैं। यहाँ मतिज्ञान 'प्रथम' के नियत स्वलक्षण की अपेक्षा प्रथम है। क्रम मे द्वितीय होने पर भी प्रथम का समीपवर्ती होने से श्रुतज्ञान को उपचारत· प्रथम सज्ञा है।[२]

द्रव्यश्रुत के अध्ययन से उत्पन्न भावश्रुत की नियतस्वलक्षण के अभिप्राय से 'ज्ञान' सज्ञा है। ज्ञान का निमित्त होने से द्रव्यश्रुत के लिए उपचार से 'ज्ञान' सज्ञा का प्रयोग किया गया है।[३]

समस्त बाह्य पदार्थ नियतस्वलक्षण की अपेक्षा 'पदार्थ' कहलाते हैं। उनके निमित्त से केवली भगवान् के ज्ञान मे उन पदार्थों के ज्ञेयाकार झलकते हैं। उन्हे उपचार से पदार्थ कहा जाता है[४] और इस उपचार के आधार पर भगवान् व्यवहारनय से सर्वगत कहलाते हैं।[५]

इन समस्त प्रकरणो मे नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि एव उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि के अभिप्राय को जाननेवाला मनुष्य इन दोनो दृष्टियो से विचार करके समझ लेता है कि नियतस्वलक्षण की अपेक्षा प्रयुक्त की गयी सज्ञा (नाम) वास्तविक है और नियतस्वलक्षण के बिना उपचार से प्रयुक्त की गयी सज्ञा अवास्तविक। इस तरह वह अवास्तविक को वास्तविक समझने की भ्रान्ति से बच जाता है।

आत्माश्रितभावावलम्बिनी दृष्टि से मोक्षमार्ग का निर्णय

स्वात्मा का श्रद्धान, स्वात्मा का ज्ञान और स्वात्मलीनतारूप चारित्र

---

१ "तत्थ अत्तागम-पदत्थसद्धाए जस्सोदएण सिथिलत्त होदि, त सम्मत्त। कध तस्स सम्मत्तववएसो ? सम्मत्तसहचरिदोदयत्तादो उवयारेण सम्मत्तमिदि उच्चदे।"
धवला/पुस्तक ६/चूलिका १/सूत्र ११/पृ० ३९

२. "मतिश्रुतयो प्रथमत्व कथम् ? सत्यम्। प्रथम मतिज्ञान तन्मुख्यम् तस्य समीपवर्तित्वादुपचारेण श्रुतमपि प्रथममुच्यते।" तत्त्वार्थवृत्ति, १/११

३ "श्रुत हि तावत्सूत्रम्। तच्च भगवदर्हत्सर्वज्ञोपज्ञ स्यात्कारकेतनं पौद्गलिक शब्दब्रह्म। तज्ज्ञप्तिर्हि ज्ञानम्। श्रुत तु तत्कारणत्वात् ज्ञानत्वेनोपचर्यत एव।"
प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका, १/३४

४ "येन च कारणेन नीलपीतादिबहि·पदार्था आदर्शे बिम्बवत् परिच्छित्याकारेण ज्ञाने प्रतिफलन्ति तत कारणादुपचारेणार्थकार्यभूता अर्थाकारा अप्यर्था भण्यन्ते।"
वही/तात्पर्यवृत्ति १/२६

५ "व्यवहारनयेन भगवान् सर्वगत इति व्यपदिश्यते।" वही/तत्त्वदीपिका १/२६

आत्माश्रित (आत्मविषयक) भाव हैं। इनका मेल नियम से मोक्ष का हेतु है। इसलिए आत्माश्रितभाव का अवलम्बन कर मोक्षमार्ग का निर्णय करनेवाली दृष्टि निश्चयदृष्टि (निश्चयनय) होती है। उसके द्वारा अवलोकन करने पर इन आत्माश्रित भावो का समूह ही वास्तविक मोक्ष-मार्ग के रूप मे प्रकट होता है। इसीलिए आचार्य अमृत-चन्द्र ने कहा है — 'आत्माश्रितो निश्चयनय ',[१] तथा 'आत्माश्रितनिश्चयनया-श्रितानामेव मुच्यमानत्वात् ।'[२] अर्थात् आत्माश्रित निश्चयदृष्टि से ज्ञान मे आने वाले मोक्षमार्ग पर जो चलते है, वे ही मुक्त होते हैं।

इसके विपरीत जीवादि तत्त्वो का श्रद्धान, जीवादि तत्त्वो का ज्ञान एव जीवरक्षादिरूप चारित्र पराश्रित (परद्रव्यविषयक) भाव हैं। इनका सयुक्तरूप नियम से मोक्ष का हेतु नही है। जब आत्माश्रित मोक्षमार्ग के अवलम्बन की सामर्थ्य अर्जित करने के लिए उसका आश्रय किया जाता है तब परम्परया मोक्ष का हेतु होता है। केवल स्वर्गादि प्राप्त करने के उद्देश्य से अवलम्बन करने पर मोक्ष मे सहायक नही होता। अत. आत्माश्रित निश्चयमोक्षमार्ग का साधक बनकर परम्परया मोक्ष का हेतु होने से जिनेन्द्रदेव ने पराश्रित सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र के समूह को उपचार से मोक्ष-मार्ग सज्ञा दी है[३] जिससे उसकी परम्परया मोक्षहेतुता एव इस कारण उपादेयता की प्रतीति हो जाय।

निष्कर्ष यह कि आत्माश्रितभावावलम्बिनी निश्चयदृष्टि आत्माश्रित सम्यग्-दर्शनादि पर जाती है और युक्तिपूर्वक उनकी नियमेन मोक्षहेतुता के दर्शन करती है और इस तरह वह वास्तविक मोक्षमार्ग का बोध कराती है, साथ ही जिसे उपचार से मोक्षमार्ग सज्ञा दी गयी है उसमे मोक्षमार्ग का नियतस्वलक्षण न पाने के कारण वह उसे वास्तविक मोक्षमार्ग के रूप मे ग्रहण नही करती।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि निश्चयनय ज्ञाता की वह दृष्टि है जो मूल-पदार्थ, मूल-स्वभाव, मौलिक भेद, मौलिक अभेद, नियतस्वलक्षण एव आत्माश्रित भाव के आधार पर वस्तुस्वरूप का निर्णय करती है और ज्ञाता को इन सबका तथा इन पर आश्रित वस्तु के विभिन्न धर्मों का बोध कराती है। वह दृष्टि व्यवहारनय द्वारा बतलाये गये रूप को वस्तु का मूलरूप नही मानती, उसके द्वारा निरूपित स्वभाव को वस्तु का मूलस्वभाव नही मानती, उसके द्वारा दिखलाये

---

१. समयसार/आत्मख्याति/गाथा, २७२

२ वही

३ (क) "पराश्रितो व्यवहारनय:।" वही

(ख) "एव पराश्रितत्वेन व्यवहारमोक्षमार्ग प्रोक्त इति।"

वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, २७२

गये गुण-गुणी भेद को मौलिक भेद के रूप मे स्वीकार नहीं करती, उसके द्वारा परद्रव्य से जो सम्बन्ध दर्शाये गये है, उन्हे वस्तु की सत्ता के भीतर अस्वीकार करती है तथा परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले जो भाव आत्मा के भाव कहे गये हैं, उन्हे आत्मा का स्वाभाविक भाव नही मानती, इसी प्रकार उपचार से जिन्हे जीवादि पदार्थ कहा गया है, उन्हे वास्तविक जीवादि के रूप मे ग्रहण नही करती।

निष्कर्ष यह कि ज्ञाता की निश्चयनयरूप दृष्टि पुद्गलसंयुक्त आत्मा की आत्मा के रूप मे प्रतीति न कराकर मूल (स्वतन्त्र) आत्मा की ही आत्मा के रूप मे प्रतीति कराती है, दर्शनज्ञानादि स्वभावविशेषो को आत्मस्वभाव के रूप मे न दर्शाकर एक चैतन्यभावरूप मूलस्वभाव को ही आत्मस्वभाव के रूप मे दर्शाती है, आत्मा और दर्शनज्ञानादि गुणो मे जो सज्ञादि का भेद है उसका अनुभव न कराकर प्रदेश की अपेक्षा जो अभेद है उसका ही अनुभव कराती है, परद्रव्य से जो बाह्य सम्बन्ध हैं उनका बोध न कराकर उनसे जो प्रदेशगत भिन्नता है उसका ही बोध कराती है तथा आत्मा मे जो कर्मनिमित्तक रागादिभाव उत्पन्न होते हैं उनका आत्म-भाव के रूप मे निश्चय न कराकर एक चैतन्यभाव का ही आत्मस्वभाव के रूप मे निश्चय कराती है। इस प्रकार वह शुद्ध आत्मा का निश्चय कराती है।

निश्चयनयात्मक उपदेश के प्रयोजन

अब इस बात पर विचार किया जा रहा है कि निश्चयनय का अवलम्बन कर जो उपदेश दिया जाता है उसके प्रयोजन क्या है ?

मिथ्याधारणाओं का विनाश

अनादिकाल से मिथ्यात्व के कारण तथा मिथ्या उपदेश के कारण आत्मस्वरूप तथा मोक्षमार्ग के विषय मे जीव की जो मिथ्या धारणाएँ चली आती है, निश्चयनयात्मक उपदेश से वे नष्ट हो जाती हैं तथा आत्मा के मौलिक स्वरूप एव मोक्ष के वास्तविक मार्ग का ज्ञान होता है जो सम्यग्दर्शन के लिए आवश्यक है।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते है — "इस जीव ने अनादिबद्धकर्मों के द्वारा विषयतृष्णा उत्पन्न किये जाने के कारण इन्द्रिय सुख की प्राप्ति के उपायो तथा इन्द्रियसुख का तो काफी ज्ञान और अनुभव किया है, इसके बारे मे उसे दूसरो से भी काफी उपदेश मिला है और उसने भी दूसरो को बहुत कुछ सिखाया है, किन्तु, आत्मा के यथार्थ स्वरूप का न तो आज तक उसे स्वय ज्ञान हो पाया है, न ही उसे दूसरो से प्राप्त करने का अवसर मिला है। कारण यह है कि आत्मा का शुद्ध चैतन्यस्वभाव कषायो से मिश्रित होने के कारण, एक तो स्वय जीव की

दृष्टि में नही आता, दूसरे, जीव ने उसे जानने के लिये कभी आत्मज्ञानियो की संगति नही की।"[१]

तात्पर्य यह कि अनादिमोह से ग्रस्त होने के कारण जीव अपने शुद्ध चैतन्यभावरूप मौलिक स्वरूप से अपरिचित होता है।[२] आत्मा अतीन्द्रिय तत्त्व है, इन्द्रियो से दिखाई नही देता। संसारावस्था मे देह और रागादि के साथ वह इस प्रकार घुला-मिला रहता है जैसे दूध और पानी। इसलिए शरीर और रागादि से पृथक् तत्त्व के रूप मे उसका बोध नही होता। जीव को शरीर ही चलता-फिरता, खाता-पीता, राग-द्वेष करता, सुख-दु·ख भोगता तथा जीता-मरता दिखाई देता है, अतः वह उसे ही आत्मा समझता है, अर्थात् चेतना को शरीर का ही धर्म मानता है और चेतना का शरीर से पृथक् अस्तित्व-बोध न होने के कारण शरीर मे ही अपना अस्तित्व समझता है। इसलिए शरीर के उत्पन्न होने से अपनी उत्पत्ति मानता है और शरीर के नष्ट होने से अपना नाश। कुछ लोग मानते हैं कि रागादिभावो से अलग चेतना की प्रतीति नही होती, अतः रागादिभाव ही आत्मा है। कुछ का मत है कि सुख-दु.खादि के अनुभव से भिन्न कोई चेतन-तत्त्व ज्ञान मे नही आता, इसलिए सुख-दु.खानुभूति ही आत्मा है।[३]

इतना ही नही, जीव के साथ ससारावस्था मे जिन शरीर, परिवार, धन-धान्य आदि पदार्थों का सयोग होता है उनके साथ वह अपना शाश्वत सम्बन्ध मानता है, अर्थात् अपने को अकेला नही मानता, अपितु ससार के कुछ पदार्थो से सम्बद्ध मानता है, किसी के साथ अपने को पिता के रूप मे सम्बद्ध मानता है, किसी के साथ पुत्र के रूप मे, किसी के साथ पति के रूप मे, किसी के साथ पत्नी के रूप मे। इसी प्रकार धन-धान्य से भी अपने को सम्बद्ध मानता है।[४]

जीव के योग और उपयोग के निमित्त से पुद्गलद्रव्य कर्मरूप मे बदल जाता है तथा मिट्टी आदि द्रव्य घट आदि पर्यायो मे परिणत हो जाते हैं, इससे वह समझता है कि मै पुद्गलकर्मों तथा घटादि परद्रव्यों का कर्त्ता हूँ।[५] उसके योगोपयोग के निमित्त से पुद्गल की कर्म एव घट आदि पर्याये नष्ट भी हो जाती हैं। यह देखकर वह मानता है कि मैं परद्रव्य का विनाशक हूँ। इसी प्रकार दया-भाव एव यत्नाचार के निमित्त से परजीवो के शरीर का घात नही हो पाता तथा

१. समयसार/आत्मख्याति/गाथा, ४
२. "मोह महामद पियो अनादि भूल आपको भरमत वादि।" छहढाला, १/२
३. समयसार/आत्मख्याति/गाथा, ३९-४३
४. वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, २०-२२
५ वही/आत्मख्याति/गाथा, १०५

हिंसाभाव एव प्रमत्तयोग के निमित्त से हो जाता है। इससे वह समझता है कि मैं दूसरो को मार सकता हूँ, बचा सकता हूँ, उनका भला-बुरा कर सकता हूँ।

इन्द्रियों के साथ इष्टानिष्ट विषयो का संसर्ग होने से आत्मा को सुख-दु ख की अनुभूति होती है, जो आत्मा की ही पर्यायो का वेदन है, किन्तु इस कारण जीव अपने को विषयो का भोक्ता समझता है। ससार के पदार्थ सुख-दु·ख के हेतु नही है। उनके निमित्त से मोही जीव स्वयं सुख-दु·खरूप से परिणत होता है, किन्तु उसे पदार्थ ही सुख-दुःख के स्रोत प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार शुद्धोपयोगरूप परमार्थ मोक्षमार्ग से अनभिज्ञ होने के कारण वह शुभप्रवृत्तियो को ही मोक्ष का परमार्थ मार्ग मान लेता है।

इस प्रकार अनादि मिथ्यात्व तथा एकान्तव्यवहाराश्रित मिथ्या उपदेश के फलस्वरूप अथवा व्यवहार को निश्चयनिरपेक्ष होकर ग्रहण करने के कारण जीव अनेक मिथ्याधारणाओ के जाल मे फँस जाता है। इनका विनाश निश्चयनयात्मक उपदेश के ग्रहण करने से होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं — "भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो"[१] अर्थात् मूलपदार्थावलम्बी निश्चयनय का (व्यवहारनय के विषय का निषेध न करते हुए) आश्रय लेने से जीव सम्यग्दृष्टि होता है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मिथ्याविकल्पो का नाश होने पर होती है। मिथ्या-विकल्पो का विनाश भूतार्थ को जानने से होता है। इस तथ्य की ओर दृष्टि आकर्षित करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है —

"अज्ञानी जीव ऐसे मिथ्या विकल्प करता है कि मैं देह हूँ, देह मेरा स्वरूप है, स्त्री-पुत्रादि चेतन पदार्थ तथा धन-धान्यादि अचेतन पदार्थ मेरे हैं, मेरे थे और मेरे रहेगे। किन्तु जब भूतार्थ (निश्चयनय द्वारा दर्शित शुद्ध आत्मस्वरूप) को जान लेता है तब ये विकल्प छोड़ देता है।"[२]

आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं — "जो साधु शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मक निश्चयनय से निरपेक्ष होकर अशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मक व्यवहारनय का आश्रय लेता है वह मिथ्यात्वग्रस्त होकर देह और धनादि परद्रव्य से ममत्व नही छोड़ पाता। फलस्वरूप शुद्धात्मपरिणतिरूप मोक्षमार्ग को दूर से छोड़कर अशुद्धात्मपरिणतिरूप उन्मार्ग पर ही चलता है। इससे सिद्ध है कि अशुद्धनय के आश्रय से अशुद्धात्मा

---

१. समयसार/गाथा, ११
२ वही/गाथा, २०-२३

की ही प्राप्ति होती है।[१] किन्तु जो साधु केवल स्व-विषय मे प्रवृत्त होने वाले अशुद्ध-द्रव्यनिरूपक व्यवहारनय का विरोध नही करता, अपितु मध्यस्थ होकर शुद्ध द्रव्य-निरूपणात्मक निश्चयनय के आश्रय से मोह को दूर करता है उसे इस सत्य की अनुभूति हो जाती है कि न तो किसी परद्रव्य से मेरा सम्बन्ध है, न किसी परद्रव्य का मुझसे। मै शुद्धज्ञानात्मक एक अकेला तत्त्व हूँ। इस अनुभूति से वह परद्रव्यरूप अनात्मा को छोड़कर आत्मा को ही आत्मा के रूप मे ग्रहणकर, आत्मा मे ही ध्यान केन्द्रित करता है। उस एकाग्रचिन्तानिरोध के समय वह शुद्धात्मा ही रह जाता है। अत· निश्चित होता है कि शुद्धनय से ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है।''[२]

समयसारकलश मे उन्होने कहा है — ''अनादिकाल से ही अज्ञानी जीवो की *यह महामिथ्या धारणा बनी हुई है कि 'मै परद्रव्य का कर्त्ता हूँ।' यदि निश्चयनय के ग्रहण से यह एक बार भी नष्ट हो जाय तो फिर जीव कभी बन्धनग्रस्त नही* हो सकता।''[३]

निश्चयनय के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए आचार्य अमृतचन्द्र समयसार की व्याख्या मे कहते हैं —

''जो जीव यह मिथ्या मान्यता रखते है कि मै श्रमण (मुनि) हूँ अथवा श्रमणोपासक (श्रावक) हूँ, इन्ही बाह्य लिगो से मुझे मोक्ष प्राप्त हो जायेगा, वे व्यवहाराभासी है। वे विवेक से परिपूर्ण निश्चयनय का अवलम्बन न करने के कारण परमार्थसत्य भगवान् समयसार के दर्शन मे समर्थ नही होते।''[४]

''मुनिधर्म और श्रावकधर्म को व्यवहारनय से मोक्षमार्ग नाम दिया गया है,

---

१ ''यो हि नाम शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयनयनिरपेक्षोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मक-व्यवहारनयोपजनितमोह सन् अहमिद ममेदमित्यात्मात्मीयत्वेन देहद्रविणादौ परद्रव्ये ममत्व न जहाति ' ।'' प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका २/९८

२ ''यो हि नाम स्वविषयमात्रप्रवृत्ताशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकव्यवहारनयाविरोधमध्यस्थ शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयनयापहस्तितमोह सन् नाह परेषामस्मि न परे मे सन्तीति स्वपरयो परस्परस्वस्वामिसम्बन्धमुद्धूय ।'' वही, २/९९

३ आससारत एव धावति पर कुर्वेऽहमित्युच्चकै
दुर्वार ननु मोहिनामिह महाहङ्काररूपो तम· ।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलय यद्येकवार ब्रजेत्
तत्किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मन ।। समयसार/कलश, ५५

४ ''ये खलु श्रमणोऽह श्रमणोपासकोऽहमिति द्रव्यलिङ्गममकारेण मिथ्याहङ्कार कुर्वन्ति तेऽनादिरूढव्यवहारविमूढा प्रौढविवेक निश्चयमनारूढा परमार्थसत्यं भगवन्त समयसार न पश्यन्ति।'' वही/आत्मख्याति/गाथा, ४१३

वे परमार्थत. मोक्षमार्ग नहीं हैं, शुद्धात्मानुभूति परमार्थतः मोक्षमार्ग है।[1] अत. जो व्यवहार को ही परमार्थ मान लेते हैं वे समयसार (शुद्धात्मा) का अनुभव नही कर पाते। परमार्थ को ही परमार्थबुद्धि से ग्रहण करने वालों को समयसार का अनुभव होता है।''[2]

''जो मनुष्य व्यवहार को ही परमार्थरूप से ग्रहण करते हैं उनका परमार्थ को प्राप्त कर पाना असम्भव है। तुष को ही चावल समझ लेनेवाले तुष ही प्राप्त करते हैं, चावल नही।''[3]

ये कथन इस तथ्य पर प्रकाश डालते हैं कि आत्मा और मोक्षमार्ग के विषय मे जीव की जो अनादि मिथ्याबुद्धियाँ होती हैं और जो मिथ्या उपदेश तथा निश्चयनिरपेक्ष व्यवहार के अवलम्बन से पुष्ट हो जाती है, वे व्यवहारसापेक्ष निश्चयनय का आश्रय लेने से ही दूर होती हैं।

सम्यक् धारणाओं की उत्पत्ति

निश्चयनय के उपदेश से अनादि मिथ्या धारणाओ का विनाश होता है और सम्यक् धारणाएँ उत्पन्न होती है। निश्चयनयात्मक उपदेश पाकर जीव को यह ज्ञान होता है कि मैं मूलत शुद्धचैतन्यस्वरूप हूँ, मोहरागादिभाव मेरे मौलिक स्वरूप मे विद्यमान नही हैं। मेरे साथ संयुक्त पुद्गलकर्म, शरीर तथा अन्य जड़पदार्थ भी मेरे स्वरूप मे शामिल नही हैं, मुझसे पृथक् है, क्योंकि वे जड़स्वभावात्मक हैं। स्त्रीपुत्रादि चेतनपदार्थ भी मुझसे भिन्न हैं, क्योंकि उनके प्रदेश (सत्ता) भिन्न हैं। मैं स्वरूप को छोड़कर किसी भी परद्रव्य का रूप धारण नही करता, न ही किसी परद्रव्य की सत्ता मेरी सत्ता के भीतर समाविष्ट होती है। इसलिए मै न तो परद्रव्य का कर्त्ता हूँ, न भोक्ता, न रक्षक, न नाशक। इसी प्रकार परद्रव्य भी मेरा कर्त्ता-भोक्ता आदि नही है। मै एक अखण्ड तत्त्व हूँ, मेरे गुणपर्याय मुझसे अभिन्न है। मैं मूलतः एकस्वभावात्मक हूँ, अनादि और अनन्त हूँ। मैं न जन्म लेता हूँ, न मरता हूँ। सुख मेरा स्वभाव है। अत मेरी अनुभूति मे आनेवाला सुख मुझसे ही उद्भूत होता है, किसी परद्रव्य से नही आता। निश्चयनयात्मक उपदेश से अपने इस मौलिक स्वरूप का ज्ञान होने पर इसकी प्राप्ति जीवन का लक्ष्य बन जाती है।

---

१ समयसार/आत्मख्याति/गाथा, ४१४

२ ''ततो ये व्यवहारमेव परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते ते समयसारमेव न चेतयन्ते। य एव परमार्थं परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते त एव समयसार चेतयन्ते।'' वही

३. ''व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः ।
तुषबोधविमुग्धबुद्धय कलयन्तीह तुष न तण्डुलम् ।। वही/कलश, २४२

निश्चयनय द्वारा दिये गये उपदेश से जीव को यह भी ज्ञात होता है कि मुझे ससार-बन्धन मे बॉधने वाला मूलकारण मेरी अपनी अशुद्ध परिणति है और उससे मुक्त होने का उपाय है मेरा अपना शुद्ध परिणमन अर्थात् शुद्धोपयोग। यह ज्ञान होने पर जीव शुद्धात्मपरिणाम को ही साधने का प्रयत्न करता है।

स्वपद का निश्चय

निश्चयनय जीव को स्वपद का बोध कराता है। आत्मा मे दिखाई देने वाले भावो मे से जो निश्चयनय से आत्मा का सिद्ध होता है वही उसका अपना पद है अर्थात् आत्मा के स्थित होने योग्य स्थान है, क्योंकि वह ध्रुव (स्थायी) है[1] और विपदाओ से रहित है।[2] उसमे स्थित होकर आत्मा निराकुलता का अनुभव करते हुए कर्मबन्ध से मुक्त हो जाता है। इसलिए वही उपलब्ध करने योग्य है। आत्मा का वह भाव है शुद्धचैतन्यस्वभाव। दर्शनज्ञानादि गुण उससे अभिन्न हैं तथा शरीरादि परद्रव्य एव मोहरागादि परभाव भिन्न हैं, इसलिए अद्वैत (एक) होने के कारण, वह शुद्ध है।[3] इसके अतिरिक्त जितने भी शरीरादि परद्रव्य एव शुभाशुभ भाव है वे आत्मस्वरूप से पृथक् हैं तथा अध्रुव है, इस कारण विपदाओ के स्थान (ससार के हेतु) है अत आत्मा के पद नही है (उसके स्थित होने योग्य स्थान नही है)। निश्चयनयात्मक उपदेश से शुद्धचैतन्यस्वभाव के ही आत्मपद होने का निश्चय होता है।[4] निश्चय होने पर जीव उसमे स्थित होने का प्रयत्न करता है और कर्मबन्धन काटकर मोक्ष पा लेता है। यह निश्चयनयात्मक उपदेश का एक महान् प्रयोजन है।

---

१ "इह खलु भगवत्यात्मनि बहूना द्रव्यभावाना मध्ये ये किल अतत्स्वभावेनोपलभ्यमाना अनियतत्वावस्था , अनेके, क्षणिका व्यभिचारिणो भावा· ते सर्वेऽपि स्वयमस्थायित्वेन स्थातुः स्थान भवितुमशक्यत्वादपदभूता । यस्तु तत्स्वभावेनोपलभ्यमानो नियतत्वावस्थ , एक , नित्य अव्यभिचारी भाव स एक एव स्वय स्थायित्वेन स्थातु स्थान भवितु शक्यत्वात् पदभूत । तत· सर्वानेवास्थायिभावान् मुक्त्वा स्थायिभावभूत परमार्थरसतया स्वदमान ज्ञानमेकमेवेद स्वाद्यम्।"

समयसार/आत्मख्याति/गाथा, २०३

२ एकमेव हि तत्स्वाद्य विपदामपद पदम् ।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुर ।। वही/कलश, १३९

३ "न किञ्चनाप्यन्यत् शुद्धत्व चात्मन परद्रव्यविभागेन, स्वधर्माविभागेन चैकत्वात्।"

प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका, २/१००

४ "एव शुद्ध आत्मा चिन्मात्रशुद्धनयस्य तावन्मात्र-निरूपणात्मकत्वाद् अयमेक एव च ध्रुवत्वाद् उपलब्धव्य , किमन्यैरध्वनीनाङ्गसङ्गच्छमानानेकमार्गपादपच्छायास्थानीयैरध्रुवैः।" वही/तत्त्वदीपिका २/१००

मन:स्थिति में परिवर्तन

निश्चयनयात्मक उपदेश से जब जीव स्वय को देह से भिन्न चिन्मात्र ज्योति समझ लेता है, तब जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधि का भय समाप्त हो जाता है। पर मे आसक्ति नही रहती। पर के कर्त्ता-हर्त्ता होने के अहकार से वह मुक्त हो जाता है। इससे परमशान्ति का आविर्भाव होता है। प्रत्येक जीव मे एक जैसी शक्तियाँ है, प्रत्येक आत्मा परमात्मा बनने की योग्यता रखता है, जीवो की इस समानता के बोध से सब जीवो के प्रति समभाव उत्पन्न होता है, प्राणिमात्र के प्रति मैत्री उदित होती है। कोई बड़ा, कोई छोटा, कोई ऊँचा, कोई नीचा, कोई स्पृश्य, कोई अस्पृश्य, कोई अपना, कोई पराया प्रतीत नही होता। सबमे समानस्वरूपात्मक ब्रह्म के दर्शन होते हैं। तब किसी के प्रति न राग का भाव रहता है, न द्वेष का, न हिसा की भावना उत्पन्न होती है, न अहकार। लौकिक जीवन मैत्रीपूर्ण हो जाता है।

●

तृतीय अध्याय

असद्भूतव्यवहारनय

पूर्व मे प्रतिपादित किया गया है कि ज्ञाता की जो दृष्टि सोपाधिक (परद्रव्यसयुक्त) पदार्थ, औपाधिकभाव, स्वभावविशेष (विशिष्टस्वभाव), बाह्य-भेद, बाह्यसम्बन्ध, पराश्रितभाव एव उपचार के आधार पर वस्तुस्वरूप का निर्णय करती है उसे व्यवहारनय कहते हैं। इनमे सोपाधिक पदार्थ, औपाधिकभाव, बाह्य-सम्बन्ध एव उपचार असद्भूतव्यवहारनय के विषय है तथा बाह्यभेद एव स्वभावविशेष सद्भूतव्यवहारनय के। पराश्रितभाव बाह्यसम्बन्ध मे गर्भित है।

असद्भूतव्यवहारनय मे परस्पर विपरीत विषय समाविष्ट हैं। यह वास्तविक विषय का अवलम्बन करके भी प्रवृत्त होता है और अवास्तविक का भी। उदाहरणार्थ, सोपाधिक पदार्थ, औपाधिकभाव, बाह्यसम्बन्ध तथा उपचार, इन चार का अवलम्बन कर यह वस्तुस्वरूप का निर्णय करता है। इनमे प्रथम तीन विषय वास्तविक हैं तथा अन्तिम अर्थात् उपचार (उपचार से दिया गया नाम) अवास्तविक।

यद्यपि आलापद्धतिकार ने अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म के अन्यत्र समारोपण को असद्भूतव्यवहार कहा है और असद्भूतव्यवहारनय को ही 'उपचार' सज्ञा दी है,[1] तथापि एक अन्य सूत्र मे असद्भूतव्यवहारनय को भिन्नवस्तुसम्बन्ध का भी प्रतिपादक कहा है[2] और भिन्नवस्तु-सम्बन्ध यथार्थ है। अत असद्भूतव्यवहारनय का विषय वास्तविक पदार्थ भी है। इसके अतिरिक्त कर्मो के उदय के निमित्त से होने वाली मनुष्यादि सोपाधिक पर्यायो, मोह-रागादि औपाधिक भावो तथा कर्मों के उपशम, क्षयोपशम आदि के निमित्त से होनेवाले औपाधिभावो को भी, जो वास्तविक है, जयसेन आदि आचार्यों ने तथा पञ्चाध्यायीकार ने असद्भूतव्यवहारनय का विषय बतलाया है।[3] इसका स्पष्टीकरण इसी अध्याय मे आगे किया जायेगा तथा 'व्यवहार-

---

१ "अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहार·। असद्भूतव्यवहार एवोपचार·।" आलापपद्धति/सूत्र, २०७-२०८

२. "भिन्नवस्तुसम्बन्धविषयोऽसद्भूतव्यवहार.।"
वही/पादटिप्पणी/द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र, पृ० २२८

३ (क) "अशुद्धनिश्चयोऽपि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव।"
समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, ११३-११५

नय के भेद' नामक अध्याय में भी इस पर प्रकाश डाला जायेगा।

यदि केवल अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म के अन्यत्र समारोपण को असद्भूतव्यवहार-नय माना जाय, तो जैसे मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहना सर्वथा असत्य होता है, वैसे ही शरीरादिपर्यायो और रागादिभावो को असद्भूतव्यवहारनय से सोपाधिक जीव की पर्याये कहना भी मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहने के समान सर्वथा असत्य हो जायेगा। इसी प्रकार जीवपरिणाम और पुद्गलपरिणाम मे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तथा परद्रव्य और आत्मा मे ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध भी असद्भूतव्यवहारनय से ही घटित होते हैं। ये सम्बन्ध भी मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहने के समान सर्वथा मिथ्या सिद्ध होगे।

अत· स्पष्ट है कि असद्भूतव्यवहारनय का विषय मात्र उपचार नही है, अपितु सोपाधिक पदार्थ, तज्जन्य औपाधिकभाव एव परद्रव्यसम्बन्ध की वास्तविकता का बोध कराना भी है। फलस्वरूप इस नय के वास्तविक और अवास्तविक विषयो को स्पष्ट करने के लिए यहाँ असद्भूतव्यवहारनय के तीन भेद किये गये हैं . उपाधिमूलक, बाह्यसम्बन्धमूलक एव उपचारमूलक। प्रस्तुत अध्याय मे प्रथम तीन वास्तविक विषयो से सम्बन्धित असद्भूतव्यवहारनय का ही अनुशीलन किया जायेगा।

उपाधिमूलक असद्भूतव्यवहारनय

(सोपाधिकपदार्थावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि)

जो तत्त्व वस्तु मे अस्वाभाविकभाव की उत्पत्ति का प्रयोजक (प्रेरक) होता है, उसे उपाधि कहते है — 'प्रयोजकश्चोपाधिरित्युच्यते।'[1] उससे युक्त पदार्थ सोपाधिक पदार्थ कहलाता है। जीव के साथ अनादि से शरीर और द्रव्यकर्मों के रूप मे पुद्गलद्रव्य का सयोग है, जिसके निमित्त से जीव की अनेक अस्वाभाविक अवस्थाएँ होती है। अत पुद्गलद्रव्य जीव की उपाधि है और पुद्गलरूप उपाधि से युक्त जीव सोपाधिक जीव। इसे अशुद्ध जीव या अशुद्धोपादानात्मक जीव भी कहते हैं।[2] इसी प्रकार जीव के शुभाशुभ परिणाम के निमित्त से पुद्गलद्रव्य भी

(ख) अपि वाऽसद्भूतोऽनुपचरिताख्यो नय स भवति यथा ।
क्रोधाद्या जीवस्य हि विवक्षिताश्चेदबुद्धिभवा· ।।

पञ्चाध्यायी/प्रथम अध्याय/श्लोक, ५४६

१ तर्कभाषा/केशवमिश्र, पृ० ७५

२ "हे भगवन् ! रागादीनामशुद्धोपादानरूपेण कर्तृत्व भणित तदुपादान शुद्धाशुद्धभेदेन कथ द्विधा भवतीति ? तत्कथ्यते। औपाधिकमुपादानमशुद्ध तप्ताय पिण्डवत्। निरुपाधिरूप-मुपादानं शुद्धं पीतत्वादिगुणाना सुवर्णवत् ··· ।"

समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, १०२

कर्मरूप मे परिणमित होता है, अत· जीवरूप उपाधि से युक्त पुद्गलद्रव्य सोपाधिक पुद्गल है।

पुद्गलकर्मरूप उपाधि के निमित्त से जीव मे चार प्रकार के भावो की उत्पत्ति होती है : औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक एव क्षायिक।[1] ये अशुद्ध और शुद्ध दोनों प्रकार के होते हैं। पुद्गलकर्मरूप उपाधि का जब उदय होता है तब मोह-रागादि अशुद्ध भावो की उत्पत्ति होती है, जब उपशम, क्षयोपशम तथा घातिकर्मों का क्षय होता है तब एकदेशशुद्ध भावो की[2] और जब समस्त पुद्गलकर्मों का क्षय होता है तब पूर्णशुद्ध भावो की उत्पत्ति होती है। किन्तु, ये शुद्ध होते हुए भी उपाधि-हेतुक होने से स्वाभाविक नही है, औपाधिक है, इसलिए शुद्धचैतन्यरूप पारिणामिक-भाव के समान स्वभावभाव न होकर विभावभाव है, परमभाव न होकर अपरमभाव हैं, स्वभाव न कहलाकर परभाव कहलाते हैं।[3]

मोहनीय आदि कर्मों के उदय से जीव के मिथ्यात्व, कषाय, अज्ञान और असयमरूप परिणाम होते हैं, सिद्धत्व तिरोहित हो जाता है, वह मनुष्य, देव, तिर्यच और नारक पर्यायो मे ससरण करता है, स्त्री, पुरुष, नपुसक ये तीन लिग धारण करता है तथा छह लेश्याओ की अवस्था को प्राप्त होता है। इसलिए जीव की ये अशुद्ध अवस्थाएँ औपाधिक हैं, स्वाभाविक नही। इस कारण इनका बोध सोपाधिक पदार्थ का अवलम्बन करनेवाली दृष्टि से देखने पर होता है। अत· जीव के साथ इनका सम्बन्ध उपाधिमूलक असद्भूतव्यहारनय से घटित होता है। इसी नय के आधार पर आचार्य कुन्दकुन्द ने राग, द्वेष, मोह को जीव का स्वकीय परिणाम कहा है, 'रागो दोसो मोहो जीवस्सेव अणण्णपरिणामा'[4] तथा आचार्य जयसेन ने जीव को अशुद्धोपादानरूप से (जो कर्मोपाधिहेतुक है)[5] रागादि भावो का कर्त्ता कहा है —

---

१ "तत्रोदयेन युक्त औदयिक। उपशमेन युक्त औपशमिक। क्षयोपशमेन युक्त क्षायोपशमिक.। क्षयेण युक्त· क्षायिक। परिणामेन युक्त पारिणामिक। त एते पञ्च जीवगुणा। तत्रोपाधिचतुर्विधत्वनिबन्धनाश्चत्वार। स्वभावनिबन्धन एक।"

पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा, ५६

२ "सयोग्ययोगिगुणस्थानद्वये विवक्षितैकदेशशुद्धनयेन सिद्धसदृश परमात्मा।"

बृहद्द्रव्यसग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा, १४

३ "औदयिकादिचतुर्णां विभावस्वभावपरभावानाम्।"

नियमसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १३ एव ११०

४ समयसार/गाथा, ३७१

५ "कर्मोपाधिसमुत्पन्नत्वाद् अशुद्ध·, तत्काले तप्ताय पिण्डवत् तन्मयात्वाच्च निश्चय, इत्युभयमेलापकेनाशुद्धनिश्चयोभण्यते।" बृहद्द्रव्यसग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा, ८

"अज्ञानी जीवोऽशुद्धनिश्चयनयेनाशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादिभावाना-मेव कर्त्ता, न च द्रव्यकर्मण:।"[१]

— अर्थात् अज्ञानीजीव अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा अशुद्ध उपादानरूप में मिथ्यात्वरागादिभावों का ही कर्ता है, द्रव्यकर्म का नही।

अशुद्धनिश्चयनय अशुद्ध उपाधिमूलक असद्भूतव्यवहारनय का ही नामान्तर है।[२] असद्भूत का अर्थ है जो जीव मे स्वत:सिद्ध नही है, उपाधिमूलक से अभिप्राय है जो उपाधि के कारण उत्पन्न हुआ है और व्यवहार का अर्थ है उसे जीव से सम्बन्ध देखना या दर्शाना।

यदि सोपाधिकपदार्थावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि से न देखकर मूलपदार्था-वलम्बिनी निश्चयदृष्टि से देखा जाय, तो जीव में मोहरागादि औदयिक भावो का अस्तित्व दिखाई नही देगा, क्योंकि कर्मोपाधिरहित शुद्ध आत्मद्रव्य मोहरागादि-स्वभावात्मक नही है, शुद्धचैतन्यस्वभावात्मक है।[३]

मोहनीय कर्म के उपशम से जीव मे औपशमिक सम्यग्दर्शन एव औपशमिक सम्यक्चारित्र की अभिव्यक्ति होती है। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जीव के ज्ञानगुण की मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय, कुमति, कुश्रुत एव कुअवधि (विभग) पर्याये तथा दर्शनावरण के क्षयोपशम से दर्शनगुण की चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन एव अवधिदर्शन ये तीन पर्याये प्रकट होती है। मोहनीय के क्षयोपशम से सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र तथा सयमासयम का एव अन्तराय के क्षयोपशम से दान, लाभ, भोग, उपभोग एव वीर्य इन पॉच लब्धियो का आविर्भाव होता है। मोहनीय कर्म का क्षय होने पर क्षायिक सम्यक्त्व, एव क्षायिक सम्यक्चारित्र तथा ज्ञानावरणादि का क्षय होने पर केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य एव दानादि क्षायिक लब्धियाँ उदित होती हैं। इसलिए जीव की ये पर्याये भी औपाधिक हैं, जिससे इनके जीवसम्बद्ध होने का ज्ञान सोपाधिकपदार्थावलम्बिनी असद्भूत-व्यवहारदृष्टि से निरीक्षण करने पर होता है। मूलपदार्थावलम्बिनी निश्चयदृष्टि जीव के शुद्धचैतन्यरूप पारिणामिक भाव पर ही जाती है, अत उसके द्वारा देखने पर जीव मे इन औपाधिक भावो का अस्तित्व सिद्ध नही होता।

---

१ समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, १०२

२ "स चाशुद्धनिश्चयो यद्यपि द्रव्यकर्मकर्तृत्वरूपासद्भूतव्यवहारापेक्षया निश्चयसज्ञा लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव।" वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, १०२

३. "बहिर्दृष्ट्या नवतत्त्वान्यमूनि जीवपुद्गलयोरनादिबन्धपर्यायमुपेत्यैकत्वेनानुभूयमानताया भूतार्थानि। अथ चैकजीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि।"

वही/आत्मख्याति/गाथा, १३

यत: सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्चारित्र जीव की औपशमिक, क्षायोपशमिक एवं क्षायिक पर्याये हैं, इन्ही का सम्मिलित रूप शुद्धोपयोग कहलाता है जो मोक्ष का वास्तविक मार्ग है, अत· शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्ग भी जीव की औपाधिक पर्याय है।[१] इसलिए सोपाधिकपदार्थावलम्बिनी असद्भूत व्यवहारदृष्टि से देखने पर ही जीव मे इस पर्याय के अस्तित्व का बोध होता है। निरुपाधिक मूल-पदार्थावलम्बिनी दृष्टि से देखने पर इसका अस्तित्व दिखाई नहीं देता। आचार्य कुन्दकुन्द ने इस (मूलपदार्थावलिम्बनी) दृष्टि का अवलम्बनकर उपर्युक्त समस्त भावो का जीव मे अभाव बतलाया है, क्योकि जीव के साथ उनका स्वाभाविक सम्बन्ध नही है, अपितु औपाधिक सम्बन्ध है। समयसार की छह गाथाओ मे उन्होने वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त अनेक भावो के जीव मे होने का निषेध किया है जिनमे उपर्युक्त सभी औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक एव चतुर्दश गुणस्थान तक के क्षायिक भाव आ जाते है। वे कहते हैं —

"(निश्चनयनय से विचार करने पर निश्चित होता है कि) जीव मे न वर्ण है, न गन्ध है, न रस है, न स्पर्श है, न रूप है, न शरीर है, न सस्थान है, न सहनन है। जीव मे न राग है, न द्वेष है, न मोह है, न प्रत्यय हैं, न कर्म हैं, न नोकर्म। जीव मे न वर्ग हैं, न वर्गणा हैं, न स्पर्द्धक हैं, न अध्यात्मस्थान हैं, न अनुभागस्थान। जीव मे न योगस्थान हैं, न बन्धस्थान, न उदयस्थान, न मार्गणास्थान। जीव मे न स्थितिबन्धस्थान हैं, न सक्लेशस्थान, न विशुद्धिस्थान, न सयमलब्धिस्थान। जीव मे न जीवस्थान है, न गुणस्थान। ये सब पुद्गलकर्मनिमित्तक होने से पुद्गल के परिणाम है।[२] चूँकि ये कर्मोपाधि के निमित्त से जीव मे होते है, इसलिए निरुपाधिक (मूल) पदार्थावलम्बिनी दृष्टि से देखने पर जीव मे इनका अस्तित्व दिखाई नही देता, सोपाधिकपदार्थावलम्बिनी दृष्टि से देखने पर ही दिखाई देता है। इसलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चयनय से निषेधकर व्यवहारनय (उपाधिकमूलक असद्भूतव्यवहारनय) से इन्हे जीव का कहा है —

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवति वण्णमादीया ।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ।।[३]

---

१ "तत्र च यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तेर्व्यक्तिर्भवति तदाय जीव सहजशुद्ध-पारिणामिकभावलक्षणनिजपरमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणपर्यायेण परिणमति। तच्च परिणमनम् आगमभाषयौपशमिक-क्षायोपशमिक-क्षायिक भावत्रय भण्यते। अध्यात्मभाषया पुन शुद्धात्मभिमुखपरिणाम शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसज्ञां लभते।"
समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, ३२०

२ वही/गाथा, ५०-५५

३ वही/गाथा, ५६

—अर्थात् ये वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भाव व्यवहारनय से जीव के हैं, निश्चयनय से नहीं।

यत· उपाधिमूलक असद्भूतव्यवहारनय से ही जीव के साथ इनका सम्बन्ध सिद्ध होता है, अत: श्री माइल्लधवल ने इन्हे स्पष्टत: असद्भूत एव उपचरित कहा है —

उवसमखयमिस्साणं तिह्न एक्कोवि ण हु असब्भूओ ।
णो वत्तव्वं एव सो वि गुणो जेण उवयरिओ ।।[1]

—औपशमिक, क्षायिक और मिश्र (क्षायोपशमिक) इन तीनो मे से कोई भी भाव आत्मा मे असद्भूत (स्वभावत असत्) नही है, ऐसा नही कहना चाहिए, क्योंकि ये सब भी उपचरित (उपाधिमूलक) हैं।

बाह्यसम्बन्धमूलक असद्भूतव्यवहारनय

(बाह्यसम्बन्धावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि)

परद्रव्य के साथ जो सम्बन्ध होता है उसे बाह्य सम्बन्ध कहते हैं। परद्रव्यो के साथ जीव के विविध बाह्य सम्बन्ध होते हैं, जैसे सश्लेषसम्बन्ध, सयोगसम्बन्ध, निमित्तनैमित्तिकसम्बन्ध, ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध, साध्यसाधकसम्बन्ध, आधाराधेयसम्बन्ध इत्यादि। इन सम्बन्धो का निश्चय[2] बाह्यसम्बन्धावलम्बिनी दृष्टि या बाह्यसम्बन्धमूलक असद्भूतव्यवहारनय से देखने पर होता है। यहाँ उन सम्बन्धो पर दृष्टिपात किया जा रहा है।

जीव और पुद्गल के संश्लेषसम्बन्ध का निश्चय

अनादि से जीव और पुद्गल का नीर-क्षीर के समान एकक्षेत्रावगाह-सम्बन्ध है, इसे सश्लेषसम्बन्ध कहते हैं। शरीर और कर्मरूप पुद्गल के सश्लेष से ही जीव की केवलज्ञानादि शक्तियाँ तिरोहित हैं और वह देह-कारागार में बन्दी होकर नाना प्रकार के दु:ख भोगता है।[3] आचार्य कुन्दकुन्द ने उपर्युक्त वर्णादि-गुणस्थानपर्यन्त भावो मे जो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, सस्थान, संहनन, कर्म, नोकर्म इत्यादि पुद्गल के परिणाम है, उनके साथ जीव का दूध और पानी के समान

---

१ द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र/गाथा, २९२

२ यहाँ 'निश्चय' शब्द 'निर्णय' का पर्यायवाची है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी इस अर्थ मे इसका प्रयोग किया है — 'एव ववहारस्सदु विणिच्छओ णाणदसणचरित्ते।'
समयसार/गाथा, ३६५

३. "आत्मा हि ज्ञानदर्शनसुखस्वभाव: ससारावस्थायामनादिकर्मक्लेशसङ्कोचितात्म-शक्ति.।" पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा, २९

परस्परवगाहरूप (संश्लेष) सम्बन्ध बतलाया है —

एएहिं य सबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो ।
ण य हुति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिको जम्हा ।।[१]

— अर्थात् इन (पुद्गलद्रव्य के परिणामो) के साथ आत्मा का सम्बन्ध नीर-क्षीर के सम्बन्ध के समान परस्परावगाहरूप समझना चाहिए। आत्मा चेतन है और ये अचेतन, इसलिए इनके साथ आत्मा का तादात्म्य सम्बन्ध न होने से ये आत्मा के नही है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि आत्मा और शरीर परस्परावगाढरूप से अवस्थित है —

परस्परावगाढावस्थायामात्मशरीरयो ।[२]

निम्नलिखित गाथा मे आत्मा और पुद्गलकर्म के परस्पर सश्लेष का कथन किया गया है —

आदा कम्ममलिमसो परिणाम लहदि कम्मसजुत्त ।
तत्तो सिलिसदि कम्म तम्हा कम्म तु परिणामो ।।[३]

— आत्मा अनादि से पुद्गलकर्मो से मलिन है, इस कारण रागादिरूप से परिणमन करता है। इससे नवीन कर्मपुद्गल आकर आत्मा से सश्लिष्ट हो जाते है। इसलिए रागादिपरिणाम ही कर्म है।

आत्मा और पुद्गलकर्मो का सश्लेष ही बन्ध शब्द से प्ररूपित किया गया है —

सपदेसो अप्पा कसायिदो मोहरागदोसेहि ।
कम्मरजेहि सिलिट्ठो बधो त्ति परूविदो समये ।।[४]

— लोकाकाशप्रमित असख्येय प्रदेशोवाला होने से आत्मा मोहरागद्वेष से कषायित होकर कर्मरज से सश्लिष्ट हो जाता है, उसे ही आगम मे बन्ध कहा गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने भी ऐसा ही कहा है —

"एव जीवपुद्गलयो परस्परावगाहलक्षणसम्बन्धात्मा बन्धः सिद्धयेत्।"[५]

---

१ समयसार/गाथा, ५७
२ वही, आत्मख्याति, गाथा २७
३ प्रवचनसार, २/२९
४ वही, २/९६
५. समयसार/आत्मख्याति/गाथा ६९-७०

— जीव और पुद्गल मे परस्परावगाहसम्बन्धरूप बन्ध सिद्ध होता है।

और उन्होने यह भी बतलाया है कि जब आत्मा का अनादिबद्धस्पृष्टत्व पर्याय से अनुभव किया जाता है तब उसका बद्धस्पृष्टत्व (कर्मों से बद्ध होना) भूतार्थ ठहरता है —

"तथात्मनोऽनादिबद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थम्।"[1]

इसका तात्पर्य यही है कि परद्रव्यसंश्लेषसम्बन्धावलम्बिनी असद्भूत-व्यवहारदृष्टि से देखने पर ही आत्मा के कर्मबद्ध होने की वास्तविकता दृष्टि मे आती है। आचार्य कुन्दकुन्द के "जीवे कम्म बद्ध पुट्ठ चेदि ववहारणयभणिद"[2] इस कथन से भी यही बात सिद्ध होती है।

आगम मे जीव और पुद्गल के विश्लेषसम्बन्ध का भी वर्णन किया गया है। यथा —

"बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।"[3]

— बन्धहेतुओ के अभाव तथा निर्जरा के द्वारा समस्त कर्मों का आत्मा से विश्लेष होना मोक्ष है।

"जीवेन सहात्यन्तविश्लेष कर्मपुद्गलानां च मोक्ष इति।"[4]

— कर्मपुद्गलों का जीव से अत्यन्त विश्लेष होना मोक्ष कहलाता है।

जीव और पुद्गल का यह सश्लेष और विश्लेष सम्बन्ध बाह्यसम्बन्धा-वलम्बिनी असद्भूतव्यवहारदृष्टि से अवलोकन करने पर दृष्टिगोचर होता है।[5] निश्चय-दृष्टि जीव और पुद्गल के प्रदेशभेदरूप मौलिक भेद का ही अवलम्बन करती है। अतः उससे अवलोकन करने पर सश्लेषसम्बन्ध अभूतार्थ ठहरता है। इससे विश्लेष-सम्बन्ध स्वतः अभूतार्थ सिद्ध हो जाता है।

जीव और शरीर के कथंचित् अभेद का निश्चय

परद्रव्य-संश्लेषसम्बन्धावलम्बिनी असद्भूतव्यवहारदृष्टि से देखने पर ही जीव और शरीर के कथचित् अभेद की प्रतीति होती है।

जीव और शरीर का सश्लेष अनोखा सश्लेष है। किन्ही भी अन्य वस्तुओ के सश्लेष की उपमा से इसका यथावत् बोध नही कराया जा सकता। शरीर और

१ समयसार/आत्मख्याति/गाथा १४

२. वही/गाथा, १४१

३. तत्त्वार्थसूत्र, १०/२

४ पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा १०८

५. "ननु वर्णादयो बहिरङ्गास्तत्रव्यवहारेण क्षीरनीरवत् सश्लेषसम्बन्धो भवतु । " समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ५७

आत्मा का मेल बिलकुल वैसा नहीं है जैसा नीर और क्षीर का, घी और घड़े का अथवा शरीर और वस्त्र का होता है। शरीर से संयुक्त वस्त्र को यदि चीरा-फाड़ा जाय तो शरीर को अथवा शरीर के द्वारा आत्मा को पीड़ा नही होती, किन्तु आत्मसयुक्त शरीर को छिन्न-भिन्न किया जाय तो आत्मा को पीड़ा होती है। नीर और क्षीर के सश्लेष मे दोनों मे से किसी को इस पीड़ा का अनुभव सम्भव नही है, क्योंकि दोनो अचेतन हैं। इससे सिद्ध होता है कि शरीर और आत्मा का मेल अनोखा है, अन्य समस्त वस्तुओ के मेल से भिन्न है, नीर-क्षीर के मेल से कुछ विशिष्ट है। मेल के इस अनोखेपन या वैशिष्ट्य को ही अभेद कहा गया है जो वास्तविक है। आचार्य जयसेन ने इस विलक्षण अभेद की वास्तविकता को निम्न व्याख्यान मे प्रकाशित किया है —

कश्चिदाह जीवात् प्राणा भिन्ना अभिन्ना वा ? यद्यभिन्नास्तदा यथा जीवस्य विनाशो नास्ति तथा प्राणानामपि विनाशो नास्ति। कथ हिसा ? अथ भिन्नस्तर्हि जीवस्य प्राणघातेऽपि किमायातम् ? तत्रापि हिसा नास्तीति। तन्न, कायादिप्राणै. सह कथञ्चिद् भेदाभेद । कथमिति चेत् तप्ताय पिण्डवद् वर्तमानकाले पृथक्त्व कर्तुं नायाति तेन कारणेन व्यवहारेणाभेद । निश्चयेन पुनर्मरणकाले कायादिप्राणा जीवेन सहैव न गच्छन्ति तेन कारणेन भेद । यद्येकान्तेन भेदो भवति तर्हि यथा परकीये काये छिद्यमाने भिद्यमानेऽपि दु ख न भवति तथा स्वकीयकायेऽपि दु ख न प्राप्नोति। न च तथा प्रत्यक्षविरोधात्। ननु तथापि व्यवहारेण हिसा जाता, न तु निश्चयेनेति ? सत्यमुक्त भवता, व्यवहारेण हिसा तथा पापमपि नारकादिदु खमपि व्यवहारेणेत्यस्माक सम्मतमेव। तन्नारकादिदुःख भवतामिष्ट चेत्तर्हि हिसा कुरुत। भीतिरस्ति इति चेत् तर्हि त्यज्यतामिति।''[१]

—कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि शरीरादि प्राण जीव से भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि अभिन्न है तो जैसे जीव का विनाश नही होता वैसे ही प्राणो का भी नही हो सकता, तब हिसा कैसे सम्भव है ? यदि प्राण भिन्न हैं तो जीव के प्राणो का घात होने पर भी क्या फर्क पड़ता है ? इस स्थिति मे भी हिसा नही हो सकती।

इसका समाधान यह है कि शरीरादि प्राणो के साथ जीव का कथचिद् भेद भी है और अभेद भी। कैसे ? जैसे तप्त लोह-पिण्ड से अग्नि को अलग करना सम्भव नही है, वैसे ही वर्तमान पर्याय मे प्राणो को जीव से पृथक् करना असम्भव है। इस कारण व्यवहारनय से अभेद है। किन्तु मरणकाल मे कायादि प्राण जीव के साथ नही जाते इस कारण भेद है। यदि सर्वथा भेद हो, तो जैसे दूसरे के शरीर

---

१ समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ३३२-३४४

के छिन्न-भिन्न किये जाने पर हमें दु·ख नही होता वैसे ही अपने शरीर के छिन्न-भिन्न किये जाने पर भी नहीं होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता, यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

प्रश्न : *इस तरह भी हिसा व्यवहारनय से घटित होती है, निश्चयनय से नही।*

समाधान : आपने ठीक कहा। हिसा व्यवहारनय से ही सिद्ध होती है। इसी प्रकार पाप भी एवं नरकादि के दु.ख भी व्यवहारनय से ही घटित होते हैं। यह हमे मान्य है। इसलिए यदि नरकादि के दुःख आपको अच्छे लगते हो, तो हिसा कीजिए, यदि उनसे भय हो तो त्याग दीजिए।''

इस प्रकार शरीरादि प्राणो के साथ जीव का कथचित् अभेद वास्तविक है। यद्यपि व्यवहारनय परद्रव्यसम्बन्धावलम्बी होने से अभूतार्थ है[1] तथापि जीव की परद्रव्यसम्बद्ध अवस्था एवं जीव और शरीर के कथंचित् अभेद की प्रतीति उसी के द्वारा होती है, मूलपदार्थावलम्बी निश्चयनय से यह सम्भव नही है।

परद्रव्य के साथ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध का निश्चय

परद्रव्यसम्बन्ध की दिशा से अवलोकन करने वाले असद्भूत व्यवहारनय के द्वारा इस सम्बन्ध की भी प्रतीति होती है। अत· यह परमार्थभूत है, काल्पनिक नही। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककार ने यह बात स्पष्ट की है —

''तदेव व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठः सम्बन्ध सयोग-समवायादिवत् प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव न पुन कल्पनारोपितः।''[2]

— इस प्रकार व्यवहारनय का आश्रय लेने पर दो पदार्थों मे रहनेवाला कार्यकारणभाव (निमित्तनैमित्तिक) सम्बन्ध सयोग-समवायादि सम्बन्धो के समान प्रतीति मे आता है। अत. प्रतीतिसिद्ध होने के कारण पारमार्थिक (यथार्थ) ही है, कल्पनारोपित नही।

यह सम्बन्ध अनेकरूपो मे दृष्टिगोचर होता है। ससारावस्थापन्न जीव और पुद्गलकर्मो मे इस सम्बन्ध के अस्तित्व का वर्णन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं —

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्त तहेव जीवो वि परिणमइ ।।[3]

---

१. ''यद्यप्य व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यालम्बनत्वेनाभूतार्थस्तथापि ' ।''
समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, ४६

२ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १/७

३. समयसार/गाथा, ८०

— जीव के शुभाशुभ परिणामो के निमित्त से पुद्गलपरमाणु कर्मरूप से परिणमित हो जाते हैं। इसी प्रकार पुद्गलकर्मों के निमित्त से जीव भी शुभाशुभभाव-रूप परिणमन करता है।

साता-असातावेदनीय कर्म के उदय से जीव सुख-दु खरूप से परिणमित होता है।[१] *आत्मा के शुद्धोपयोगरूप स्वभाव के निमित्त से कर्मपुद्गल सवर, निर्जरा* और मोक्षरूप से परिणमन करते हैं।[२]

साता-असातावेदनीय कर्म के उदय से इष्टानिष्ट इन्द्रियविषयो का सान्निध्य प्राप्त होता है। इन्द्रियविषयो का सान्निध्य आत्मा की सुखदु खात्मक परिणति मे निमित्त बनता है।[३]

जीव के योग (आत्मप्रदेशो के परिस्पन्दरूप प्रयत्न) और उपयोग (इच्छादिरूप परिणाम) के निमित्त से मिट्टी आदि पदार्थ घट-पटादि रूप से परिणमित होते है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है —

जीवो ण करेदि घड णेव पड सेसगे दव्वे ।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसि हवदि कत्ता ।।[४]

— जीव न तो घट उत्पन्न करता है, न पट, न अन्य द्रव्य। उसके योगोपयोग इन द्रव्यो के (निमित्तरूप से)[५] कर्त्ता है। जीव इन योग और उपयोग का कर्त्ता होता है।

इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं —

"जो घटादि अथवा क्रोधादि परद्रव्यात्मक कार्य हैं उन्हे आत्मा व्याप्य-व्यापकभाव से उत्पन्न नही करता, क्योंकि इससे आत्मा के घटादिमय अथवा क्रोधादिमय होने का प्रसग आता है। निमित्तनैमित्तिकभाव से भी उत्पन्न नही करता, क्योंकि इस तरह आत्मा के नित्य होने से इनकी नित्य उत्पत्ति का प्रसग आता है। इसलिए आत्मा के अनित्य योग और उपयोग ही इनके निमित्तरूप से कर्त्ता है। चूँकि योग आत्मा के प्रदेशो का चलनरूप व्यापार है तथा उपयोग आत्मा के चैतन्यस्वभाव

---

१ "शुभाशुभकर्मनिमित्तसुखदुःखपरिणामानाम् ।" पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा २७

२ वही/गाथा १०८

३. "पुद्गलकर्मविपाकसम्पादितविषयसन्निधिप्रधाविता सुखदु:खपरिणति · · ।" समयसार/आत्मख्याति/गाथा ८४

४. वही/गाथा १००

५. "इति परम्परया निमित्तरूपेण घटादिविषये जीवस्य कर्तृत्व स्यात्।" वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १००

का रागात्मक परिणाम है, अतः कदाचित् अज्ञानावस्था मे वह इनका कर्त्ता होता है, किन्तु परद्रव्यात्मक कर्म का कर्त्ता कभी नही होता।"[1]

तात्पर्य यह कि जीव के योग और उपयोग घटादि कार्यों की उत्पत्ति के निमित्त कारण होते हैं।

आत्मा ज्ञानस्वभाव है तथा लोक के पदार्थ ज्ञेयस्वभाव।[2] ज्ञानस्वभाव आत्मा के निमित्त से पदार्थों का ज्ञेयस्वभाव परिणमित होता है, अर्थात् वे ज्ञानस्वभावात्मक आत्मा मे प्रतिबिम्बित होते हैं। दूसरे शब्दों मे, ज्ञेयो के आकार ज्ञान मे झलकते हैं। तथा पदार्थों के निमित्त से आत्मा का ज्ञानस्वभाव परिणमित होता है, अर्थात् पदार्थों के आकारो को ग्रहण करता है, अपने मे झलकाता है। इसे ज्ञान का ज्ञेयाकार-मय परिणमन कहते हैं।[3]

धर्म, अधर्म आकाश और काल, ये द्रव्य क्रमशः जीव की गति, स्थिति, अवगाह तथा वर्तना के निमित्त हैं।

चूँकि कर्मों का उदय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं भव के निमित्त से होता है, इसलिए कदाचित् एक जीव दूसरे जीव के क्रोधादि के उदय का निमित्त बन जाता है। बाह्य परिग्रह के निमित्त से जीव मे मूर्च्छा की उत्पत्ति हो जाती है। क्षेत्रविशेष या कालविशेष भयादि कषाय की उत्पत्ति का निमित्त हो जाता है।

तथैव देव, शास्त्र और गुरु के निमित्त से जीव के मोहरागद्वेष का विलय होता है। कहा भी गया है —

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहि बुज्झदो णियमा ।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं ।।[4]

—जो जिनशास्त्र से प्रत्यक्षादि प्रमाणो के द्वारा शुद्धात्मादि पदार्थों को जानता है, उसका मोह नियम से क्षीण होता है। अत. शास्त्रो का अच्छी तरह अध्ययन करना चाहिए। तथा —

अज्ञानतिमिरान्धाना ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलित येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः ।।

—जो अज्ञानरूपी अन्धकार से अन्धे थे उनके नेत्रो को जिन्होने ज्ञानरूपी

---

१. समयसार/आत्मख्याति, गाथा १००
२. "णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स।" प्रवचनसार १/२८
३. "ज्ञानी चार्थाश्च स्वलक्षणभूतपृथक्त्वतो न मिथो वृत्तिमासादयन्ति, किन्तु तेषा ज्ञानज्ञेय-स्वभावसम्बन्धसाधितमन्योन्यवृत्तिमात्रमस्ति।" वही/तत्त्वदीपिका १/२८ एव ३६
४ प्रवचनसार, १/८६

अंजन की शलाका से उन्मीलित कर दिया, उन श्रीगुरु को नमस्कार करता हूँ।

इस प्रकार परद्रव्यो के साथ आत्मा का कई प्रकार से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध स्थापित होता है। इस सम्बन्ध की प्रतीति असद्भूतव्यवहारनय से होती है, क्योंकि यही नय परद्रव्यसम्बन्ध की दिशा से वस्तु का अवलोकन करता है। निश्चयनय की दृष्टि तो भिन्न वस्तुओ के मौलिक भेद पर ही जाती है, जिससे उसके अनुसार इस सम्बन्ध का अस्तित्व ही सिद्ध नही होता।

परद्रव्यों के साथ संयोगसम्बन्ध का निश्चय

कर्मोदयवश जीव के साथ शरीर, पति-पत्नी, सन्तान, धन-सम्पत्ति, इन्द्रिय-विषय आदि बाह्य पदार्थों का सयोग होता है, जो जीव के मोहरागद्वेष के उदय तथा सुख-दु खात्मक परिणति का निमित्त बनता है। सयोगसम्बन्ध का निरूपण आचार्यो ने इस प्रकार किया है —

पथे पहियजणाण जह सजोओ हवेइ खणमित्त ।
बधुजणाण च तहा सजोओ अद्धुओ होइ ।।[१]

—जैसे मार्ग मे पथिको का क्षणमात्र के लिए सयोग होता है वैसे ही आत्मा के साथ (माता-पिता, पति-पत्नी, पुत्र-मित्रादि) बन्धुजनो का सयोग अल्पकाल के लिए होता है।

जीव म जाणहि अप्पणउँ घरु परियणु तणु इट्ठु ।
कम्मायत्तउ कारिमउ आगमि जोइहि दिट्ठु ।।[२]

—हे जीव ! तू घर, परिवार, शरीर और मित्रादि को अपना मत समझ, क्योंकि योगियो ने आगम मे यह बतलाया है कि इनका सयोग कर्माधीन है, अत ये अनित्य हैं।

"दुक्खपडिकारहेदुदव्वसपादय कम्म सादावेदणीय णाम। दुक्खसमण-हेदुदव्वाणमवसारय च कम्मासादावेदणीय णाम।"[३]

— जो कर्म दु:ख को रोकनेवाली सामग्री का सयोग कराता है उसे सातावेदनीय कहते हैं, जो उसका वियोग कराता है वह असातावेदनीय कहलाता है।

इस सयोगसम्बन्ध के अस्तित्व का बोध भी बाह्यसम्बन्धावलम्बिनी असद्भूतव्यवहारदृष्टि से होता है।

---

१ कार्तिकेयानुप्रेक्षा/गाथा ८

२ परमात्मप्रकाश २/१२३

३ धवला १३/५, ५, ८८

परद्रव्य के साथ ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध का निश्चय

परद्रव्यो के साथ आत्मा का ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है। निम्नलिखित आर्ष-वचनो से इस सम्बन्ध की वास्तविकता का बोध होता है —

"अह हि तावज्ज्ञायक एव स्वभावेन। केवलज्ञायकस्य च सतो मम विश्वेनापि सहजज्ञेयज्ञायकलक्षण एव सम्बन्धः न पुनरन्ये स्वस्वामिलक्षणादयः सम्बन्धाः।"[1]

— मैं तो स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ। केवल ज्ञायक होने के कारण विश्व के साथ भी मेरा सहज ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध ही है, स्व-स्वामी आदि अन्य सम्बन्ध नही।

"ज्ञेयज्ञायकलक्षणसम्बन्धस्यानिवार्यत्वेनाशक्यविवेचनत्वाद् उपात्तवैश्वरूप्यमपि ‥ ।"[2]

— यद्यपि ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध अनिवार्य होने के कारण आत्मा मे समस्त विश्व प्रतिबिम्बित होता है, इसलिए आत्मा अनेकरूप दिखाई देता है (तथापि अपनी ज्ञायकस्वभावरूप एकरूपता को नही छोड़ता)।

चूँकि परद्रव्य के साथ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध बाह्यसम्बन्ध है, इसलिए इसका प्रकाशन बाह्यसम्बन्धावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि (परद्रव्यसम्बन्धमूलक असद्भूतव्यवहार-नय)[3] से होता है। मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से देखने पर परद्रव्य से असम्बन्ध का ही ज्ञान होता है, सम्बन्ध का नही। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है —

> जाणदि पस्सदि सव्व ववहारणएण केवलीभगव ।
> केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ।।[4]

— केवली भगवान् समस्त पदार्थों को व्यवहारनय से जानते-देखते हैं और निश्चयनय से केवल स्वय को जानते हैं।

परद्रव्य के साथ साध्यसाधकसम्बन्ध का निश्चय

जीवादि परद्रव्यों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन का साधक है। परमार्थ देव, शास्त्र, और गुरु का श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन का साधक है। जिनबिम्बदर्शन सम्यक्त्व का हेतु है। मोहनीय कर्म का उपशम, क्षयोपशम एव क्षय सम्यक्त्व का हेतु है, ज्ञाना-

---

१ प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका २/१०८

२ वही

३ "उपचरितासद्भूतव्यवहारे लोकालोकावलोकन स्वसंवेद्य प्रतिभाति।"
परमात्मप्रकाश/ब्रह्मदेवटीका १/५

४ नियमसार/गाथा १५९

वरण का क्षयोपशम मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का हेतु है जो मोक्ष मे सहायक है। देशनालब्धि (गुरु का उपदेश) सम्यग्दर्शन की साधक है। इन्द्रियाँ, प्रकाश, उपाध्याय आदि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के साधक हैं।

बाह्य परिग्रह का त्याग मूर्च्छा-निरोध का साधक है। आहार एव रस आदि का त्याग तप का साधक है। इन्द्रिय-विषयों का त्याग सयम का साधक है। परप्राण-व्यपरोपण, अदत्तादान, अप्रशस्तवचन एव स्वस्त्री-परस्त्री का त्याग अहिसादि व्रतो का साधक है। पचपरमेष्ठी का चिन्तन आत्म-ध्यान का साधक है। शास्त्रो का अनुशीलन मिथ्यात्व और अज्ञान के निवारण का साधक है। देवशास्त्र-गुरु की भक्ति पापास्रव के निरोध की साधक है।

मोक्ष मे सहायक इन भिन्न साधनो को जिनेन्द्रदेव ने व्यवहारनय से मोक्षमार्ग नाम दिया है। आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि प्राथमिक साधक व्यवहारनय द्वारा प्रतिपादित भिन्नसाध्यसाधनभाव का अवलम्बनकर सुखपूर्वक मोक्षमार्ग मे अवतरित हो जाते है —

"व्यवहारनयेन भिन्नसाध्यसाधनभावमवलम्ब्यानादिभेदवासितबुद्धय· सुखेनैवावतरन्ति तीर्थं प्राथमिका.।"[१]

परद्रव्य के साथ आत्मा के इस साध्यसाधक-सम्बन्ध का ज्ञान बाह्य-सम्बन्धावलम्बिनी दृष्टि (परद्रव्यसम्बन्धमूलक असद्भूतव्यवहारनय) से अवलोकन करने पर होता है।

परद्रव्य के साथ आधाराधेयसम्बन्ध का निश्चय

लोकाकाश आधार है और जीव आधेय। कर्मभूमि और भोगभूमि आधार हैं, जीव आधेय। स्वर्ग, नरक और मध्यलोक आधार हैं, जीव आधेय। जीव आधार है और कर्म, नोकर्म (शरीर) आधेय। इसी कारण जीव मे स्थित शरीर के वर्ण को देखकर 'यह जीव का वर्ण है' ऐसा जिनेन्द्रदेव ने उपचार से कहा है।[२] इस प्रकार जीव और परद्रव्यो मे आधार-आधेय सम्बन्ध है जो बाह्यसम्बन्धावलम्बिनी दृष्टि से देखने पर ही अनुभव मे आता है। मौलिक भेद का आश्रय लेने वाली निश्चयदृष्टि तो इसकी प्रतिषेधक है।

इस प्रकार के और भी अनेक बाह्य सम्बन्ध परद्रव्यो के साथ जीव के

---

१ पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका, गाथा १७२

२ "तथा जीवे बन्धपर्यायेणावस्थित कर्मणो नोकर्मणो वा वर्णमुत्प्रेक्ष्य तात्स्थ्यात् तदुपचारेण जीवस्यैष वर्ण इति व्यवहारतोऽर्हद्देवाना प्रज्ञापनेऽपि · · ·।"

समयसार/आत्मख्याति/गाथा ५८-६०

होते हैं। वे सब बाह्यसम्बन्धावलम्बिनी असद्भूतव्यवहारदृष्टि (असद्भूतव्यवहारनय) से देखने पर ही दिखाई देते हैं।

असद्भूतव्यवहारनयात्मक उपदेश के प्रयोजन

अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि असद्भूतव्यवहारनय का अवलम्बन कर शिष्यो को उपदेश देना क्यो आवश्यक है ? जिन प्रयोजनो से यह आवश्यक है उनकी यहाँ विस्तार से चर्चा की जा रही है।

संसारपर्याय का उपपादन

निरुपाधिक जीव (जीवनामक मूलपदार्थ) पर दृष्टि डालने से वह शरीर, कर्म और मोहरागादि भावो से रहित दिखाई देता है। अत मूलपदार्थावलम्बी निश्चयनय से उपदेश देने पर जीव ससारी सिद्ध नही होता। जब सोपाधिक जीव को दृष्टि का विषय बनाया जाता है तभी वह शरीर से सश्लिष्ट, कर्मों से बद्ध और मोहरागादि-परिणाममय दृष्टिगोचर होता है। इसलिए सोपाधिकपदार्थावलम्बी असद्भूतव्यवहार-नयात्मक उपदेश से ही जीव की ससारपर्याय दृष्टि मे आती है, जिसे जानकर जीव मोक्ष के लिए उद्यत होता है।

हिंसा के सद्भाव का उपपादन

बाह्यसम्बन्धावलम्बी असद्भूतव्यवहारनयात्मक उपदेश से जीव और शरीर का सश्लेष-सम्बन्ध दृष्टि मे आता है और उनमे जो कथचित् अभेद है उसकी उपपत्ति होती है। इस कथचित् अभेद से ही शरीरघात करने पर जीवघात घटित होता है और उससे हिसा के पाप और कर्मबन्ध की युक्तिमत्ता सिद्ध होती है। यदि केवल मौलिकभेदप्रदर्शक निश्चयनय से उपदेश दिया जाय तो उससे जीव, शरीर से सर्वथा भिन्न सिद्ध होगा जिससे त्रस और स्थावर जीवो का नि.शक (प्रमत्तयोगपूर्वक) वध करने मे जीवघात घटित नही होगा। अत: शरीरघात से जीवघात की सत्यता सिद्ध करने के लिए जिनेन्द्रदेव ने व्यवहारनय से भी उपदेश दिया है। इस बात का स्पष्टीकरण समयसार मे किया गया है।

प्रश्न उठाया गया है कि यदि शरीरादि पदार्थ पुद्‌गलस्वभावात्मक है तो उन्हे जिनेन्द्रदेव ने जीव शब्द से सूचित क्यों किया है ? इसके उत्तर मे आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं — जिनेन्द्रदेव ने शरीर और रागादि भावो से जीव के कथंचित् अभेद की प्रतीति कराने के लिए (बाह्यसम्बन्धावलम्बी असद्भूत) व्यवहारनय से उपदेश दिया है।[१] उनके अभिप्राय को आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने निम्नलिखित व्याख्यान मे स्पष्ट किया है —

---

१. यद्यध्यवसानादय पुद्‌गलस्वभावस्तदा कथं जीवत्वेन सूचिता इति चेत् —

"सर्वे एवैतेऽध्यवसानादयो भावा: जीवा इति यद् भगवद्भिः सकलज्ञैः प्रज्ञप्त तदभूतार्थस्यापि व्यवहारस्यापि दर्शनम्। व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छाना परमार्थप्रतिपादकत्वाद् अपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितु न्याय्य एव। तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणा भस्मन इव नि:शङ्कमुपमर्दनेन हिंसाऽभावाद् भवत्येव बन्धस्याभाव.। तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावाद् भवत्येव मोक्षस्याभाव·।"[१]

—ये सभी अध्यवसानादि भाव (शरीरादि एव रागादि) जीव हैं — ऐसा उपदेश सर्वज्ञ भगवान् ने इसलिए दिया है कि अभूतार्थ व्यवहारनय से घटित होने वाला आत्मा का ससारी रूप भी लोगो की दृष्टि मे आ जाय, क्योंकि जैसे म्लेच्छभाषा म्लेच्छो को वास्तविक अर्थ का बोध कराने का साधन है वैसे ही व्यवहानय अपरमार्थ होते हुए भी व्यवहारियो (प्राथमिक भूमिका मे स्थित साधको) को परमार्थ का अवबोधक है। अतएव उन्हे मोक्षमार्ग मे लगाने हेतु व्यवहारनय के पक्ष को दर्शाना न्यायोचित है।

यदि व्यवहारनय का आश्रय लेकर आत्मा की ससारपर्याय दृष्टि मे न लायी जाय तो एकमात्र निश्चयनय पर आश्रित उपदेश से जीव और शरीर की मौलिक (स्वभावगत) भिन्नता ही दृष्टि मे आयेगी, जिससे त्रस और स्थावर जीवो को नि.शक होकर (प्रमत्तयोगपूर्वक) कुचलने-मसलने मे भस्म को कुचलने-मसलने के समान हिसा के अभाव का प्रसग आयेगा और उससे बन्ध का अभाव सिद्ध होगा। इसी प्रकार आगम मे कहा गया है कि जीव रागद्वेषमोहरूप से परिणमित होकर कर्मों से बँधता है, अत उसे मोक्ष प्राप्त करना चाहिए। किन्तु, यदि केवल निश्चयनय-सम्मत उपदेश देकर जीव को रागद्वेषमोह से सर्वथा पृथक् दर्शाया जाय तो (बद्ध सिद्ध न होने से) मोक्ष के उपाय का अवलम्बन औचित्यपूर्ण सिद्ध न होगा, जिससे *मोक्षप्राप्ति असम्भव हो जायेगी।*

आचार्य अमितगति ने भी कहा है —

आत्मशरीरविभेदं वदन्ति ये सर्वथा गतविवेका ।
कायवधे हन्त कथ तेषा सञ्जायते हिंसा ।।[२]

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं ।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ।। समयसार/गाथा ४६

१ वही/आत्मख्याति/गाथा ४६

२. अमितगतिश्रावकाचार ६/२१

—जो विवेकहीन पुरुष आत्मा और शरीर मे सर्वथा भेद बतलाते हैं, उनके मत मे शरीर के वध से हिसा कैसे घटित होगी ?

तात्पर्य यह कि जीव और शरीर मे संश्लेषसम्बन्ध होने से उनमे जो एक विलक्षण अभेद है, उसे दर्शाने से ही लोग शरीर का घात करने मे जीवघातरूप हिसा मानेगे। इसलिए सश्लेषसम्बन्धदर्शक व्यवहारनय से जीव के स्वरूप का प्रतिपादन करना अत्यन्त आवश्यक है।

स्तेयादि के सद्भाव का उपपादन

मौलिकभेदावलम्बी निश्चयनय पर आश्रित उपदेश से जैसे जीव और शरीर के सश्लेषसम्बन्ध एव तन्निमित्तक अभेद का निषेध होता है, वैसे ही परद्रव्य के साथ आत्मा के सयोगसम्बन्ध का भी निषेध होता है। फलस्वरूप जीव के साथ पति-पत्नी, सन्तान, धन-सम्पत्ति आदि का सयोग सिद्ध न होने से उनमे स्वस्वामिभाव का उपचार नही किया जा सकता और उपचार के अभाव मे स्वकीय और परकीय का भेद घटित न होने से परद्रव्यहरणरूप चोरी तथा परस्त्री-परपुरुषगमनरूप व्यभिचार (अब्रह्म) आदि के पाप भी असत् हो जाते है। इन पापो की सत्ता बाह्यसम्बन्धावलम्बी असद्भूतव्यवहारनय से उपदेश देने पर सिद्ध होती है, क्योंकि उसके द्वारा ही परद्रव्यो के साथ जीव का सयोगसम्बन्ध उपपन्न होता है।

बन्धमोक्ष की प्रक्रिया का उपपादन

अनादिबद्ध कर्मों के उदय से आत्मा मोहरागादिरूप परिणमित होता है। उससे नये कर्मो का बन्ध होता है। नये कर्म पुन· मोहरागादि के निमित्त बनते हैं। उनसे जीव फिर द्रव्यकर्मो के बन्धन मे बँधता है। किन्तु जब वह सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्ररूप परिणमन करता है तब आत्मा के शुद्धभाव से नये कर्मपुद्गलो का आस्रव रुकता है तथा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है। इस रीति से जब आत्मा से सश्लिष्ट सभी पुद्गल कर्म पृथक् हो जाते हैं तब वह मुक्त हो जाता है। आत्मा और पुद्गल के निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध पर आश्रित बन्ध और मोक्ष की इस प्रक्रिया पर प्रकाश निश्चयनयात्मक उपदेश से नही पड़ सकता, क्योंकि निश्चयनय आत्मा और परद्रव्य के मौलिक भेद का अवलम्बन कर आत्मा का प्रतिपादन करता है। अत: उससे आत्मा और परद्रव्य का सर्वथा असम्बन्ध ही सिद्ध होता है। जब बाह्यसम्बन्धावलम्बी असद्भूतव्यवहारनय के आश्रय से उपदेश दिया जाता है तभी बन्ध और मोक्ष की उपर्युक्त प्रक्रिया उपपन्न होती है।

मोक्ष की आवश्यकता का उपपादन

जीव की निरुपाधिक अवस्था पर दृष्टिपात करने से वह कर्मो से अबद्ध

और मोहरागादिशून्य दिखाई देता है, इसलिए निरुपाधिकपदार्थावलम्बी (मूलपदार्थावलम्बी) निश्चयनय पर आश्रित उपदेश से मोक्ष की आवश्यकता सिद्ध नही होती। जब सोपाधिक अवस्था का अवलोकन करते है तभी जीव की कर्मबद्धता और मोहरागात्मक परिणति सत्य सिद्ध होती है। अत· सोपाधिकपदार्थावलम्बी असद्भूतव्यवहारनयसम्मत उपदेश से ही मोक्ष की आवश्यकता उपपन्न होती है।

मोक्षमार्ग की साध्यता का उपपादन

शुद्धोपयोग मोक्षमार्ग है। अशुभोपयोग उसके मार्ग की प्रबल बाधा है। वह शुद्धोपयोग को असाध्य बनाता है। शुभोपयोग अशुभोपयोग का निरोध कर शुद्धोपयोग के मार्ग की बाधा दूर करता है, जिससे वह साध्य हो जाता है। शुभोपयोग जीवादि तत्त्वो के श्रद्धान, तत्त्वाभ्यास, अरहन्तादि की भक्ति, इन्द्रियविषयपरित्याग, जीव-रक्षा आदि परद्रव्याश्रित प्रवृत्ति से साध्य होता है। इस तरह परद्रव्य के साथ जीव का साध्यसाधक सम्बन्ध है।

किन्तु मौलिकभेदावलम्बी निश्चयनय इस सम्बन्ध का निषेध करता है, जिससे साधन के निषेध से मोक्षमार्ग की साध्यता का भी निषेध हो जाता है। इस प्रकार निश्चयनयात्मक उपदेश से मोक्षमार्ग असाध्य सिद्ध होता है। किन्तु वह असाध्य नही है, साध्य ही है। बस इतना है कि उसकी साध्यता का उपपादन बाह्यसम्बन्धावलम्बी असद्भूतव्यवहारनयात्मक उपदेश से होता है।

सर्वज्ञत्व का उपपादन

आत्मा और परद्रव्यो मे तादात्म्य-सम्बन्ध न होने से मौलिकरूप से भेद है, अत. मौलिकभेदावलम्बी निश्चयनय उनमे ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध का भी निषेधक है। फलस्वरूप निश्चयनयात्मक उपदेश से केवली भगवान् सर्वज्ञ (समस्त परद्रव्यो को जानने वाले) भी सिद्ध नही होते। उनका सर्वज्ञ होना बाह्यसम्बन्धावलम्बी असद्भूतव्यवहारनयात्मक उपदेश से सिद्ध होता है।

धर्मादि द्रव्यों के लक्षण का उपपादन

निश्चयनय परद्रव्यसम्बन्ध-प्रतिषेधक है, अत: तदाश्रित उपदेश से धर्म, अधर्म, आकाश और काल के लक्षण उपपन्न नही होते, क्योंकि उनके लक्षण परद्रव्यसम्बन्धात्मक हैं, जैसे धर्मद्रव्य का लक्षण है जीव और पुद्गल की गति का हेतु होना और अधर्मद्रव्य का लक्षण है उनकी स्थिति का निमित्त होना। निश्चयनयात्मक उपदेश से ज्ञानावरणादि कर्मों के लक्षण भी घटित नही होते, क्योंकि ये भी परद्रव्यसम्बन्धपरक हैं। उदाहरणार्थ, जीव के ज्ञानगुण को आवृत करना ज्ञानावरण का लक्षण है और दर्शन को आवृत करने वाला दर्शनावरण कहलाता

है। जीव के श्रद्धा और चारित्र गुणो को विपरीत बनाने वाले कर्म का नाम मोहनीय है। जीव के साथ दु·खोपशामक सामग्री का सयोग कराना सातावेदनीय का लक्षण है और दु.खोत्पादक सामग्री का सान्निध्य प्राप्त कराना असातावेदनीय का। इन समस्त द्रव्यो और कर्मों के लक्षण तभी उपपन्न होते हैं जब परद्रव्यसम्बन्धदर्शक असद्भूत-व्यवहारनय से व्याख्यान किया जाय।

इन प्रयोजनो का साधक होने से असद्भूतव्यवहारनयात्मक उपदेश सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति और मोक्ष की सिद्धि मे कितना महत्त्व रखता है, यह उपर्युक्त समीक्षा से भलीभाँति हृदयगम हो जाता है।

अभूतार्थता का अभिप्राय

आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है — "ववहारोऽभूयत्थो।"[१] व्यवहारनय मे असद्भूतव्यवहारनय भी गर्भित है और असद्भूतव्यवहारनय मे सोपाधिक पदार्थ तथा परद्रव्यसम्बन्ध जैसे वास्तविक विषयो का अवलम्बन करने वाला असद्भूतव्यवहारनय भी शामिल है। यहाँ विचारणीय है कि इस नय के सन्दर्भ मे अभूतार्थता का क्या अभिप्राय है ? अभूतार्थ का शाब्दिक अर्थ है ऐसा पदार्थ जो स्वाभाविक या मौलिक नही है, जो परद्रव्यसयोग से निष्पन्न है या जिसमे परद्रव्यसम्बन्ध दिखाई देता है, अथवा जिसमे गुणपर्यायरूप भेद दृष्टिगोचर होता है, या जिसके लिए किसी अन्य का नाम दिया गया है।

यहाँ विचार करने पर स्पष्ट होता है कि यद्यपि सोपाधिक पदार्थ तथा परद्रव्यसम्बन्ध वास्तविक है, इनका अवलम्बन करके वस्तुस्वरूप का निर्णय करने के कारण इस असद्भूतव्यवहारनय का निर्णय असत्य नही है, तथापि इसके द्वारा मूलपदार्थ, मूलस्वभाव और मौलिकभेद का प्रकाशन नही होता, जो भूतार्थ का स्वरूप है, इसलिए भूतार्थ का प्रकाशक न होने से अभूतार्थ है। किन्तु केवल इसी अपेक्षा से अभूतार्थ है। आत्मा की सोपाधिक अवस्था वास्तविक है, परद्रव्य से आत्मा के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध वास्तविक हैं। अत इनका प्रकाशक होने की अपेक्षा भूतार्थ है।

●

१ समयसार/गाथा ११

चतुर्थ अध्याय

उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय

(उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि)

उपचार का अर्थ है अन्य वस्तु के धर्म को अन्य पर आरोपित करना।[1] अन्य वस्तु का धर्म उसके वाचक शब्द के द्वारा आरोपित किया जाता है। अत· अन्य के लिए अन्य के वाचक शब्द का प्रयोग करना अर्थात् एक वस्तु को दूसरी वस्तु के नाम से सकेतित करना उपचार कहलाता है।[2] यह असद्भूतव्यवहारनय का एक भेद है।

उपचार एक लोकव्यवहार

उपचार एक लोकव्यवहार है। लोक मे किसी बालक के क्रूरता, पराक्रम आदि गुणो के अतिरेक को द्योतित करने के लिए उसे उपचार से सिह कहा जाता है — 'सिहो माणवक·'। किसी मनुष्य के जड़ता-मन्दता आदि धर्मों की अधिकता दर्शाने के लिए उसे 'बैल' शब्द से पुकारा जाता है — 'गौर्वाहीक ' (हलवाहा बैल है)। आयुवर्धन (स्वास्थ्यवर्धन) मे घी की अमोघशक्ति का अनुभव कराने के प्रयोजन से घी के लिए 'आयु' सज्ञा का प्रयोग किया जाता है — 'आयुर्घृतम्'। इसी युक्तिमत् लोकव्यवहार का अनुसरण करते हुए जिनेन्द्रदेव ने प्रयोजन-विशेष से शरीर तथा रागादि को 'जीव' शब्द से वर्णित किया है, शरीर के वर्णादि को जीव के वर्णादि की सज्ञा दी है, जीव को पुद्गल कर्मो का कर्त्ता नाम दिया है, सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग मे मोक्षमार्ग शब्द का उपचार किया है। इसी प्रकार के अन्य अनेक औपचारिक प्रयोग किये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द इस पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं —

"जैसे लोक मे सेना के साथ जाते हुए राजा को देखकर उस सम्पूर्ण सेना को 'राजा जा रहा है' ऐसा उपचार से कहा जाता है, यद्यपि उसमे राजा एक ही होता है, वैसे ही जीव के साथ जितने भी शरीर, राग, द्वेष, मोह आदि भाव दिखाई

---

१ "अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहार । असद्भूतव्यवहार एवोपचार ।" आलापपद्धति/सूत्र २०७-२०८

२ (क) "मञ्चा क्रोशन्ति इति तात्स्थ्यात् तच्छब्दोपचार.।" श्लोकवार्तिक २/१/६/५६
(ख) "गुणसहचारित्वादात्मापि गुणसज्ञा प्रतिलभते।" धवला १/९/१६१

देते है, उन सबके लिए सूत्र (आगम) मे उपचार से 'जीव' शब्द का प्रयोग किया गया है, यद्यपि उनमे जीव शुद्धचैतन्यभाव मात्र होता है।''[१] तथा ''जैसे किसी मार्ग मे लोगो को लुटता हुआ देखकर 'यह मार्ग लुटता है' ऐसा लोग उपचार से कहते हैं, वैसे ही जिनेन्द्रदेव ने जीव मे स्थित कर्म और नोकर्म का वर्ण देखकर 'यह जीव का वर्ण है' ऐसा उपचार से कहा है।''[२]

निमित्त और प्रयोजन पर आश्रित

अन्य वस्तु मे अन्य वस्तु के नाम का उपचार किसी निमित्त और प्रयोजन के होने पर ही होता है, जैसा कि कहा गया है – ''मुख्याभावे सति निमित्ते प्रयोजने चोपचार प्रवर्तते।''[३]

उदाहरणार्थ, राजा और सेना का साहचर्यसम्बन्ध सेना मे राजा शब्द के उपचार का निमित्त है और प्रयोजन है राजा के प्रभुत्व और बल की प्रतीति कराना तथा शरीर और जीव का सश्लेष-सम्बन्ध शरीर के लिए जीव शब्द के औपचारिक प्रयोग का निमित्त है और यह इस प्रयोजन से किया जाता है कि जीव और शरीर के उस विलक्षण अभेद की प्रतीति हो जाय जिसके कारण शरीर के छेदन-भेदन से जीव को पीड़ा होती है ओर हिसा का पाप घटित होता है।[४] इसी प्रकार 'यह मार्ग लुटता है' यहाँ मार्गस्थ लोगो मे मार्ग शब्द का उपचार आधार-आधेय सम्बन्ध के कारण सम्भव होता है और इससे यह ध्वनित किया जाता है कि मार्ग लुटेरो के लिए सुवधिाजनक है और इसमे पथिक नित्य और निश्चित रूप से लूटे जाते हैं तथा 'यह जीव का वर्ण है' यहाँ शरीर मे जीवत्व का उपचार भी आधार- आधेय सम्बन्ध के निमित्त से सम्भव हुआ है[५] और ऐसा प्रयोग जीव और शरीर के उपर्युक्त

---

१ राया हु णिग्गदो त्तिय एसो बलसमुदयस्स आदेसो ।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ।।
एवमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाण ।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जीवो ।। समयसार/गाथा ४७-४८

२ पथे मुस्सत पस्सिदूण लोगा भणति ववहारी ।
मुस्सदि एसो पथो ण य पथो मुस्सदे कोई ।।
तह जीवे कम्माण णोकम्माण च पस्सिदु वण्ण ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहि ववहारदो उत्तो ।। वही/गाथा ५८-५९

३ आलापपद्धति/सूत्र २१२

४ समयसार/आत्मख्याति/गाथा ४६

५ ''तथा जीवे बन्धपर्यायेणावस्थित कर्मणो नोकर्मणो वा वर्णमुत्प्रेक्ष्य तात्स्थ्यात् तदुपचारेण जीवस्यैष वर्ण इति व्यवहारतोऽर्हद्देवाना प्रज्ञापनेऽपि।'' वही/गाथा ५८-६०

अभेद का अनुभव कराने के लिए किया गया है।

व्याकरण और काव्यशास्त्र में उपचार

उपचार की मीमासा व्याकरणशास्त्र और काव्यशास्त्र मे भी की गयी है। काव्यशास्त्र मे इसे शब्द का लाक्षणिक प्रयोग कहा जाता है — "लक्षणया शब्दप्रयोग·।"[१] यह दो प्रकार का होता है — रूढ़ एव सप्रयोजन। जैसे "कर्मणि कुशल."[२] (कार्य मे दक्ष) यहाँ 'कुशल' शब्द का मुख्य अर्थ है 'हाथो को क्षति पहुँचाये विना कुशो को तोड़ने वाला।' किन्तु कुशो को इस प्रकार तोड़ने मे जो दक्षता आवश्यक है उससे साधर्म्य होने के कारण किसी भी कार्य को दक्षतापूर्वक सम्पन्न करनेवाले के अर्थ मे रूढ (प्रसिद्ध) हो गया है। इस रूढ़ि के कारण 'कुशल' शब्द 'दक्ष' अर्थ मे प्रयुक्त होता है। 'दक्ष' अर्थ मे 'कुशल' शब्द के प्रयोग का कोई प्रयोजन नही है। किन्तु 'सिहो माणवक ' यहाँ 'बालक' के अर्थ मे 'सिंह' शब्द का प्रयोग रूढ़ि के कारण नही किया गया है (क्योंकि वह 'बालक' के अर्थ मे रूढ़ है ही नही), अपितु बालक के सिंहसदृश क्रौर्य-शौर्यादि गुणो के अतिशय की प्रतीति कराने के प्रयोजन से किया गया है।[३]

जैनसिद्धान्त मे लक्षणा द्वारा शब्दप्रयोग (उपचार) सप्रयोजन होता है, जैसा कि पूर्व मे कहा गया है। यद्यपि आगम मे जो औपचारिक प्रयोग सप्रयोजन होते है, वे लोक मे अनादि से रूढ़ भी है, तथापि आगम मे रूढि के कारण नही, अपितु प्रयोजनवश ही उनका प्रयोग हुआ है, क्योंकि आगम मे प्रयोजन के बिना अन्य के लिए अन्य के शब्द का प्रयोग करने की कोई उपयोगिता नही है, उलटे अन्यथाबुद्धि उत्पन्न होने का ही खतरा है। लोक मे अज्ञानतावश शरीरादि को जीव कहने की अनादिपरम्परा है, किन्तु जिनेन्द्रदेव ने इस परम्परावश शरीरादि के लिए जीव शब्द प्रयुक्त नही किया है, अपितु प्रयोजनवश किया है। इसे आचार्य कुन्दकुन्द एव अमृतचन्द्र सूरि ने समयसार मे स्पष्ट किया है। प्रश्न किया गया है कि जब शरीरादि अध्यवसानभाव जीव नही हैं तब उन्हे सर्वज्ञ भगवान् ने जीव क्यो कहा है ?[४] इसके समाधान मे आचार्य कुन्दकुन्द के भाव को स्पष्ट करते हुए अमृतचन्द्र सूरि ने बतलाया है कि जीव और शरीर मे एक ऐसा विलक्षण अभेद है, जिसके

---

१ काव्यप्रकाश, २/१४

२. वही, २/९

३ "प्रयोजनप्रतिपिपादयिषया यत्र लक्षणया शब्दप्रयोगस्तत्र नान्यतस्तत्प्रतीतिरपि तु तस्मादेव शब्दात्।" काव्यप्रकाश, २/१४

४. "यद्यध्यवसानादय. पुद्गलस्वभावास्तदा कथ जीवत्वेन सूचिता इति चेत् " । समयसार/आत्मख्याति/गाथा ४६

कारण शरीर के घात से जीवघातरूप हिंसा का पाप सम्भव होता है, उसका बोध कराने के प्रयोजन से जिनेन्द्र भगवान् ने शरीर को जीव शब्द से अभिहित किया है। यदि इस विलक्षण अभेद का बोध न कराया जाय और स्वभावगत भिन्नता ही दर्शायी जाय तो शरीर के घात से जीवघातरूप हिंसा घटित नही होगी। फलस्वरूप कर्मबन्ध भी घटित नही होगा। तब लोग नि शक होकर प्राणियो का वध करेगे और कर्मबन्ध करते रहेगे, कभी मुक्त न हो पायेगे।[१] इस कारण जिनेन्द्रदेव ने प्रयोजनवश ही शरीर मे जीव शब्द का उपचार किया है।

सार यह कि जिन वस्तुओ मे परस्पर सश्लेष, सयोग, साहचर्य, सामीप्य, आधाराधेय, निमित्तनैमित्तिक, कारण-कार्य आदि सम्बन्ध होते हैं उन्ही मे से एक को दूसरे के नाम से अभिहित किया जाता है[२] और ऐसा किसी प्रयोजन से ही किया जाता है, बिना प्रयोजन के नही। बिना प्रयोजन के ऐसा करने पर अज्ञानमय व्यवहार कहलाता है।

उपचार कोई अदृष्ट कल्पना नही है, अपितु लोकप्रसिद्ध कथनशैली है।[३] वक्ता उपयुक्त अर्थ मे ही उपचार का प्रयोग करता है और श्रोता भी उससे उपयुक्त अर्थ ही ग्रहण करता है। जब कोई वक्ता कहता है कि 'यह लड़का गधा है' तो वह 'गधा' शब्द का प्रयोग 'गधा' नामक पशु के अर्थ मे नही करता, बल्कि 'अत्यन्त मूर्ख' के अर्थ मे करता है तथा श्रोता भी उससे मूर्ख अर्थ ही ग्रहण करता है, 'गधा' अर्थ नही। इसलिए यह प्रामाणिक कथनशैली है।[४] इसीलिए जिनेन्द्रदेव ने वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन करने के लिए इसका अनुसरण किया है। यद्यपि लौकिक जन लोक-प्रचलित उपचारकथन के उपयुक्त अर्थ को तो अनायास ग्रहण कर लेते हैं, किन्तु आगम मे प्रयुक्त उपचार-वचनो के उपयुक्त अर्थ को सरलतया ग्रहण कर पाना सम्भव नही है। इसलिए जिनेन्द्र भगवान् ने आगमवचनो के हार्द को समझने के लिए सर्वप्रथम नयो के अभिप्राय को हृदयगम कर लेना आवश्यक बतलाया है। कौन-

---

१ समयसार/आत्मख्याति/गाथा ४६

२ "सोऽपि सम्बन्धोऽविनाभाव , सश्लेष· सम्बन्धः, परिणामपरिणामिसम्बन्ध·, श्रद्धा-श्रद्धेयसम्बन्ध , ज्ञानज्ञेयसम्बन्ध· · · · इत्युपचरितासद्भूतव्यवहानयस्यार्थ ।"
आलापपद्धति/सूत्र २१३

३ "नेयमदृष्टकल्पना कार्यकारणोपचारस्य जगति सुप्रसिद्धस्योपलम्भात्।"
धवला पुस्तक १, सूत्र ४, पृ० १३५

४. "जैनमते पुनर्व्यवहारनयो यद्यपि निश्चयापेक्षया मृषा तथापि व्यवहाररूपेण सत्य इति। यदि पुनर्लोकव्यवहाररूपेणापि सत्यो न भवति तर्हि, सर्वोऽपि लोकव्यवहारो मिथ्या भवति, तथा सत्यतिप्रसङ्ग ।" समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ३५६-३६५

सा कथन किस नय से अर्थात् किस अपेक्षा से किया गया है यह समझ लेने पर ही उपचार-कथन के उपयुक्त अर्थ को ग्रहण कर पाना सम्भव है।

उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनयात्मक उपदेश के प्रयोजन

निश्चयनय (नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि) के प्रकरण मे प्रसगवश उन पदार्थों का वर्णन किया गया है, जिन्हे जिनेन्द्रदेव ने नियतस्वलक्षण के अभाव मे भी निमित्त और प्रयोजनवश उपचार से जीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, मोक्षमार्ग, अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र, कर्त्ता-कर्म, भोक्ता-भोग्य आदि सज्ञाएँ दी हैं। यहाँ प्रसगवश उनका पुन उल्लेख करते हुए उपचार से दी गयी उन सज्ञाओ के निमित्त और प्रयोजन का विश्लेषण किया जा रहा है और यह दर्शाया जा रहा है कि जिस वस्तु के लिए उपचार से अन्य वस्तु के वाचक शब्द (नाम) का प्रयोग किया गया है उस वस्तु के किस वास्तविक धर्म को उस शब्द की लक्षणा और व्यजना शक्तियो के द्वारा द्योतित किया गया है ? इससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय का अवलम्बन कर उपदेश देने के प्रयोजन क्या है ?

अननुभूत अतीन्द्रिय तत्त्व का द्योतन

जो मनुष्य किसी अतीन्द्रिय वस्तु के स्वरूप से सर्वथा अनभिज्ञ है, उसे उसका स्वरूप केवल वर्णन करके नही समझाया जा सकता। उसका कोई दृष्टि मे आनेवाला स्थूल रूप होता है तो उसके द्वारा समझाना सरल होता है, क्योंकि उसमे प्रस्तुत वस्तु के धर्म झलकते है। जैसे जीव एक अतीन्द्रिय तत्त्व है। उसके स्वरूप का प्रतिपादन केवल वर्णन के द्वारा सम्भव नही है। किन्तु शरीर के सयोग से उसकी जो मनुष्यादि स्थूल पर्याएँ होती है, वे सबके अनुभव मे आती हैं। उनमे जीव के धर्म झलकते हैं। अत: उन पर्यायो को जीव का नाम देकर 'मनुष्य जीव है', 'पशु-पक्षी जीव हैं' ऐसा बतलाने से जीव के धर्मों की ओर ध्यान आकृष्ट होता है और यह समझ मे आता है कि जीव एक ऐसा तत्त्व है जो जानता-समझता है, सुख-दुख अनुभव करता है और अपने आप विभिन्न प्रकार की चेष्टाएँ करता है, वह लकड़ी-पत्थर आदि पदार्थों से भिन्न है।[1] यद्यपि इस प्रकार जीव का स्पष्टरूप से बोध नही होता, उसकी पर्याय का ही बोध होता है, तथापि यह जीव के स्वरूप को हृदयगम कराने का प्राथमिक उपाय है।[2] पर्याय का बोध कराने के बाद ही यह स्पष्ट किया

---

१ मोक्षमार्गप्रकाशक/सातवाँ अधिकार/पृ० २५२

२ एवमभिगम्म जीव अण्णेहि वि पज्जएहिं वहुगेहिं ।
अभिगच्छदु अज्जीव णाणतरिदेहि लिंगेहि ।। पञ्चास्तिकाय/गाथा १२३

जा सकता है कि इन मनुष्यादि पदार्थों मे जो जानने-समझने, सुख-दुःखादि अनुभव करने तथा विभिन्न प्रकार की चेष्टाएँ करने की शक्ति है, वही जीव है, यह ऑखो से दिखाई देने वाला शरीर जीव नही है।[1] इस प्रकार ज्ञानी उपदेष्टा जीव की देहसंयोगजन्य मनुष्यादि पर्यायो मे 'जीव' शब्द का उपचार कर अज्ञ शिष्यो को उसके स्वरूप का आभास कराते हैं।

अभेदविशेष का द्योतन

जीव और शरीर सर्वथा भिन्न द्रव्य है, किन्तु ससारावस्था मे नीर-क्षीर के समान अत्यन्त मिश्रित हैं। उनके प्रदेश एक-दूसरे से इतने सश्लिष्ट हैं कि देह के परमाणुओ मे चेतना का अनुभव होता है, जिससे देह के छेदन-भेदन से जीव को दु ख की अनुभूति होती है तथा देह के साथ विषयो का सम्पर्क होने से सुख का वेदन होता है। इस तरह सर्वथा भिन्न द्रव्य होते हुए भी जीव और देह में एक प्रकार का अभेद है। यह एक विलक्षण अभेद है जो एकद्रव्यरूप न होते हुए भी एक-द्रव्य-सदृश है। इसीलिए जिनेन्द्रदेव ने जीव और शरीर मे न सर्वथा भेद बतलाया है, न सर्वथा अभेद, अपितु कथचित् भेदाभेद बतलाया है। इस अभेदविशेष की प्रतीति शरीर के लिए उपचार से 'जीव' सज्ञा का प्रयोग करने पर ही हो पाती है और इस रीति से अभेदविशेष की प्रतीति होने पर ही शरीरघात से जीवघातरूप हिसा घटित होती है, अन्यथा नही। अत इसी प्रयोजन से जिनेन्द्रदेव ने शरीर मे 'जीव' शब्द का उपचार किया है।[2]

इसी प्रकार अपनी मोहरागद्वेषरूप अशुद्धपर्याय के साथ जीव के अभेद की अनुभूति कराने के लिए जीवसंयुक्त मोहरागद्वेष मे जीव सज्ञा का उपचार किया गया है। ऐसा न करने पर रागादि के साथ जीव का अभेद सिद्ध नही होगा, जिससे कर्मबन्ध भी घटित नही होगा और कर्मबन्ध के अभाव मे मोक्ष का उपदेश भी निरर्थक ठहरेगा।[3]

लौकिक सम्बन्ध का द्योतन

ससारावस्था मे जीव के साथ शरीर, स्त्री-पुरुष, सन्तान, धन-सम्पत्ति आदि

---

१ णहि इदियाणि जीवा काया पुण छप्पयार पण्णत्ता ।
ज हवदि तेसु णाण जीवो त्ति य त परूवति ।।

पञ्चास्तिकाय/गाथा १२१

जाणदि पस्सदि सव्व इच्छदि सुक्ख विभेदि दुक्खादो ।
कुव्वति हिदमहिद वा भुजदि जीवो फल तेसि ।। वही/गाथा १२२

२ समयसार/आत्मख्याति/गाथा ४६

३ वही

जिन परद्रव्यो का सयोग होता है, उनके साथ लौकिक सम्बन्ध का द्योतन करने के लिए जीव और परद्रव्यो में स्व-स्वामिसम्बन्ध का उपचार किया गया है। ऐसा करने पर ही निजदेह-परदेह, निजधन-परधन, स्वस्त्री-परस्त्री आदि का भेद निर्धारित होता है और इस भेद पर ही पाप-पुण्य, बन्ध-मोक्ष का अस्तित्व निर्भर है। जिनेन्द्रदेव ने इस प्रकार का भेद करके व्रत, दान, पाप, पुण्य आदि के लक्षण निर्धारित किये हैं।

यदि स्वकीय-परकीय का भेद न किया जाय तो अशुचित्व भावना का जो 'स्वदेह और परदेह से विरक्त होकर आत्मस्वरूप मे लीन रहना' लक्षण बतलाया गया है, वह असत्य हो जायेगा,[1] 'स्वशरीरसस्कारत्यागरूप ब्रह्मचर्यरक्षक भावना'[2] सत्य सिद्ध न होगी, परधनहरणरूप चोरी का पाप झूठा ठहरेगा, स्वदारसन्तोष और परदारनिवृत्तिरूप ब्रह्मचर्याणुव्रत[3] की सत्ता न रहेगी, तथा अपने और दूसरे के उपकार के लिए स्ववस्तुत्यागरूप दान[4] का लक्षण घटित न होगा। फलस्वरूप पाप-पुण्य और बन्ध-मोक्ष की सारी व्यवस्था ही धराशायी हो जायेगी और मोक्षमार्ग का उपदेश निरर्थक हो जायेगा। अत तीर्थप्रवृत्ति के निमित्त आत्मा और तत्सयुक्त परद्रव्यो मे स्वस्वामिसम्बन्ध का उपचार अत्यन्त आवश्यक है।

बन्धमोक्ष में जीव-स्वातन्त्र्य का द्योतन

जीव के शुभाशुभ परिणाम पुद्‌गलद्रव्य के कर्मरूप-परिणमन मे प्रेरक है।[5] जब वह शुभाशुभ परिणाम करता है तभी पुद्‌गलपरमाणु कर्म बनकर जीव से सश्लिष्ट होते हैं, अपने आप नही। इस प्रकार अपने को कर्मबद्ध करने मे जीव स्वतन्त्र है। वह चाहे तो शुभाशुभ परिणामो का निरोधकर स्वय को कर्मबन्धन से बचा सकता है और मोक्ष पा सकता है। स्वातन्त्र्य का भाव 'कर्त्ता' शब्द मे गर्भित है। कहा भी गया है —'स्वतन्त्र. कर्त्ता।'[6] अत: बन्ध और मोक्ष के कार्य मे जीव

---

१ जो परदेहविरत्तो णियदेहे ण य करेदि अणुराय ।
अप्पसरूवसुरत्तो असुइत्ते भावणा तस्स ।। कार्तिकेयानुप्रेक्षा/गाथा ८७

२. "स्त्रीरागकथाश्रवण · स्वशरीरसस्कारत्यागा पञ्च।"
तत्त्वार्थसूत्र/सप्तम अध्याय/सूत्र ३८

३ "ब्रह्मचर्यं स्वदारसन्तोष परदारनिवृत्ति·, कस्यचित् सर्वस्त्रीनिवृत्ति.।"
चारित्तपाहुड/श्रुतसागरटीका/गाथा २१

४. "अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्।" तत्त्वार्थसूत्र/सप्तम अध्याय/सूत्र ३८

५. (क) "क्रियावतात्मना प्रेर्यमाणा पुद्‌गला वाक्त्वेन विपरिणमन्त इति।"
सर्वार्थसिद्धि/पञ्चम अध्याय/सूत्र १७
(ख) "जीवेन वा मिथ्यादर्शनादिपरिणामै क्रियन्ते इति कर्माणि।"
आप्तपरीक्षा/कारिका ११५

६. अष्टाध्यायी १/२/४५

के स्वातन्त्र्य का द्योतन करने के लिए जिनेन्द्रदेव ने उसे उपचार से पुद्गल कर्मों के कर्त्ता की सज्ञा दी है,[1] जिससे जीव अपने बन्ध और मोक्ष मे स्वय को उत्तरदायी अनुभव कर कर्मबन्धन से बचने के लिए शुभाशुभपरिणामों से निवृत्त होने का पौरुष करे। पुद्गल द्रव्य के कर्मरूपपरिणमन मे प्रयोजक होने की अपेक्षा जीव पुद्गलकर्मों का कर्त्ता है ही।[2] इसीलिए आचार्य अमृतचन्द्र ने जीव को परद्रव्य का निमित्तरूपेण कर्त्ता कहा है।[3]

विषयभोक्तृत्व का उपपादन

पौद्गलिक इन्द्रियविषयो के साथ चेतन आत्मा का ससर्ग (तन्मयत्व) नही हो सकता, अत: आत्मा परमार्थत: इन्द्रियविषयों का भोक्ता नही है। शरीर या इन्द्रियो के साथ जो विषयो का संसर्ग होता है उसके निमित्त से होनेवाले सुख-दुःख का भी वह परमार्थत: अभोक्ता है, क्योंकि वे सुख-दुःख जीव की पुद्गलसयुक्त अवस्था मे ही उत्पन्न होते हैं, फलस्वरूप उनका भोक्ता अशुद्ध (सोपाधिक) जीव होता है।

किन्तु जैसा कि पूर्व मे निरूपित किया गया है जीव और शरीर मे कथंचित् अभेद है, इसलिए जैसे शरीरघात से जीवघात घटित होता है वैसे ही शरीर के साथ विषयसम्पर्क होने से जीव के साथ विषयसम्पर्क घटित होता है। जैसे शरीर के छेदन-भेदन से आत्मा को पीड़ा के रूप मे छेदन-भेदन का आस्वादन होता है वैसे ही इन्द्रियो के साथ विषयससर्ग होने पर जीव को सुख-दु ख के रूप मे विषयो के रस का आस्वादन होता है। इसलिए भगवान् ने उपचार से जीव को विषयो के भोक्ता की सज्ञा दी है, और विषयो को भोग्य की। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित वक्तव्यो मे आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा सम्यग्दृष्टि जीव चेतन-अचेतन द्रव्यों का भोक्ता कहा गया है —

उवभोगमिंदियेहि दव्वाणमचेदणाणमिदराण ।
ज कुणदि सम्मदिट्ठी त सव्व णिज्जरणिमित्त ।।[4]

— सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियो के द्वारा चेतन, अचेतन तथा अन्य द्रव्यो का जो उपभोग करता है वह सब उसके लिए निर्जरा का निमित्त बनता है।

१. "कत्ता, भोत्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारो।" नियमसार/गाथा १८

२. "तत्प्रयोजको हेतुश्च" (कर्त्तु प्रयोजको हेतुसंज्ञ. कर्तृसंज्ञश्च स्यात्)।
अष्टाध्यायी, १/४/५५

३ "अनित्यौ योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्त्तारौ।"
समयसार/आत्मख्याति/गाथा १००

४ वही/गाथा १९३

दव्वे उवभुजते णियमा जायदि सुह वा दुक्ख वा ।
त सुहदुक्खमुदिण्ण वेददि अह णिज्जर जादि ।।[१]

—परद्रव्य का उपभोग करने से जीव को नियम से सुख-दुःख की अनुभूति होती है, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव सुख-दुःख मे राग-द्वेष नही करता, अपितु उन्हे अरतिपूर्वक भोगता है, इसलिए वह निर्जरा का निमित्त बन जाता है।

यदि जीव को उपचार से विषयो का भोक्ता न कहा जाय तो परमार्थत विषयो का भोक्ता न होने से विषयाश्रित सुख-दुःख का भोक्ता भी सिद्ध न होगा। जब किसी भी नय से जीव के साथ विषयो का सम्पर्क घटित नही हो सकता तब विषयसम्पर्क के अभाव मे जीव की सुखदुःखात्मक परिणति कैसे घटित हो सकती है ? हाँ, यदि वह उपचार से विषयो का भोक्ता सिद्ध हो तो (अशुद्ध) निश्चयनय से विषयाश्रित सुख-दुःख का भोक्ता सिद्ध हो सकता है। किसी भी नय से जीव का विषयभोक्तृत्व उपपन्न न होने पर शरीर ही विषयो का भोग करनेवाला ठहरेगा। इस स्थिति मे प्रयत्नपूर्वक विषयसामग्री जुटाते हुए तथा उसका इन्द्रियो से सयोग कराते हुए और तन्निमित्तक सुख-दुःख भोगते हुए भी जीव विषयभोग करनेवाला सिद्ध नही होगा। इससे कर्मबन्ध भी घटित नही होगा, जिससे विषयभोग करते हुए भी मोक्ष होने का प्रसग आयेगा।

उपचार से (जीव और शरीर मे कथचित् अभेद होने की अपेक्षा) भी जीव को विषयो का भोक्ता न मानने के कारण कुछ लोग प्रतिपादित करते है कि विषय-भोग तो जड़ शरीर की क्रिया है, आत्मा की नही और इस विपरीत श्रद्धान से वे स्वच्छन्द होकर विषय-भोग करते हैं और अपने को कर्मबन्ध का अभाव मानते हैं। किन्तु वे यह भूल जाते है कि जिनेन्द्रदेव ने जीव और शरीर मे सर्वथा भेद मानने को एकान्त मिथ्यात्व कहा है और कथचित् अभेद के श्रद्धान का उपदेश दिया है। अत कथचित् अभेद का श्रद्धान होने पर विषयभोग जड़शरीर की क्रिया नही, अपितु सजीव शरीर अथवा सशरीर जीव की क्रिया सिद्ध होता है। वैसे भी निर्जीव शरीर विषयभोग करने मे समर्थ नही है।

उपचार से जीव को विषयो का भोक्ता कहना मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहने के समान सर्वथा असत्य वचन नहीं है, अपितु यह कथन जीव और शरीर के कथंचित् अभेद की सत्यता पर आश्रित है, अत सत्यवचन है। अन्तर केवल यह है कि यह पारमार्थिक सत्य नही है, अपितु व्यावहारिक सत्य है। इस सत्य की अनेकान्त-सिद्धान्त मे कितनी मान्यता है यह इस बात से स्पष्ट हो जाता

---

१ समयसार/गाथा १९४

है कि जीव को उपचारमूलक व्यवहारनय से विषयो का भोक्ता न मानने पर भयकर अनर्थ हो सकता है। जिस प्रकार जीव को देह से सर्वथा भिन्न बतलाना अनर्थकारी है, वैसे ही इन्द्रिय-विषयों का सर्वथा अभोक्ता घोषित करना भी अत्यन्त घातक है। केवल निश्चयनय का उपदेश जीव को पाप-मार्ग मे घसीटकर ले जा सकता है। कारण यह है कि निश्चयनय के अनुसार तो जीव परद्रव्य का भोग कर ही नही सकता, क्योंकि परद्रव्य के साथ तन्मय (परद्रव्यमय) नही होता। अब यदि इसी उपदेश को जीव ने सर्वथा सत्य मान लिया, तो विषयभोग मे आकण्ठ मग्न रहते हुए भी अपने को भोगी या असयमी नही मानेगा, जड़ शरीर को ही विषयभोग का कर्त्ता मानेगा। इस भ्रम मे रहते हुए वह निरन्तर कर्मबन्ध करता रहेगा और कभी मुक्त न हो पायेगा।

जीव के द्वारा विषयो का भोग किया जाना यदि सर्वथा असत्य हो, तो सयम और तप की सिद्धि के लिए विषयो के त्याग का उपदेश भी मिथ्या हो जायेगा। जिनेन्द्रदेव ने निश्चयमोक्षमार्ग को साध्य बनाने के लिए व्यवहारमोक्षमार्ग के रूप मे विषयो से निवृत्तिरूप इन्द्रिय-सयम, स्वदार-परदारनिवृत्तिरूप ब्रह्मचर्य, आहार एव रसपरित्यागादिरूप तप, भोग और उपभोग की वस्तुओ का परिसीमनरूप भोगोपभोग-परिमाण अणुव्रत, बाह्यवस्तुपरित्यागरूप बाह्य अपरिग्रह इत्यादि के अनुष्ठान का उपदेश दिया है। इन समस्त मोक्षोपायो मे विषयो के परित्याग का उपदेश है। यदि जीव के द्वारा विषयभोग किया जाना सर्वथा असत्य हो तो इन समस्त व्यावहारिक मोक्षोपायो का उपदेश असत्य ठहरेगा। इनके असत्य ठहरने पर निश्चयमोक्षमार्ग एक असाध्य और काल्पनिक वस्तु सिद्ध होगा। किन्तु सर्वज्ञ भगवान् का उपदेश मिथ्या नही है, इससे स्पष्ट है कि जीव का कथचित् विषयो का भोक्ता होना सत्य है। इस सत्य को दर्शाने के लिए ही भगवान् ने जीव को उपचार से 'विषयो का भोक्ता' एव विषयो को 'भोग्य' सज्ञा दी है।

संयोग-वियोग-प्रयोजकत्व का द्योतन

जीव स्वपरिणाम मे ही व्याप्त होता है और स्वपरिणाम से ही निवृत्त होता है, इसलिए स्वपरिणाम का ही मुख्यत: ग्राहक और त्याजक है।[1] परद्रव्य परिणाम मे व्याप्त नही होता (परद्रव्यपरिणाममय नही होता), इसलिए उससे निवृत्त भी नही होता। अत: निश्चयनय से परद्रव्य का ग्राहक-त्याजक नही है।[2] तथापि ससारी

१ "तत्तु प्रवर्तमान यद्यदभिव्याप्य प्रवर्तते निवर्तमान च यद्यदुपादाय निवर्तते तत्तत्समस्तमपि सहप्रवृत्त क्रमप्रवृत्त वा पर्यायजातमात्मेति लक्षणीयम्।"

समयसार/आत्मख्याति/गाथा २९४

२ "सोऽयमात्मा परद्रव्योपादानहानशून्योऽपि।" प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका २/९४

जीव अपने साथ परद्रव्य के संयोग और वियोग की इच्छा (उपयोग) तथा तदनुकूल शारीरिक व्यापार को प्रेरित करनेवाली आत्मप्रदेश-परिस्पन्दरूप चेष्टा (योग) करता है, जिससे उसके साथ परद्रव्य का सयोग-वियोग होता है। इस तरह जीव अपने साथ परद्रव्य के संयोग-वियोग का प्रयोजक है, अर्थात् परद्रव्य सयोग-वियोग जीव के अधीन है। प्रयोजकत्व का यह भाव ग्राहक-त्याजक शब्दो के अर्थ मे गर्भित है। इसलिए जिनेन्द्रदेव ने इस भाव की प्रतीति कराने के लिए जीव मे परद्रव्यग्राहक एवं परद्रव्यत्याजक सज्ञाओ का उपचार किया है। इस तरह के उपचार द्वारा सर्वज्ञ ने जो उपदेश दिया है उसे आचार्य कुन्दकुन्द ने इन शब्दो मे निबद्ध किया है —

"नग्न मुद्रा के धारक मुनि तिलतुषमात्र भी परिग्रह हाथो मे ग्रहण नही करते। यदि थोड़ा-बहुत ग्रहण करते हैं तो निगोद मे जाते हैं।"[1]

"मुनि को केवल वही अल्पपरिग्रह ग्रहण करना चाहिए जो हिसादि का कारण न हो, मूर्च्छा का जनक न हो तथा जिसकी असयमी मनुष्य आकाक्षा न करते हो।"[2]

"भावो को शुद्ध करने के लिए बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है, किन्तु जो रागादिरूप आभ्यन्तर परिग्रह से युक्त है उसका बाह्य त्याग निष्फल है।"[3]

श्री उमास्वामी ने भी 'अदत्तादान स्तेयम्'[4] तथा 'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्'[5] सूत्रो मे इसी प्रकार के उपचारात्मक उपदेशो को निबद्ध किया है।

इन प्रयोजकत्व-द्योतक ग्राहक-त्याजक सज्ञाओ का उपचार इसलिए आवश्यक है कि जीव निश्चयनय के उपदेश को एकान्तत· ग्रहणकर अपने को परद्रव्य का सर्वथा अग्राहक और अत्याजक न समझ ले, क्योंकि ऐसा होने पर बाह्य परिग्रह रखते हुए भी अपने को परिग्रही नही मानेगा। तब परिग्रहपरिमाण अणुव्रत और बाह्यग्रन्थत्यागरूप अपरिग्रह महाव्रत भी असत्य हो जायेगे। वस्त्रधारण करने पर भी वीतराग मुनि कहला सकेगा। आदान-निक्षेपण समिति भी सम्भव न होगी। अदत्तादानरूप चोरी एव चतुर्विधदानरूप धर्म भी असम्भव होगे। इस प्रकार बन्ध

---

१. जह जायरूवसरिसो तिलतुसमेत्त न गिहदि हत्थेसु ।
जइ लेइ अप्पबहुय तत्तो पुण जाइ णिग्गोद ।। सुत्तपाहुड/गाथा १८

२. अप्पडिकुट्ठ उवधि अपत्थणिज्ज असजदजणेहि ।
मुच्छादिजणणरहिद गेण्हदु समणो जदि वि अप्प ।। प्रवचनसार/गाथा ३/२३

३. भावविसुद्धिणिमित्त बाहिरगथस्स कीरए चाओ ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगथजुत्तस्स ।। भावपाहुड/गाथा ३

४ तत्त्वार्थसूत्र/सप्तम अध्याय/सूत्र १५

५ वही/सप्तम अध्याय/सूत्र ३८

और मोक्ष की सारी व्यवस्था बेबुनियाद सिद्ध होगी। अतः इसे साधार और युक्तिमत् सिद्ध करने के लिए जिनेन्द्रदेव ने जीव को उपचार से परद्रव्य का ग्राहक और त्याजक कहा है, जिससे यह स्पष्ट हो जाय कि भले ही जीव परमार्थतः परद्रव्य का ग्राहक-त्याजक नही है, किन्तु उसके साथ परद्रव्य का सयोग-वियोग स्वय के ही योग और उपयोग तथा स्वय के द्वारा अर्जित कर्मो के उदय से होता है। इसलिए परद्रव्य-सयोग-वियोग के अच्छे-बुरे परिणाम का भागी जीव स्वय होता है।

साधर्म्यविशेष का द्योतन

जिस वस्तु मे कोई धर्म स्वभावत· प्रसिद्ध होता है, वह उस धर्म की अपेक्षा मुख्य वस्तु है तथा जिसमे वह धर्म होता है पर स्वभावतः प्रसिद्ध नही होता, उसे जब मुख्य वस्तु का नाम देकर प्रसिद्ध किया जाता है, तब वह वस्तु उस धर्म की अपेक्षा अमुख्य वस्तु कहलाती है। लोक मे अमुख्य के लिए मुख्य वस्तु के नाम का प्रयोग कर उसके मुख्यवस्तुसदृश धर्म को द्योतित किया जाता है। जैसे लोक मे सिह क्रौर्यशौर्यादि धर्मो की प्रबलता के लिए स्वभावत. प्रसिद्ध है। अब यदि किसी बालक मे भी क्रौर्यशौर्यादि का आधिक्य है, तो उन्हे द्योतित करने के लिए बालक को सिह शब्द से अभिहित किया जाता है, जिससे साधर्म्य सम्बन्ध के आधार पर बालक के क्रौर्यशौर्यादि धर्मो का आधिक्य अनायास बुद्धिगम्य हो जाता है। यह कथन की व्यजनात्मक शैली है, जो विवक्षित अर्थ को स्वशब्द से वर्णित न कर परशब्द से व्यजित करती है। प्रभावोत्पादकता एव सक्षिप्तता इस शैली की विशेषता है। उपचार का यह लोकप्रसिद्ध प्रयोजन है। आगम मे भी इस प्रयोजन से उपचार का प्रयोग किया गया है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

शुद्धोपयोग मुख्यत. मोक्षमार्ग है। वह मोक्ष का हेतु है, अतएव उपादेय है। सम्यक्त्वपूर्वक अथवा सम्यक्त्वोन्मुख शुभोपयोग उसका साधक है, इसलिए वह भी परम्परया मोक्ष का हेतु है, इस कारण आरम्भिक अवस्था मे उपादेय भी है। इस प्रकार मोक्षमार्ग एव उक्त शुभोपयोग मे उपादेयतारूप साधर्म्य है। किन्तु यह उपादेयतारूप समान धर्म मोक्षमार्ग मे तो स्वभावत. प्रसिद्ध है, परन्तु सम्यक्त्वपूर्वक या सम्यक्त्वोन्मुख शुभोपयोग मे स्वभावत प्रसिद्ध नही है। इसलिए शुभोपयोग मे उपादेयतारूप धर्म द्योतित करने के लिए शुभोपयोग को उपचार से मोक्षमार्ग नाम दिया गया है।[1] परिणामस्वरूप शुभोपयोग के साथ मोक्षमार्ग शब्द सुनकर सम्यक्त्व-पूर्वक या सम्यक्त्वोन्मुख शुभोपयोग का उपादेयतारूप धर्म साधर्म्यसम्बन्ध के द्वारा अनायास बुद्धि मे उतर जाता है।

---

१ "उपचारस्यापि किञ्चित्साधर्म्यद्वारेण मुख्यार्थस्पर्शित्वात्।" स्याद्वादमञ्जरी ५/२६

आत्मश्रद्धान मुख्यतः सम्यग्दर्शन है। वह विपरीतश्रद्धान का निवारक है, अतः मोक्ष के लिए उपादेय है। जीवादि तत्त्वो का श्रद्धान उसका साधक है, इसलिए वह भी परम्परया विपरीत श्रद्धान का निवारक अतएव मोक्ष के लिए उपादेय है। जीवादिश्रद्धान का यह उपादेयतारूप धर्म सम्यग्दर्शन के उपादेयतारूप धर्म से समानता रखता है, किन्तु यह सम्यग्दर्शन मे ही प्रसिद्ध है, जीवादिश्रद्धान मे नही। अतः जीवादिश्रद्धान मे उपादेयतारूपधर्म प्रद्योतित करने के लिए जिनेन्द्रदेव ने जीवादिश्रद्धान को उपचार से सम्यग्दर्शन कहा है। इसी प्रकार आत्मज्ञान मुख्यत सम्यग्ज्ञान है। वह मिथ्याज्ञान का विनाशक है, इस कारण मोक्ष के लिए उपादेय है। जीवादि तत्त्वो का ज्ञान उसका साधक है। वह मिथ्याज्ञान का परम्परया विनाशक अतएव मोक्ष के लिए उपादेय है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान और जीवादि तत्त्वो के ज्ञान मे उपादेयतारूप साधर्म्य है। किन्तु यह समानधर्म सम्यग्ज्ञान मे ही प्रसिद्ध है जीवादि तत्त्वो के ज्ञान मे नही। इसलिए जीवादितत्त्वज्ञान मे उपादेयतारूपधर्म दर्शाने हेतु उसमे सम्यग्ज्ञान का उपचार किया गया है। तथा निजशुद्धात्मस्वरूप मे स्थित होना मुख्यत सम्यक्चारित्र है। वह मिथ्याचारित्र का निरोधक है, अतएव मोक्ष के लिए उपादेय है। शुभप्रवृत्ति उसकी साधक है। इसलिए वह भी मिथ्याचारित्र की परम्परया निरोधक होने से प्राथमिक भूमिका मे मोक्ष के लिए उपादेय है। इस तरह शुभप्रवृत्ति का सम्यक्चारित्र से उपादेयतारूप साधर्म्य है। किन्तु चूँकि यह समानधर्म सम्यक्चारित्र मे ही प्रसिद्ध है, शुभप्रवृत्ति मे नही, इसलिए इसे शुभप्रवृत्ति मे परिलक्षित करने के लिए अरहन्तदेव ने शुभप्रवृत्ति को उपचार से सम्यक्चारित्र सज्ञा दी है।

रागद्वेषमोह मुख्यत. आस्रव-बन्ध है। वे ससार और दुख के कारण है, इसलिए हेय है। उनके निमित्त से कर्मपुद्गलो का आत्मा मे आगमन और सश्लेष होता है। वह भी ससार और दुख का हेतु है, अत हेय है। इस तरह इनमे भी साधर्म्य है। किन्तु ये दुखहेतुत्व एव हेयत्व धर्म आस्रवबन्ध मे ही प्रसिद्ध है, कर्मपुद्गलो के आगमन और सश्लेष मे नही। इसलिए कर्मपुद्गलो के आगमन और सश्लेष मे इन धर्मों की प्रतीति करने के लिए कर्मपुद्गलो के आगमन और सश्लेष को उपचार से आस्रव-बन्ध नाम दिये गये हैं।

रागद्वेषमोह का अभाव मुख्यत. सवर है। उसमे जीव को मोक्ष प्राप्त कराने का धर्म है, इसलिए उपादेय होने का भी धर्म है। रागद्वेषमोहाभाव के निमित्त से नवीन कर्मो के आगमन का निरोध होता है। अत· उसमे भी इन धर्मो का अस्तित्व है। किन्तु ये मोक्षहेतुत्व एव उपादेयत्व धर्म सवर मे ही प्रसिद्ध है, नवीन कर्मो के निरोध मे नही। इसलिए नवीन कर्मो के निरोध मे इन धर्मो का अस्तित्व द्योतित करने के लिए नवीन कर्मों के निरोध को उपचार से सवर कहा गया है।

शुद्धोपयोग मुख्यत: निर्जरा है। उसके निमित्त से पूर्वबद्ध कर्मों का एकदेश-क्षय होता है। ये दोनो मोक्ष के हेतु है और इस कारण उपादेय है, अत· दोनो मे इस दृष्टि से साधर्म्य है। किन्तु मोक्षहेतुता एव उपादेयता धर्म निर्जरा मे ही प्रसिद्ध है, एकदेश कर्मक्षय मे नही, इसलिए एकदेशकर्मक्षय मे इन धर्मो की प्रतीति कराने हेतु एकदेशकर्मक्षय के लिए उपचार से 'निर्जरा' शब्द का प्रयोग किया गया है।

क्षायिक-ज्ञानदर्शनसहित यथाख्यातचारित्ररूप आत्मपरिणाम मुख्यत. मोक्ष नामक पदार्थ है।[1] उसमे सम्पूर्ण कर्मों का नाशकर सिद्धत्व को आविर्भूत करने का और इस कारण उपादेय होने का धर्म है। इस मोक्ष-तत्त्व के निमित्त से जो सम्पूर्ण पुद्गलकर्मो का क्षय होता है उसमे भी ये धर्म है। किन्तु ये मोक्ष-पदार्थ मे ही प्रसिद्ध है, सम्पूर्ण कर्मक्षय मे नही। इसलिए सम्पूर्ण कर्मक्षय मे ये धर्म द्योतित करने के लिए सम्पूर्ण कर्मक्षय को उपचार से मोक्ष सज्ञा दी गई है।

रागादि का अभाव मुख्यत· अहिसा है। सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह भी रागादि के अभाव के ही नाम है। ये अहिसादि ससाराभाव के हेतु है अतएव उपादेय है। रागादि के अभाव से अर्थात् अहिंसादि के सद्भाव से जीवघात, असत्यवचन, अदत्तादान, रतिक्रीडा, परद्रव्यग्रहण आदि का अभाव होता है। ये शुभप्रवृत्तियाँ भी ससाराभाव की परम्परया हेतु है, इसलिए उपादेय हैं। निष्कर्षत. अहिसादि के सद्भाव तथा जीवघातादि से निवृत्ति मे उपर्युक्त साधर्म्य हैं। किन्तु ससाराभावहेतुत्व तथा उपादेयत्व धर्म अहिसादि मे ही प्रसिद्ध है, जीवघातादि-निवृत्ति मे नही। फलस्वरूप जीवघातादि से निवृत्ति मे भी इन धर्मो को प्रसिद्ध करने के लिए जिनेन्द्रदेव ने जीवघातादि से निवृत्ति को उपचारत अहिसादि नामो से सकेतित किया है। अहिसादि नामो से अभिहित होने पर साधर्म्य सम्बन्ध के द्वारा जीवघातादि-निवृत्ति मे गर्भित उपर्युक्त धर्म अनायास बुद्धिगम्य हो जाते है।

सार यह कि औपचारिक शब्द-प्रयोग द्वारा अज्ञ शिष्यो को आत्मादि अतीन्द्रिय पदार्थो के स्वरूप का आभास कराया जाता है, जीव और शरीर के अभेद-विशेष एव परद्रव्य के साथ लौकिक सम्बन्धो की वास्तविकता दर्शाकर हिसादि पापो, अहिसादि धर्मो तथा बन्ध-मोक्ष की युक्तिमत्ता सिद्ध की जाती है, बन्ध और मोक्ष मे जीव के स्वातन्त्र्य का प्रतिपादन किया जाता है, जीव के विषयभोक्तृत्व को युक्तिमत् सिद्धकर इन्द्रिय-सयमादि के उपदेश का औचित्य प्रतिपादित किया जाता है, जीव

---

१ "निरवशेषकर्माणि येन परिणामेन क्षायिकज्ञानदर्शनयथाख्यातचारित्रसज्ञितेन अस्यन्ते स मोक्ष । विश्लेषो वा समस्ताना कर्मणाम्।"

भगवती आराधना/विजयोदयाटीका/गाथा ३८

के द्वारा परद्रव्य के ग्रहण-त्याग की युक्तिमत्ता प्रदर्शित कर अपरिग्रह, दत्तादान, स्वदार-परदारनिवृत्ति आदि व्रतो, आदान-निक्षेपण आदि समितियो, आहारादि चतुर्विध दानो तथा अनशन, रस-परित्याग आदि तपो के उपदेश की युक्ति-सगतता का अनुभव कराया जाता है। इसके अतिरिक्त औपचारिक शब्द से जो साधर्म्यसम्बन्ध अभिव्यक्त होता है, उसके द्वारा शुभोपयोग आदि के परम्परया मोक्षहेतुत्व एव उपादेयत्व आदि धर्मो का तथा आस्रवादि के ससारहेतुत्व एव हेयत्वादि धर्मों का द्योतन किया जाता है। इस प्रकार वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन मे उपचारमूलक असद्भूत व्यवहारनय महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

अपरमार्थ होते हुए भी परमार्थप्रतिपादक

यहॉ इस तथ्य पर ध्यान देना होगा कि जिस शब्द का प्रयोग उपचार से किया जाता है, उसका अर्थ बदल जाता है। वह मुख्य (प्रसिद्ध) अर्थ का वाचक न होकर मुख्यार्थ के सहचारी उन अर्थो का व्यजक हो जाता है, जिनकी सत्ता उपचरित वस्तु मे होती है अर्थात् उस वस्तु मे जिसके लिए उस शब्द का उपचारत प्रयोग होता है। इसलिए उपचार परमार्थ (वस्तुधर्म) का ही प्रतिपादन करता है। वह केवल मुख्यार्थ की अपेक्षा अभूतार्थ होता है, मुख्यार्थ से द्योतित होनेवाले सहचारी अर्थ की अपेक्षा नही। यह नियम भी है कि उपचार से प्रयुक्त किये शब्द का मुख्यार्थ सदा गौण हो जाता है और उससे द्योतित होनेवाला अर्थ ही प्रधानता ग्रहण कर लेता है। किन्तु, चूँकि अज्ञानीजन इसके मुख्यार्थ को ग्रहणकर भ्रमित हो सकते है, इसलिए उनको भ्रम से बचाने के लिए उपदेश दिया गया है कि उपचार अभूतार्थ है, किन्तु अभूतार्थ का प्रतिपादक है, ऐसा नही कहा गया है, अपितु अपरमार्थ होते हुए भी परमार्थ का प्रतिपादक है, ऐसा ही प्रज्ञापित किया गया है।[1]

वस्तुधर्म का प्रतिपादक

उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक है, इस आर्षवचन से सिद्ध है कि वह वस्तुधर्म का प्रतिपादक है। कुछ आधुनिक पण्डितो का मत है कि इस असद्भूतव्यवहारनय का विषय वस्तुधर्म नही है, अपितु उपचारमात्र है। वस्तुधर्म को व्यवहारनय का विषय माननेवाले विद्वज्जनो पर आपेक्ष करते हुए यह वर्ग लिखता है —

---

१ "सर्व एवैतेऽध्यवसानादयो भावा जीवा इति यद् भगवद्भि सकलज्ञै· प्रज्ञप्त तदभूतार्थस्यापि व्यवहारस्यापि दर्शनम्। व्यवहारो हि व्यवहारिणा म्लेच्छभाषेव म्लेच्छाना परमार्थप्रतिपादकत्वाद् अपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्त दर्शयितुं न्याय्य एव।" समयसार/आत्मख्याति/गाथा ४६

"अपर पक्ष समझता है कि व्यवहारनय का विषय भी वस्तु का धर्मविशेष है, किन्तु ऐसी बात नहीं है। ··· 'निश्चय' शुद्ध अखण्ड वस्तु है और 'व्यवहार' अखण्ड वस्तु मे भेद उपजाकर उसका कथन करना मात्र है।[१] अब रहा असद्भूत-व्यवहारनय सो उसका विषय मात्र उपचार है।"[२]

यही बात यह पण्डितवर्ग निम्नलिखित शब्दो मे दुहराता है – "सद्भूत-व्यवहारनय का विषय सज्ञा, प्रयोजन और लक्षण आदि को ध्यान मे रखकर अखण्ड त्रिकालाबाधित वस्तु मे भेद उपजाकर कथन करना मात्र है और असद्भूत-व्यवहारनय का विषय एक वस्तु मे अन्य वस्तु के गुणधर्म का प्रयोजनादिवश आरोपकर कथन करना मात्र है।"[३]

विद्वद्वर्ग का यह कथन स्वविरोधी है, क्योंकि यह स्वय सिद्ध करता है कि असद्भूतव्यवहारनय का विषय वस्तुधर्म है। वे स्वीकार करते है कि एक वस्तु मे अन्य वस्तु के गुणधर्म का आरोप (उपचार) प्रयोजनवश किया जाता है। यह प्रयोजन क्या है ? वस्तुधर्म का प्रकाशन ही वह प्रयोजन है। पूर्व मे स्पष्ट किया गया है कि उपचार के द्वारा अनेक वस्तुधर्म प्रकाशित किये जाते है, जैसे जीव और शरीर का विलक्षण अभेद, स्वशरीर-परशरीर, स्वधन-परधन, स्वदार-परदार आदि के रूप मे रहनेवाले लौकिक सम्बन्ध, बन्ध और मोक्ष मे जीव का स्वातन्त्र्य आदि। इन्ही वस्तुधर्मो पर परद्रव्याश्रित, बाह्य हिसा-अहिसा, व्रत-अव्रत, सयम-असयम, तप-अतप, परिग्रह-अपरिग्रह आदि की वास्तविकता अवलम्बित है। उपचार के द्वारा परद्रव्याश्रित व्रत, सयम, तप आदि के मोक्षहेतुत्व एव उपादेयत्व का भी प्रतिपादन किया जाता है, ये भी वस्तुधर्म है। इन वस्तुधर्मो की प्रतीति कराना ही वह प्रयोजन है, जिसके लिये एक वस्तु मे अन्य वस्तु के धर्म का आरोप करके कथन किया जाता है। इसलिये उपचार की प्रयोजनाधीनता स्वीकार कर उक्त विद्वान् स्वय स्वीकार करते है कि उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय का विषय वस्तुधर्म है।

व्याकरणशास्त्र और काव्यशास्त्र मे भी साधर्म्यादि सम्बन्ध के द्वारा वस्तुधर्म की प्रतीति कराना ही उपचार का प्रयोजन है। लोक मे भी 'यह बालक सिह है' इत्यादि औपचारिक प्रयोगो के द्वारा साधर्म्यादि सम्बन्ध के आधार पर बालक के सिहसदृश क्रौर्यशौर्यादि धर्मो के अतिशय को ही व्यजित किया जाता है। उपचार केवल उपचार के लिए नही होता। वस्तुधर्म को द्योतित करने के लिए ही उपचार का प्रयोग किया जाता है। कोई भी आदमी किसी मनुष्य को केवल 'बैल' कहने

१ जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृष्ठ ८३२

२ वही, २/४३६

३ वही २/८३२-८३३

के लिए बैल नही कहता, अपितु बैलसदृश जाड्यमान्द्यादि धर्मों के अतिशय की प्रतीति कराने के प्रयोजन से 'बैल' शब्द का उपचार करता है।[१] इस प्रकार वस्तुधर्म का प्रतिपादक होने से ही जिनेन्द्रदेव ने उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय को अपरमार्थ होते हुए भी परमार्थ का प्रतिपादक बतलाया है। स्याद्वादमञ्जरीकार ने भी कहा है —

"लौकिकानामपि घटाकाश पटाकाशमिति व्यवहारप्रसिद्धेराकाशस्य नित्यानित्यत्वम्। न चायमौपचारिकत्वाद् अप्रमाणमेव। उपचारस्यापि किञ्चित्साधर्म्यद्वारेण मुख्यार्थस्पर्शित्वात्।"[२]

— लोक मे भी घटाकाश, पटाकाश ऐसा व्यवहार प्रसिद्ध है, इसलिए आकाश नित्यानित्य है। औपचारिक होने के कारण यह अप्रमाण है, ऐसा भी नही कहा जा सकता, क्योंकि उपचार भी किंचित् साधर्म्य के द्वारा मुख्यार्थ (मुख्यार्थ के सहचारी अर्थ) का ही स्पर्श करता है (व्यजित करता है)।

ये आर्षवचन सिद्ध करते है कि उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय का विषय भी वस्तुधर्म ही है।

उपचार और अज्ञानियों के व्यवहार में अन्तर

पूर्वोक्त पण्डितवर्ग उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय को अज्ञानियो के अनादिरूढ़ व्यवहार का पर्यायवाची मानता है। इसलिए उसने असद्भूतव्यवहारनय को सर्वथा अभूतार्थ घोषित किया है। अपनी मान्यता पण्डितवर्ग ने निम्नलिखित कथन मे व्यक्त की है —

"अब रहा असद्भूत व्यवहारनय, सो उसका विषय मात्र उपचार है। समयसार, गाथा ८४ मे पहले आत्मा को व्यवहारनय से पुद्गलकर्मो का कर्त्ता और भोक्ता बतलाया गया है, किन्तु यह व्यवहार असद्भूत है, क्योंकि अज्ञानियो का अनादि ससार से ऐसा प्रसिद्ध व्यवहार है, इसलिए गाथा ८५ मे दूषण देते हुए निश्चयनय का अवलम्बन लेकर उसका निषेध किया गया है।"[३]

कथित विद्वद्वर्ग की यह मान्यता अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है। इसके निम्नलिखित कारण है —

(१) अज्ञानियो का व्यवहार अज्ञान का विकल्प है, उपचारमूलक

---

१ 'गौर्वाहीक ' अत्र हि स्वार्थसहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गोशब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपयान्ति इति केचित्।" काव्यप्रकाश, २/१२

२ स्याद्वादमञ्जरी, ५/२६

३ जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २, पृष्ठ ४३६

असद्भूतव्यवहारनय श्रुतज्ञान का। आचार्य अमृतचन्द्र ने स्पष्ट शब्दो मे 'जीव कर्मों से बद्ध है', ऐसा निर्णय करनेवाले उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय को श्रुतज्ञान का अवयव बतलाया है।[1] अज्ञानियो का व्यवहार अज्ञान पर आश्रित होता है, उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय ज्ञान पर। जीव को उपादानरूप से पुद्गलकर्मों का कर्त्ता मानना अज्ञानाश्रित होने से अज्ञानमय व्यवहार है, किन्तु निमित्तरूप से कर्त्ता कहना ज्ञानाश्रित होने से उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय है। आचार्य कुन्दकुन्द एव अमृतचन्द्र सूरि ने प्रथम को ही (जीव को उपादानरूप से पुद्गल कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता मानने को ही) अज्ञानमय व्यवहार या व्यवहारियो के व्यामोह की सज्ञा दी है।[2] द्वितीय को तो वे श्रुतज्ञान का विकल्प मानते है, अत उन्होने स्वय जीव को निमित्तरूप से परद्रव्यो का कर्त्ता कहा है।[3] तथा नियमसार मे श्रुतकेवली के कथन को अपने शब्दो मे उतारते हुए कुन्दकुन्द ने स्पष्टत जीव को व्यवहारनय (उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय) से पुद्गलकर्मो का कर्त्ता-भोक्ता बतलाया है — "कत्ता भोत्ता आदा पोग्गलकम्महस होदि ववहारो।"[4]

ये सब जिनेन्द्रदेव के उपदेश के अग है। उन्होने ससार की सत्यता और मोक्ष के औचित्य का प्रतिपादन करने के लिए उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय से बहुश उपदेश दिया है।[5] जीव और शरीर के कथचिद् अभेद की प्रतीति कराने के लिए शरीर मे 'जीव' सज्ञा का उपचार किया है।[6] रागद्वेषमोहरूप अशुद्धपर्याय से अभिन्नता दर्शाने के लिए रागद्वेषमोह को जीव शब्द से उपचरित किया है। शरीरादि प्राणो के घात को हिसा शब्द से सकेतित किया है। अदत्तादानादि के लिए उपचार से स्तेयादि सज्ञाएँ दी है। जीव को उपचार से चेतन-अचेतन द्रव्यो का भोक्ता कहा है। सम्यक्त्वसाधक एव शुद्धोपयोगसाधक शुभोपयोग को मोक्षमार्ग शब्द से अभिहित किया है। जीवादि तत्त्वो के श्रद्धान मे सम्यग्दर्शन शब्द का उपचार किया है। क्या यह कहा जा सकता है कि सर्वज्ञ का यह असद्भूतव्यवहारनयात्मक उपदेश

---

१ "श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयो.।" समयसार/आत्मख्याति/गाथा १४३

२ "जीव पुद्गलकर्म करोत्यनुभवति चेत्यज्ञानिनामाससारप्रसिद्धोऽस्ति तावद् व्यवहार.।" वही/आत्मख्याति/गाथा ८४

३ (क) "अनित्यौ योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्त्तारौ।" वही/गाथा १००
(ख) "इति परम्परया निमित्तरूपेण घटादिविषये जीवस्य कर्तृत्व स्यात्।"
वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १००

४ नियमसार/गाथा १८

५. "उभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तनेति।" पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा १५९

६ "देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता।" समयसार/गाथा ६७

अज्ञानियों का अनादिरूढ़ व्यवहार है ? यदि नही, तो सिद्ध है कि उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय अज्ञानियो के व्यवहार का पर्यायवाची नही है। दोनो मे अन्धकार और प्रकाश के समान अन्तर है।

(२) उपचार का लक्षण ऐसा है कि उसका प्रयोग ज्ञानी ही कर सकते हैं, क्योंकि जब व्यक्ति को सश्लेषादि सम्बन्धो से जुड़े पदार्थों की स्वभावगत भिन्नता का ज्ञान हो और वह प्रयोजनविशेष से एक के नाम का दूसरे के लिए प्रयोग करे तब वह उपचार कहलाता है।[१] उदाहरणार्थ, जब मनुष्य को यह ज्ञान होता है कि जीव और शरीर स्वभाव से भिन्न है, किन्तु ससारावस्था मे उनमे सश्लेष सम्बन्ध है तब उनके कथचित् अभेद की प्रतीति कराने के लिए शरीर को 'जीव' शब्द से अभिहित करता है, तभी इसकी उपचार सज्ञा होती है। किन्तु, अज्ञानमय व्यवहार तो इसके विपरीत है। वह सश्लेषादि सम्बन्धो से जुड़े पदार्थों की भिन्नता के अज्ञान से उत्पन्न होता है। इसलिए वह ज्ञानियो का उपचारात्मक प्रयोग न होकर अज्ञानियो का अनादिरूढ व्यवहार होता है।

(३) उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय निश्चय-सापेक्ष होता है, अज्ञानियो का व्यवहार निश्चय-निरपेक्ष। जब उपचार को उपचाररूप से ग्रहण किया जाता है तब वह असद्भूतव्यवहारनय होता है, जब उसे परमार्थ मान लिया जाता है तब अज्ञानमय व्यवहार होता है।[२] अज्ञानमय व्यवहार अज्ञानियो की दृष्टि से परमार्थ होता है, ज्ञानियो की दृष्टि से उपचार।[३]

(४) आचार्य कुन्दकुन्द ने उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय को परमार्थ का प्रतिपादक बतलाया है[४] और आचार्य अमृतचन्द्र ने शिष्यो के दुस्तर अज्ञान का

---

१ (क) "तथा जीवे बन्धपर्यायेणावस्थित कर्मणो नोकर्मणो वा वर्णमुत्प्रेक्ष्य तात्स्थ्यात् तदुपचारेण जीवस्यैष वर्ण इति व्यवहारतोऽर्हद्देवाना प्रज्ञापनेऽपि ।
समयसार/आत्मख्याति/गाथा ५८-६०

(ख) "सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसति।" वही/गाथा ६०

२ "ततो ये व्यवहारमेव परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते ते समयसारमेव न चेतयन्ते।"
वही/आत्मख्याति/गाथा ४१४

३ तह जीवे कम्माण णोकम्माण च पस्सिदु वण्ण ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहि ववहारदो उत्तो ।।
गंधरसफासरूवा देहो सठाणमाइया जे य ।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसति ।। वही/गाथा ५९-६०

४ "व्यवहारो हि व्यवहारिणा म्लेच्छाभाषेव म्लेच्छाना परमार्थप्रतिपादकत्वाद् अपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्त दर्शयितु न्याय्य एव।" वही/आत्मख्याति/गाथा ४६

निवारक।[1] किन्तु अज्ञानियो का अनादिरूढ़ व्यवहार क्या परमार्थ का प्रतिपादक और अज्ञान का निवारक हो सकता है। नही, तब दोनो एक कैसे हो सकते हैं ?

(५) शरीर मे 'जीव' सज्ञा के उपचार से शरीरघात होने पर जीवघातरूप हिसा घटित होती है, उससे कर्मबन्ध और कर्मबन्ध से मोक्ष का औचित्य सिद्ध होता है। इसलिए उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय पर आश्रित उपदेश को आचार्यो ने उचित बतलाया है[2], किन्तु अज्ञानमय व्यवहार का सर्वत्र निषेध ही किया गया है।

(६) यदि उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय अज्ञानमय व्यवहार हो तो ससार को सत्य मानना भी अज्ञान होगा, प्राणघातादि को हिसा मानना भी अज्ञान होगा, मोक्ष को आवश्यक मानना भी अज्ञान होगा, क्योकि इन सबकी सत्यता उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय से ही घटित होती है। श्री माइल्लधवल अत्यन्त सरल भाषा मे व्यवहारनय (उपचारमूलक) की श्रुतज्ञानात्मकता एव कथचित् भूतार्थता का निरूपण करते हुए कहते है —

"जिनेन्द्रदेव ने सर्वत्र पर्यायरूप से व्यवहार को सत् कहा है। जो व्यवहार को सत् नही मानता उसके मत मे ससार और मोक्ष कैसे सिद्ध होगे ? यह चतुर्गत्यात्मक ससार है। उसके हेतु शुभ और अशुभ कर्म है। यदि ये मिथ्या है तो साख्यमत के समान उसके मत मे ससारावस्था कैसे उपपन्न होगी ? जिनेन्द्रदेव ने व्यवहारनय से एकेन्द्रियादि जीवो के शरीर को जीव कहा है। यदि उनकी हिसा मे पाप है, तो सर्वत्र व्यवहार को सत्य क्यो नही मानते ?"[3]

इन युक्तियो और प्रमाणो से सिद्ध है कि उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय अज्ञानियो के अनादिरूढ व्यवहार से सर्वथा भिन्न है।

---

१ मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधा ।
व्यवहारनिश्चयज्ञा प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम् ।। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/कारिका, ४

२ "तस्माद् व्यवहारनयव्याख्यानमुचित भवतीत्यभिप्राय ।"
समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, ४६

३ सव्वत्थ पज्जयादो सतो भणिओ जिणेहि ववहारो ।
जस्स ण हवेइ सतो हेऊ दोह्णपि तस्स कुदो ।।
चउगइ इह ससारो तस्स य हेऊ सुहासुह कम्म ।
जइ ता मिच्छा किह सो ससारो सखमिव तस्स मए ।।
एइदियादि देहा जीवा ववहारदो य जिणदिट्ठा ।
हिंसादिसु जदि पाप सव्वत्थवि किण्ण ववहारो ।।
द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र, गाथा २३४-२३६

हेय होने का अभिप्राय

आगम मे व्यवहारनय को हेय, प्रतिषिद्ध अथवा अननुसरणीय कहा गया है। यहाँ उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय की हेयता का अभिप्राय विचारणीय है। उपचार मे एक वस्तु के लिए दूसरी वस्तु के नाम का प्रयोग किया जाता है, जिससे उसका मुख्यार्थ (प्रचलित अर्थ) असत्य हो जाता है, जैसे किसी बालक को सिह कहने से 'सिंह' शब्द का सिहरूप मुख्यार्थ बालक पर चरितार्थ न होने से असत्य होता है। इसी प्रकार शरीर को जीव कहने से जीव शब्द का चेतनतत्त्वरूप मुख्यार्थ शरीर पर चरितार्थ न होने से असत्य होता है। इसलिए जहाँ शरीर को जीव कहा गया है वहाँ जीव शब्द से जीव अर्थ ग्रहण करने योग्य नही है, अपितु शरीर के लिए जीव शब्द का प्रयोग करने से दोनो मे जो एक विलक्षण अभेद की प्रतीति होती है, वही अर्थ ग्राह्य है। तथा जहाँ जीव को पुद्गलकर्मों का कर्त्ता कहा गया है, वहाँ कर्त्ता शब्द से उपादानरूप अर्थ ग्राह्य नही है, बल्कि 'उपादान का प्रेरक' अर्थ ग्रहण करने योग्य है। इसी प्रकार जहाँ सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग को मोक्षमार्ग शब्द से अभिहित किया गया है, वहाँ उक्त शब्द से मोक्षमार्ग अर्थ ग्राह्य नही है, अपितु मोक्षमार्गसाधक होने से "मोक्षसाधन मे उपादेयरूप" अर्थ ग्राह्य है। ये अर्थ प्रस्तुत सन्दर्भो मे जीव-शब्द, कर्त्ता-शब्द और मोक्षमार्ग-शब्द के औपचारिक (लाक्षणिक) बन जाने से शब्द की व्यजना शक्ति द्वारा व्यजित होते है, क्योंकि उनका मुख्यार्थ अनुपपन्न होने से बाधित हो जाता है। इस प्रकार उपचारत प्रयुक्त शब्द के मुख्यार्थ का अग्राह्य होना उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय के हेय होने का तात्पर्य है। अननुसरणीय एव प्रतिषिद्ध होने का भी यही अभिप्राय है।

प्रतिषिद्ध होने का एक दूसरा अभिप्राय भी है जिसकी ओर आचार्य कुन्दकुन्द ने सकेत किया है और अमृतचन्द्र सूरि ने जिसे स्पष्ट किया है। वह यह कि परद्रव्यो मे आत्मबुद्धि, ममत्वबुद्धि एव कर्तृत्वबुद्धि का नाम अध्यवसान है। यह बन्ध का हेतु है। परद्रव्यविषयक होने से पराश्रित है। निश्चयनय द्वारा प्राप्त ज्ञान से यह गलत सिद्ध हो जाता है। इसी को निश्चयनय द्वारा इसका निषिद्ध होना कहा गया है। उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय भी परद्रव्यविषयक होने से पराश्रित है। चूँकि अध्यवसान पराश्रित होने से निश्चयनय द्वारा निषिद्ध है, इससे निष्कर्ष निकलता है कि पराश्रित होने की समानता के कारण (पराश्रितत्वाविशेषात्)[१] व्यवहारनय का भी निश्चयनय द्वारा निषेध हो जाता है। इसका पराश्रित होना निषेध का कारण इसलिए है कि यह जिसे मोक्षमार्ग कहता है वह पराश्रित होने से एकान्तत. मोक्ष का हेतु नही है, क्योंकि अभव्य जीव एकमात्र उसे ही अपनाता है, किन्तु

---

१ समयसार/आत्मख्याति/गाथा २७२

वह कभी मुक्त नही होता।[1] व्यवहारनय द्वारा प्रतिपादित मोक्षमार्ग जब निश्चयमोक्षमार्ग का साधक एव सहचारी होता है तभी मोक्ष का हेतु बनता है।[2] निश्चय के द्वारा व्यवहार के प्रतिषिद्ध होने का एक अभिप्राय यह भी है कि निश्चयमोक्षमार्ग मे स्थित होने की क्षमता आ जाने पर व्यवहारमोक्षमार्ग का अवलम्बन त्याज्य होता है।[3]

हेय होने का अभिप्राय यह नही है कि उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय के कथन को शशशृग के कथन के समान सर्वथा असत्य मान लिया जाय। सर्वथा असत्य मान लेने से इसके द्वारा जो ससार की सत्यता का प्रतिपादन होता है, वह भी असत्य हो जायेगा। ससार की सत्यता सिद्ध न होने पर मोक्ष-प्राप्ति का औचित्य भी सिद्ध न होगा जिससे सर्वज्ञ के सम्पूर्ण उपदेश के अयुक्तिसंगत होने का प्रसंग आयेगा। निष्कर्ष यह कि औपचारिक शब्द से जो अर्थ प्रथमत: उपस्थित होता है उसे परमार्थ न माना जाय, अपितु उससे जो अन्य प्रासगिक अर्थ व्यजित होता है उसे परमार्थ माना जाय। औपचारिक शब्द से प्रथमत: उपस्थित अर्थ को परमार्थ मानने पर जीव सम्यग्दृष्टि नही हो पाता, केवल अनौपचारिक (जिसका वाचक है उसी के लिए प्रयुक्त होने वाले) शब्द से प्रथमत: उपस्थित अर्थ को परमार्थ मानने- वाला जीव सम्यग्दृष्टि हो पाता है। हॉ, औपचारिक शब्द से प्रथमत. उपस्थित अर्थ को गौणकर उस अर्थ से जो अन्य युक्तिसगत अर्थ व्यजित होता है उसे परमार्थ मानना सम्यग्दृष्टि बनने के लिए अनिवार्य है।

कुछ अज्ञानी इस व्यवहारनय को हेय कहे जाने का तात्पर्य यह लेते हैं कि इस नय से जिन व्रत-शील-सयमादि को मोक्षमार्ग कहा गया है, वे हेय हैं। पडित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक मे इस मान्यता के भ्रमपूर्ण होने का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है —

"यहॉ कोई निर्विचारी पुरुष ऐसा कहे कि तुम व्यवहार को असत्यार्थ, हेय कहते हो, तो हम व्रत, शील, सयमादिक व्यवहार कार्य किसलिए करे ? सबको छोड़ देगे।"

---

१. "आत्माश्रितो निश्चयनय , पराश्रितो व्यवहारनय । तत्रैवं निश्चयनयेन पराश्रित समस्त- मध्यवसान बन्धहेतुत्वेन मुमुक्षो: प्रतिषेधयता व्यवहारनय एव किल प्रतिषिद्ध·, तस्यापि पराश्रितत्वाविशेषात्। प्रतिषेध्य एव चायम्, आत्माश्रितनिश्चयनयाश्रितानामेव मुच्यमान- त्वात् पराश्रितव्यवहारनयस्यैकान्तेनामुच्यमानेनाभव्येनाप्याश्रीयमाणत्वाच्च।"

समयसार/आत्मख्याति/गाथा २७२

२ वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा २७६-२७७

३. 'किं च निर्विकल्पसमाधिरूपे निश्चये स्थित्वा व्यवहारस्त्याज्य किं तु त्रिगुप्तावस्थाया व्यवहार· स्वयमेव नास्तीति तात्पर्यार्थ·। एव निश्चयनयेन व्यवहार· प्रतिषिद्ध इति।"

वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा २७६-२७७

"उससे कहते है कि कुछ व्रत, शील, सयमादि का नाम व्यवहार नही है, इनको मोक्षमार्ग मानना व्यवहार है, उसे छोड़ दे और ऐसा श्रद्धान कर कि इनको तो बाह्य सहकारी जानकर उपचार से मोक्षमार्ग कहा है। ये तो परद्रव्याश्रित है। सच्चा मोक्षमार्ग वीतरागभाव है, वह स्वद्रव्याश्रित है। इस प्रकार व्यवहार को असत्यार्थ हेय जानना। व्रतादिक को छोड़ने से तो व्यवहार का हेयपना होता नही है। फिर हम पूछते है कि व्रतादिक को छोड़कर क्या करेगा ? यदि हिसादिरूप प्रवर्तेगा तो वहाँ तो मोक्षमार्ग का उपचार भी सम्भव नही है, वहाँ प्रवर्तने से क्या भला होगा ? नरकादि प्राप्त करेगा। इसलिए ऐसा करना तो निर्विचारीपना है तथा व्रतादिकरूप परिणति को मिटाकर केवल वीतराग उदासीनभावरूप होना बने तो अच्छा ही है, वह निचली दशा मे हो नही सकता, इसलिए व्रतादिक साधन छोड़कर स्वच्छन्द होना योग्य नही है।"[१]

इससे स्पष्ट होता है कि व्रतशीलसयमादि को परित्याज्य मानना व्यवहारनय के हेय होने का तात्पर्य नही है, बल्कि उन्हे उपचार से जो मोक्षमार्ग सज्ञा दी गयी है उसे सत्य और ग्राह्य न मानना हेय होने का तात्पर्य है। किन्तु उस सज्ञा से जो यह अर्थ द्योतित होता है कि व्रतशीलसयमादि परम्परया मोक्ष के साधक हैं, इसलिए निम्न भूमिका मे उपादेय है[२], इसे तो सत्य मानना चाहिए, क्योंकि व्रतशीलसयमादि वास्तव मे परम्परया मोक्ष के साधक है और यही द्योतित करने के लिए उन्हे 'मोक्ष-मार्ग' सज्ञा दी गयी है। इस अपेक्षा से व्यवहारनय अथवा औपचारिक शब्द-प्रयोग उपादेय है।

निष्कर्ष यह है कि उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय लक्षणा और व्यजना शक्तियो के द्वारा औपचारिक शब्द से वस्तु के वास्तविक धर्म का बोध कराता है। उस धर्म की स्वीकृति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के लिए आवश्यक है।

●

---

१ मोक्षमार्गप्रकाशक/सप्तम अधिकार/पृष्ठ २५३-२५४

२ "व्यवहारमोक्षमार्गो निश्चयरत्नत्रयस्योपादेयभूतस्य कारणत्वादुपादेय ।"

समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १६१-१६३

पञ्चम अध्याय

सद्भूतव्यवहारनय

(बाह्यभेदावलम्बिनी दृष्टि)

ज्ञाता की बाह्यभेदावलम्बिनी दृष्टि का नाम सद्भूतव्यवहारनय है। वस्तु और उसके धर्मों मे संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा जो भिन्नता है उसका अवलम्बन कर जब यह दृष्टि देखती है तब उनमे बाह्य भेद पाती है। सद्भूत का अर्थ है वस्तु मे स्वभावत· विद्यमान (सत्) धर्म और व्यवहार का अर्थ है संज्ञादिभेद की अपेक्षा उसे वस्तु से भिन्न मानना और धर्म के द्वारा धर्मी (वस्तु) का बोध कराने के लिए उनमें (धर्म-धर्मी मे) भिन्न वस्तुओ के समान स्व-स्वामित्वादिसम्बन्ध का व्यवहार करना।[1] इसीलिए आलापपद्धतिकार ने कहा है · "व्यवहारो भेद-विषय·"[2] अर्थात् एक वस्तु मे रहनेवाला भेद सद्भूतव्यवहारनय का विषय है। उन्होने अन्य सूत्र मे भी कहा है –

"गुणगुणिनो पर्यायपर्यायिणो स्वभावस्वभाविनो· कारककारकिणोर्भेद: सद्भूतव्यवहारस्यार्थ ।"[3]

– गुण और गुणी, पर्याय और पर्यायी (द्रव्य), स्वभाव और स्वभावी तथा कारक और कारकी (कारकवान्) मे जो (सज्ञादिगत) भेद होता है वह सद्भूतव्यवहारनय का विषय है (अर्थात् उस भेद को प्रकाशित करने वाली दृष्टि का नाम सद्भूतव्यवहारनय है)।

सज्ञादिभेद के सोदाहरण लक्षण मौलिक-अभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि के प्रकरण मे दर्शाये गये है।

संज्ञादिगत भेद : अतद्भाव

सज्ञादिगत भेद को अतद्भाव (अतद्रूपता) कहते है। इसकी यथार्थता

---

१ "यतो ह्यनन्तधर्मण्येकस्मिन् धर्मिण्यनिष्णातस्यान्तेवासिजनस्य तदवबोधविधायिभि कैश्चिद्धर्मैस्तमनुशासता सूरीणा धर्मधर्मिणा स्वभावतोऽभेदेऽपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानिनो दर्शन ज्ञान चारित्रमित्युपदेश·।"

समयसार/आत्मख्याति/गाथा ७

२. आलापपद्धति/सूत्र २१६

३ वही/सूत्र २०९

का निरूपण आचार्य कुन्दकुन्द ने निम्नलिखित गाथा मे किया है —

ज दव्व त ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो।
एसो हि अतब्भावो णेव अभावो त्ति णिदिट्ठो ।।[१]

—जो द्रव्य है वह गुण नही है, जो गुण है वह द्रव्य नही है, यह स्वरूपभेद ही अतद्भाव है। इनमे से किसी का अभाव अतद्भाव नही है।

इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते है —

"एकस्मिन् द्रव्ये यद् द्रव्य गुणो न तद्भवति, यो गुण: स द्रव्य न भवतीत्येव यद् द्रव्यस्य गुणरूपेण गुणस्य वा द्रव्यरूपेण तेनाभवनं सोऽतद्भाव: एतावतैवान्यत्व-व्यवहारसिद्धे:।"[२]

—एक द्रव्य मे जो द्रव्य है वह गुण नही होता, जो गुण है वह द्रव्य नही होता। इस प्रकार द्रव्य का गुणरूप और गुण का द्रव्यरूप न होना अतद्भाव कहलाता है। मात्र इतने से उनमे परस्पर अन्यत्व का व्यवहार होता है।

आचार्य जयसेन ने इसे निम्नलिखित शब्दो मे स्पष्ट किया है —

"किंचातद्भाव ? सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद इत्यर्थ। तद्यथा मुक्ताफलहारे योऽसौ शुक्लगुणस्तद्वाचकेन शुक्लमित्यक्षरद्वयेन हारो वाच्यो न भवति सूत्रं वा मुक्ताफल वा। हारसूत्रमुक्ताफलशब्दैश्च शुक्लगुणो वाच्यो न भवति। एव परस्पर प्रदेशाभेदेऽपि योऽसौ सज्ञादिभेद स तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्याभावोऽतद्भावो भण्यते।"[३]

—अतद्भाव किसे कहते है ? सज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि के भेद को अतद्भाव कहते है। जैसे मोतियो के हार मे जो शुक्ल गुण है उसके वाचक 'शुक्ल' शब्द से न तो हार वाच्य होता है, न सूत्र, न मोती। इसी प्रकार हार, सूत्र और मोती के वाचक शब्दो से शुक्ल गुण वाच्य नही होता। इस प्रकार परस्पर प्रदेशाभेद होने पर भी जो सज्ञादिभेद है, वह अतद्भाव कहलाता है।

स्व-स्वामित्वादिभेद का हेतु

अतद्भाव ही द्रव्य, गुण और पर्याय के पारस्परिक अन्यत्व का हेतु है।[४] सज्ञादिभेदरूप अतद्भाव के कारण ही वस्तु और उसके गुण-पर्यायो के विषय मे 'यह इसमे है' ऐसी प्रतीति होती है। आचार्य कुन्दकुन्द के वचन की व्याख्या करते हुए अमृतचन्द्र सूरि बतलाते है —

---

१ प्रवचनसार, २/१६
२ वही/तत्त्वदीपिका २/१६
३ वही/तात्पर्यवृत्ति २/१५
४ "स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूत.।" वही/तत्त्वदीपिका २/१५

"सत्तागुण द्रव्य से युतसिद्धत्व (संयोगसिद्ध होने) की अपेक्षा भिन्न नही है, क्योंकि उन दोनो मे दण्ड और दण्डी के समान युतसिद्धत्व दिखाई नही देता। अयुतसिद्धत्व की अपेक्षा भी उनका भिन्न पदार्थ होना घटित नही होता।[1] यदि कहा जाय कि 'इसमें यह है' ऐसी प्रतीति होने के कारण घटित होता है तो प्रश्न उठता है कि 'इसमे यह है' ऐसी प्रतीति किस कारण से उत्पन्न होती है ? कहा जाय कि भेद होने के कारण उत्पन्न होती है तो प्रश्न है कि भेद किस प्रकार का है ? प्रादेशिक अथवा अताद्भाविक ? प्रादेशिक तो हो नही सकता, क्योंकि युतसिद्धत्व का तो पूर्व मे ही निषेध किया जा चुका है। यदि अताद्भाविक है तो उचित है, क्योंकि जो द्रव्य है वह गुण नही है ऐसा आगम मे कहा गया है। किन्तु अताद्भाविक भेद एकान्तरूप से 'इसमे यह है' ऐसी प्रतीति का हेतु नही है, क्योंकि वह स्वय कभी प्रकट होता है, कभी लुप्त। उदाहरणार्थ, जब पर्याय की दृष्टि से द्रव्य का परामर्श किया जाता है तभी 'यह उत्तरीय शुभ्र है और यह उसका शुभ्रगुण है' इसके समान 'यह द्रव्य गुणवद् है और यह उसका गुण है' ऐसी प्रतीति होती है और उसके द्वारा अताद्भाविक भेद प्रकाशित होता है।"[2]

"किन्तु जब द्रव्य का द्रव्य की अपेक्षा विचार करते हैं तब गुणत्व का भेद दृष्टि से ओझल हो जाता है और शुभ्रत्व मे ही उत्तरीय की अनुभूति के समान गुण ही द्रव्यरूप से अनुभव मे आता है।[3] इस अद्वैत अवस्था मे अताद्भाविक भेद समूल लुप्त हो जाता है। भेद के लुप्त हो जाने पर तन्निमित्तक प्रतीति ('इसमे यह है' ऐसी प्रतीति) लुप्त हो जाती है। उसके लुप्त होने पर अयुतसिद्धत्व के निमित्त से सत्तागुण और द्रव्य मे जो पदार्थभेद की प्रतीति होती है वह भी अदृश्य हो जाती है। तब समस्तरूप से अकेला द्रव्य ही प्रतीति मे आता है।[4] किन्तु जब अताद्भाविक भेद प्रकाशित होता है तब उसके निमित्त से 'इसमे यह है' ऐसी प्रतीति

---

१ प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका २/६

२ "इहेदमितिप्रतीतेरुपपद्यत इति चेत् किन्निबन्धना हीहेदमिति प्रतीति.। भेदनिबन्धनेति चेत् को नाम भेद ? प्रादेशिक अताद्भाविको वा ? न तावत्प्रादेशिक, पूर्वमेव युतसिद्धत्वस्यापसारणात्। अतादभाविकश्चेद् उपपन्न एव यद्द्रव्य तन्न गुण इति वचनात्। अय तु न खल्वेकान्तेनेहेदमितिप्रतीतेर्निबन्धन, स्वयमेवोन्मग्ननिमग्नत्वात्। तथाहि — यदेव पर्यायेणार्प्यते द्रव्यं तदेव गुणवदिद द्रव्यमयमस्य गुण·, शुभ्रमिदमुत्तरीयमयमस्य शुभ्रो गुण इत्यादिवदताद्भाविको भेद उन्मज्जति।"

वही/तत्त्वदीपिका २/६

३ "तस्मादभेदनयेन सत्ता स्वयमेव द्रव्य भवतीति।" वही/तात्पर्यवृत्ति २/८

४. वही/तत्त्वदीपिका २/६

आविर्भूत होती है। उसके आविर्भूत होने पर अयुतसिद्धत्व के निमित्त से जो पदार्थभेद की प्रतीति होती है वह भी होने लगती है।[1] किन्तु उस समय भी जैसे जलराशि से जल की तरगे पृथक् नही होती वैसे ही द्रव्य की पर्याय होने से सत्तागुण द्रव्य से पृथक् नही होता। ऐसा होने के कारण सत्ता स्वय द्रव्यरूप से प्रतीत होती है।''[2]

इस व्याख्यान से स्पष्ट होता है कि वस्तु और उसके धर्मो मे सज्ञादिभेद (अताद्भाविक भेद) होने के कारण ही पर्याय (सज्ञादिभेद) की दिशा से (व्यवहारनय से) अवलोकन करने पर 'यह इसका है', 'यह इसमे है', 'यह इसका धर्म है', 'यह इसका धर्मी है', 'यह इसका स्व है', 'यह इसका स्वामी है', इत्यादि प्रकार से धर्म और धर्मी मे स्व-स्वामी, आधाराधेय आदि द्वैत (अताद्भाविक भेद) की प्रतीति होती है।

एक वस्तु मे ये दो भाव *अर्थात् स्वस्वामिभाव, आधाराधेयभाव आदि* वास्तविक होते हैं, काल्पनिक नही, क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द के वचन की व्याख्या करते हुए श्री अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है — "ज्ञानी इस निश्चयदृष्टि का अवलम्बन करता है कि जो जिसका स्वभाव है वह उसका स्व है और उसी का वह स्वामी।''[3] तथा "स्वभाव के साथ ही वस्तु का आधाराधेय सम्बन्ध है।''[4] किन्तु इन दो भावो के कारण वस्तु मे जो द्वैत (भेद) की प्रतीति होती है वह द्वैत मौलिक (प्रदेशगत या सत्तागत) न होकर सज्ञादि भेद पर आश्रित होता है, इसलिए वह बाह्यभेदावलम्बिनी सद्भूतव्यवहारदृष्टि से भूतार्थ सिद्ध होता है, मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से नही।

कर्त्ता-कर्मत्वादि भेद का हेतु

वस्तु और उसके धर्मो मे सज्ञादि का भेद होने से ही कर्त्ता-कर्म आदि का भेद घटित होता है। उदाहरणार्थ, आत्मा और दर्शनज्ञानादि धर्मो मे सज्ञादि की दृष्टि से भिन्नता है इसीलिए आत्मा दर्शनज्ञानादि परिणामो का कर्त्ता और दर्शनज्ञानादि परिणाम उसके कर्म कहलाते है। अभेदआत्मा मे कर्त्ता-कर्मादि का यह भेद यथार्थ है यह निम्नलिखित वचनो से सिद्ध होता है —

---

१. "यदा तु भेद उन्मज्जति तस्मिन्नुन्मज्जति तत्प्रत्यया प्रतीतिरुन्मज्जति। तस्यामुन्मज्जत्यामयुतसिद्धत्वोत्थमर्थान्तरत्वमुन्मज्जति।'' प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका २/६

२. वही

३ "यतो हि ज्ञानी, यो हि यस्य स्वो भाव स तस्य स्व स तस्य स्वामीति खरतरतत्त्वदृष्ट्यवष्टम्भाद् आत्मानमात्मन परिग्रह तु नियमेन विजानाति।''

समयसार/आत्मख्याति/गाथा २०७

४ "तत स्वरूपप्रतिष्ठत्वलक्षण एवाधाराधेयसम्बन्धोऽवतिष्ठते।'' वही/गाथा १८१-१८३

आत्मा ज्ञान स्वयं ज्ञान ज्ञानादन्यत्करोति किम् ।
परभावस्य कर्त्तात्मा मोहोऽय व्यवहारिणाम् ॥[१]

— आत्मा ज्ञान है, स्वय ज्ञान है, अत· वह ज्ञान के अतिरिक्त किसका कर्त्ता हो सकता है ? उसे परभाव का कर्त्ता मानना व्यवहारियो (व्यवहार को परमार्थ समझने वालो) का अज्ञान है।

"एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।"[२]

— (पूर्वोक्त कारण से सिद्ध होता है कि) आत्मा अपने ही भाव का कर्त्ता है।

"जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह निश्चयनयेन कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्च।"[३]

— निश्चयनय से जीव का स्वपरिणामो के साथ ही कर्त्ता-कर्मभाव एव भोक्ता-भोग्यभाव है।

"तथा संवेदनमप्यात्मनोऽभिन्नत्वात् कर्त्रंशेनात्मतामापन्न करणाशेन ज्ञानतामापन्नेन कारणभूतानामर्थाना कार्यभूतान् समस्तज्ञेयाकारानभिव्याप्य वर्तमानम्।"[४]

—(उसीप्रकार) ज्ञान भी आत्मा से अभिन्न होने के कारण कर्त्ता-अश की अपेक्षा आत्मासज्ञा तथा करण-अश की अपेक्षा ज्ञानसज्ञा धारण कर कारणभूत जीवादि पदार्थो के कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारो (आत्मा मे सक्रमित पदार्थप्रतिबिम्बो) को अभिव्याप्त करता है (जानता है)।

"ज्ञानी ज्ञानाद्यर्थान्तरभूतस्तदा स्वकरणाशमन्तरेण परशुरहितदेवदत्तवत् करणव्यापारासमर्थत्वाद् अचेतयमानोऽचेतन एव स्यात्। ज्ञानञ्च यदि ज्ञानिनोऽर्थान्तरभूत तदा तत्कर्त्रंशमन्तरेण देवदत्तरहितपरशुवत् कर्तृत्वव्यापारासमर्थत्वाद् अचेतयमानमचेतनमेव स्यात्। न च ज्ञानज्ञानिनोर्युतसिद्धयोस्संयोगेन चेतनत्वं द्रव्यस्य निर्विशेषस्य गुणाना निराश्रयाणा शून्यत्वादिति।"[५]

— ज्ञानी यदि ज्ञान से भिन्न पदार्थ हो तो अपने करण-अश के बिना परशुरहित देवदत्त के समान करण-व्यापार मे असमर्थ होगा। फलस्वरूप ज्ञानरूप करण (साधकतम) के अभाव मे स्व-पर के बोध मे समर्थ न हो पाने से अचेतन ही ठहरेगा। इसी प्रकार यदि ज्ञान ज्ञानी से भिन्न हो तो अपने कर्त्ता-अश के बिना

१ समयसार/कलश, ६२
२ वही/गाथा ८२
३ वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ८३
४ प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका १/३०
५ पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा ४८

ज्ञान-व्यापार मे असमर्थ होगा, क्योंकि जैसे देवदत्तरूप कर्त्ता के अभाव मे परशुरूप करण अपने व्यापार मे प्रवृत्त नही हो सकता, वैसे ही ज्ञानीरूप कर्त्ता के बिना ज्ञानरूप करण अपने पदार्थबोध के व्यापार मे प्रवृत्त नही हो सकता। इस तरह उसके द्वारा पदार्थ-परिच्छित्ति का कार्य न हो पाने से अचेतन ही सिद्ध होगा। ऐसा भी नही है कि ज्ञान और ज्ञानी युतसिद्ध (सायोगिक) हो, जिससे ज्ञानी मे सयोग से चेतनत्व माना जाय, क्योंकि ज्ञान और ज्ञानी के पृथक् होने पर विशेष के अभाव मे द्रव्य का अभाव हो जायेगा और निराश्रय होने पर गुणो की सत्ता न रह पावेगी।

आत्मा अपनी सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मक पर्याय की अपेक्षा साधकतम होने से करण है, मुक्त पर्याय की अपेक्षा साध्य होने से कर्म है और दोनो पर्यायो मे स्वतन्त्ररूप से परिणमित होने की अपेक्षा कर्त्ता है। यह बात आचार्य कुन्दकुन्द के वचन का भाष्य करते हुए अमृतचन्द्र सूरि ने निम्नलिखित शब्दों मे कही है —

"येनैव हि भावेनात्मा साध्य: साधन च स्यात् तेनैव नित्यमुपास्य इति स्वयमाकूय परेषा व्यवहारेण साधुना दर्शनज्ञानचारित्राणि नित्यमुपास्यानीति प्रतिपाद्यते। तानि पुनस्त्रीण्यपि परमार्थेनात्मैक एव वस्त्वन्तराभावात्।"[१]

— जिस भाव से आत्मा साध्य और साधन है, उसी भाव से वह नित्य उपासना के योग्य है, इस बात को मन मे रखकर दूसरो को व्यवहारनय से उपदेश दिया गया है कि साधु के लिए दर्शन, ज्ञान और चारित्र नित्य उपासनीय है। वस्तुत वे तीनो आत्मा से भिन्न वस्तु न होने के कारण आत्मा ही है।

यही बात सूरि जी अधोलिखित पक्तियो मे कहते है —

"आत्मवस्तुनो हि ज्ञानमात्रत्वेऽप्युपायोपेयभावो विद्यत एव, तस्यैकस्यापि स्वय साधकसिद्धरूपोभयपरिणामित्वात्। तत्र यत्साधक रूप स उपाय·, यत्सिद्ध रूप स उपेय·।"[२]

— *यद्यपि आत्मवस्तु ज्ञानमात्र है, तो भी उसमे उपायभाव* (साधकभाव) और उपेयभाव (साध्यभाव) दोनो विद्यमान हैं, क्योंकि वह एक होते हुए भी साधक और सिद्ध उभयरूप परिणमित होती है। इनमे जो साधकरूप है वह उपाय है और जो सिद्धरूप है वह उपेय।

इस तरह अद्वैत आत्मा मे कर्त्ताकर्मादिभाव नियतस्वलक्षण की अपेक्षा निश्चयनय से सत्य है, क्योंकि परमार्थत एक ही वस्तु मे कर्त्ताकर्मादि के लक्षण

---

१ समयसार/आत्मख्याति/गाथा १६

२ वही/स्याद्वादाधिकार, पृष्ठ ५३१

घटित होते हैं, भिन्न वस्तुओ मे नही।[1] किन्तु अद्वैत आत्मा मे कर्त्ताकर्मादिरूप द्वैत वस्तुभेद पर आश्रित न होकर संज्ञादिभेद पर आश्रित है, इस अपेक्षा से निश्चयनय से सत्य नही है, अपितु सज्ञादिभेदावलम्बी सद्भूतव्यवहारनय से सत्य है।

अभेद में भी स्वस्वामित्वादिव्यपदेश की उपपत्ति

नैयायिको का मत है कि यदि द्रव्य और गुणो मे एकान्तत. (वस्तुरूप से) भेद न हो, तो उनमे 'यह इस द्रव्य का गुण है' ऐसा षष्ठीव्यपदेश (स्व-स्वामिभावकथन) अथवा 'मिट्टी अपने घटपरिणाम को उत्पन्न करती है' ऐसा कर्त्ता-कर्मादि-कारकव्यपदेश घटित नही हो सकता। अत· द्रव्य और गुण सज्ञादिरूप से नही, अपितु वस्तुरूप से भिन्न है। किन्तु जिनेन्द्रदेव का कथन है कि सज्ञादि का भेद होने पर भी व्यपदेशादि घटित होते है।[2] जैसे 'देवदत्त की गाय' इस वाक्याश मे भिन्न वस्तुओ मे स्वस्वामिभाव का कथन है वैसे ही 'वृक्ष की शाखाएँ', 'द्रव्य के गुण' इन उक्तियो मे एक ही वस्तु मे सज्ञादि भेद के आधार पर स्वस्वामिभाव का निर्देश किया गया है। जैसे 'देवदत्त, धनदत्त के लिए बगीचे मे अकुश के द्वारा वृक्ष से फल तोड़ता हैं' यहाँ भिन्न वस्तुओ मे षट्कारक-प्रयोग हुआ है, वैसे ही 'मिट्टी स्वय, स्वय के द्वारा, स्वय के लिए, स्वय मे से, स्वय मे घटपर्याय उत्पन्न करती है' यहाँ एक ही वस्तु मे सज्ञादिभेद के आश्रय से षट्कारक प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार 'आत्मा आत्मा को, आत्मा के द्वारा, आत्मा के लिए, आत्मा से आत्मा मे जानता है', यहाँ भी एक ही वस्तु मे षट्कारको का व्यवहार हुआ है। जैसे 'एक देवदत्त की दस गाये' यहाँ भिन्न वस्तुओ मे सख्या-भेद किया गया है, वैसे ही 'एक वृक्ष की दस शाखाएँ' अथवा 'एक द्रव्य मे अनन्त गुण' यहाँ एक ही वस्तु मे सख्यात्मक भेद दर्शाया गया है। जैसे 'गोशाला मे गाये' यहाँ भिन्न पदार्थो मे आधाराधेयभाव का कथन है वैसे ही 'वृक्ष मे शाखाएँ' अथवा 'द्रव्य मे गुण' यहाँ एक ही वस्तु मे आधाराधेयसम्बन्ध बतलाया गया है। जैसे 'लम्बे देवदत्त की लम्बी गाय' इस वचन मे भिन्न वस्तुओ मे सस्थानभेद का वर्णन है वैसे ही 'ऊँचे वृक्ष की ऊँची शाखाएँ' अथवा 'मूर्त द्रव्य के मूर्त गुण' यहाँ एक ही वस्तु मे सस्थानभेद वर्णित है। अत षष्ठी आदि व्यपदेश द्रव्य और गुणो मे वस्तुरूप से भेद सिद्ध नही करते।[3]

---

१ "निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते।" समयसार/कलश २१०

२. "नैयायिका: किल वदन्ति द्रव्यगुणाना यद्येकान्तेन भेदो नास्ति तर्हि व्यपदेशादयो न घटन्ते। तत्रोत्तरमाहु: —द्रव्यगुणाना कथञ्चिद्भेदे तथैवाभेदेऽपि व्यपदेशादय. सन्तीति।" पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ४६

३ वही/तत्त्वदीपिका/गाथा ४६

अनेकत्व का हेतु

सज्ञादिभेद के कारण ही एक वस्तु मे अनेकत्व (अनेकरूपता) दिखाई देता है। जैसे सज्ञादि की अपेक्षा गुण, गुणी (द्रव्य) से भिन्न है, इसलिए गुण-गुणीरूप से वस्तु मे अनेकत्व है।[1] आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं —

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभि. परिणतत्वत· ।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचक ।।[2]

— यद्यपि आत्मा वस्तुरूप से एक है तथापि दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीन रूपो मे परिणत होता है, इसलिए त्रिस्वभावात्मकता के कारण व्यवहारनय से अनेकरूप है।

समयसार की सातवी गाथा का व्याख्यान करते हुए आचार्य जयसेन लिखते हैं —

"जैसे अभेद की ओर से अवलोकन करनेवाले निश्चयनय से अग्नि एकवस्तुरूप से अनुभव मे आती है, किन्तु (सज्ञादिरूप) भेदपक्ष से देखनेवाले व्यवहारनय से जलाने की अपेक्षा दाहक, पकाने की अपेक्षा पाचक और प्रकाश करने की अपेक्षा प्रकाशक इन तीन रूपो मे प्रतीत होती है, वैसे ही जीव भी अभेदावलम्बी निश्चयनय से शुद्धचैतन्यरूप एक वस्तु है, तो भी सज्ञादिभेद का अवलम्बन करने वाले व्यवहारनय से निरीक्षण करने पर जानने की अपेक्षा ज्ञान, देखने की अपेक्षा दर्शन और आचरण करने की अपेक्षा चारित्र, इन तीन रूपोवाला दृष्टिगोचर होता है।"[3]

उन्होने एक अन्य गाथा की टीका मे लिखा है कि यद्यपि अभेदनय (मौलिक-अभेदावलम्बी निश्चयनय) से चेतना एकरूप है, तथापि सामान्य और विशेष के भेद से दर्शनज्ञानरूप (अनेकरूप) है —

---

१. "अत एव च सत्ताद्रव्ययो कथञ्चिदनर्थान्तरत्वेऽपि सर्वथैकत्व न शङ्कनीय, तद्भावो ह्येकत्वस्य लक्षणम्। यत्तु न तद्भवद् विभाव्यते तत्कथमेक स्यात् ? अपि तु गुणगुणि-रूपेणानेकमेवेत्यर्थ ।" प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका २/१४

२ समयसार/कलश १७

३ "यथा निश्चयनयेनाभेदरूपेणाग्निरेक एव पश्चाद् भेदरूपव्यवहारेण दहतीति दाहक·, पचतीति पाचक , प्रकाश करोतीति प्रकाशक इति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते तथा जीवोऽपि निश्चयरूपाभेदनयेन शुद्धचैतन्यरूपोऽपि भेदरूपव्यवहारनयेन जानातीति ज्ञान, पश्यतीति दर्शन, चरतीति चारित्रमिति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते इति।" वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ७

"यद्यप्यभेदनयेनैकरूपा चेतना तथापि सामान्यविशेषविषयभेदेन दर्शनज्ञान-रूपा भवति।"[१]

आचार्य कुन्दकुन्द ने निम्नलिखित गाथा मे द्रव्य की विश्वरूपता (अनेक-रूपता) पर प्रकाश डाला है —

ण वियप्पदि णाणादो णाणी णाणाणि होंति णेगाणि ।
तम्हा दु विस्सरूव भणिय दवियत्ति णाणीहि ।।[२]

— ज्ञानी ज्ञान से पृथक् नही है और ज्ञान अनेक है[३], इसलिए ज्ञानियो ने द्रव्य को विश्वरूप (अनेकरूप) कहा है।

अमृतचन्द्र सूरि ने इसका अभिप्राय इस प्रकार स्पष्ट किया है —

"द्रव्य हि सहक्रमप्रवृत्तानन्तगुणपर्यायाधारतयाऽनन्तरूपत्वाद् एकमपि विश्वरूपमभिधीयत इति।"[४]

— द्रव्य सहप्रवृत्त तथा क्रमप्रवृत्त अनेक गुणपर्यायो का आधार है, इसलिए अनन्तरूप होने के कारण एक होते हुए भी विश्वरूप कहलाता है।

आत्मादि पदार्थों की यह अनेकरूपात्मकता धर्म-धर्मी के सज्ञादिभेद पर आश्रित है, इसलिए बाह्यभेदावलम्बी सद्भूतव्यवहारनय से अवलोकन करने पर दृष्टिगोचर होती है।

सविशेषत्व का हेतु

आत्मादि द्रव्यो से दर्शनज्ञानादि गुण सज्ञादि की अपेक्षा भिन्न होते हैं, इस भिन्नता के कारण वे 'विशेष' कहलाते हैं।[५] आत्मा का असाधारणस्वभावभूत चैतन्य-भाव दर्शनज्ञानादि समस्त गुणो का आधार होने से 'सामान्य' है और दर्शनज्ञानादि गुण उसके विशिष्ट रूप हैं, इसलिए 'विशेष' शब्द से अभिहित होते है। समयसार की टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मा के सविशेषत्व को स्पष्ट करते हुए कहा है —

---

१ समयसार/गाथा २९८-२९९

२ पञ्चास्तिकाय/गाथा ४३

३ "न चैवमुच्यमानेऽप्येकस्मिन्नात्मन्याभिनिबोधकादीन्यनेकानि ज्ञानानि विरुध्यन्ते द्रव्यस्य विश्वरूपत्वात्।" वही/तत्त्वदीपिका/गाथा ४३

४. वही

५ "एव ज्ञानदर्शने अप्यात्मनि सम्बद्धे आत्मद्रव्याद् अविभक्तप्रदेशत्वेनाऽनन्येपि सज्ञादि-व्यपदेशनिबन्धैर्विशेषै. पृथक्त्वमासादयत ।"
पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा ५१-५२

"यथा च काञ्चनस्य स्निग्धपीतगुरुत्वादिपर्यायेणानुभूयमानताया विशेषत्व भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेष काञ्चनस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं तथात्मनो ज्ञानदर्शनादिपर्यायेणानुभूयमानताया विशेषत्व भूतार्थमपि प्रत्यस्तमित-समस्तविशेषमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।"[1]

— जैसे स्वर्ण को चिकनेपन, पीलेपन और भारीपन की पर्यायो के द्वारा अनुभव करने पर उसका विशेषत्व भूतार्थ सिद्ध होता है, किन्तु जिसमे ये समस्त विशेष निमग्न होते हैं उस सामान्यभूत स्वभाव के द्वारा अनुभव करने पर अभूतार्थ ठहरता है, वैसे ही आत्मा को जब ज्ञानदर्शनादि पर्यायो के द्वारा अनुभव किया जाता है, तब उसका विशेषत्व भूतार्थ सिद्ध होता है, किन्तु जब इन समस्त विशेषो को अपने मे समाये रखनेवाले चैतन्यरूप स्वभाव-सामान्य के द्वारा अनुभव किया जाता है, तब विशेषत्व असत्य हो जाता है।

निष्कर्ष यह कि वस्तु का विशिष्टरूप सज्ञादिभेद पर अवलम्बित होने से बाह्यभेदावलम्बिनी सद्भूतव्यवहारदृष्टि से देखने पर सत्य सिद्ध होता है।

वस्तु-अवबोधनार्थ षष्ठी आदि व्यपदेश

भिन्न वस्तुओ या एक वस्तु के भिन्न रूपो मे 'यह इसका है' इस तरह स्व-स्वामिभाव का निर्देश करना षष्ठी-व्यपदेश कहलाता है तथा 'यह इस रूप से परिणमित होता है' अथवा 'यह इसका कर्त्ता है और यह इसका कर्म' इस प्रकार से कर्त्ताकर्मादिभाव का निर्देश करना कारक-व्यपदेश कहलाता है। इनके द्वारा वस्तु की पहचान कराई जाती है, उसे परिभाषित या विवेचित किया जाता है। जैसे 'दर्शन, ज्ञान, चारित्र आत्मा के गुण हैं', इस वाक्य मे आत्मा को स्वामी के रूप मे तथा दर्शनादि को उसके स्व के रूप मे वर्णित किया गया है, अत षष्ठी-व्यपदेश है। इस षष्ठी-विभक्तियुक्त वाक्य से यह बोध होता है कि दर्शनज्ञानादिशक्तियोवाला पदार्थ आत्मा कहलाता है। आत्मा और दर्शनज्ञानादि गुणो का इस प्रकार भेदपूर्वक (भिन्न पदार्थों की तरह) कथन सज्ञादिभेद पर आश्रित होता है, इसलिए सज्ञादिभेदावलम्बी सद्भूतव्यवहारनय से घटित होता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इसे निम्नलिखित गाथा मे स्पष्ट किया है —

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दसण णाण ।
णवि णाण ण चरित्त ण दसण जाणगो सुद्धो ।।[2]

— भावार्थ यह है कि 'ज्ञानी (आत्मा) के दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं',

---

१ समयसार/आत्मख्याति/गाथा १४

२ वही/गाथा ७

इस प्रकार षष्ठीव्यपदेशपूर्वक (स्वस्वामिभावनिर्देशपूर्वक) ज्ञानी और दर्शनज्ञानादि गुणो को एक-दूसरे से पृथक् करके वर्णित किया जाता है। ऐसा वर्णन व्यवहारनय से संगत होता है, निश्चयनय से नहीं। निश्चयनय से न तो ज्ञान ज्ञानी से पृथक् है, न दर्शन, न चारित्र। ये सब उससे अभिन्न हैं, इसलिए वह शुद्ध (भिन्नद्रव्य-संयोगरहित एकवस्तुरूप) ज्ञायक है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने उक्त गाथा के भाव को इस प्रकार स्पष्ट किया है —

"जो शिष्य अनन्तधर्मात्मक अखण्डवस्तु से अपरिचित होते हैं, उन्हे गुरु उसके कुछ धर्मों के द्वारा उसका बोध कराते हैं। तब वे 'दर्शन, ज्ञान और चारित्र जिसके धर्म हैं, उसे आत्मा कहते है', ऐसे षष्ठीव्यपदेशात्मक वाक्य का प्रयोग करते हैं, जिसमे आत्मा और उसके दर्शन-ज्ञानादि धर्म भिन्न वस्तुओ के रूप मे वर्णित होते है। इस प्रकार केवल वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन के लिये ही अभिन्न धर्म-धर्मी को भिन्न पदार्थो के रूप मे वर्णित किया जाता है। इससे यह नही समझ लेना चाहिये कि वे वास्तव मे भिन्न है। चूँकि एकवस्तुभूत धर्म-धर्मी मे यह षष्ठीव्यपदेश सज्ञादिभेद पर आश्रित है, इसलिए सज्ञादिभेद के आधार पर यह भेदपूर्वक कथन सद्भूतव्यवहारनय से सगत होता है।"[१]

इसी प्रकार 'आत्मा' शब्द का अर्थ प्रतिपादित करने के लिए एकवस्तुभूत आत्मा और दर्शनज्ञानचारित्र को सज्ञादिभेद के आधार पर भिन्नतया ग्रहण कर कर्त्ता-कर्मरूप कारकव्यपदेश द्वारा 'दर्शनज्ञानचारित्राण्यततीत्यात्मा'[२] (जो दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप परिणमन करता है वह आत्मा है), इस प्रकार वर्णित किया जाता है। यह भेदात्मक वर्णन भी सज्ञादिभेदहेतुक होने से सद्भूतव्यवहारनय से सगत है।

कही गुण और गुणी को सज्ञादि भेद के आधार पर विशेषण-विशेष्य के रूप मे वर्णित कर गुणी के स्वरूप का बोध कराया जाता है। उदाहरणार्थ

"आत्मा हि ज्ञानदर्शनसुखस्वभाव ।"[३]

— आत्मा ज्ञान, दर्शन और सुखस्वभाववाला है।

"अहमिक्को खलु सुद्धो दसणणाणमइओ सदरूवी।"[४]

---

१ "यतो ह्यनन्तधर्मण्येकस्मिन् धर्मिण्यनिष्णातस्यान्तेवासिजनस्य तदवबोधविधायिभि. कैश्चिद्धर्मैस्तमनुशासता सूरीणा धर्मधर्मिणा स्वभावतोऽभेदेऽपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानिनो दर्शन ज्ञान चारित्रमित्युपदेश:।"

समयसार/आत्मख्याति/गाथा ७

२ वही/गाथा ८

३ पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा २९

४. समयसार/गाथा ३८

—मैं निश्चयनय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ और सदा रूपरहित हूँ।

'पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अह तु णिच्छयओ।'[१]

'पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अह तु णिच्छयओ।'[२]

—प्रज्ञा के द्वारा ऐसा अनुभव करना चाहिए कि जो द्रष्टा है, वही निश्चयनय से मै हूँ, जो ज्ञाता है वही निश्चयनय से मै हूँ।

इन निरूपणो में 'ज्ञानदर्शनसुखस्वभाव', 'दर्शनज्ञानमय' तथा 'ज्ञाता' और 'द्रष्टा' विशेषणो के द्वारा विशेष्यभूत आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया हैं। इनसे आत्मा के अनेकत्व एव सविशेषत्व का भी प्रतिपादन होता है।

'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्।'[३]

— द्रव्य गुणपर्यायवाला है।

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग.।'[४]

— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का समूह मोक्ष का मार्ग है।

इन परिभाषाओ मे धर्म और धर्मी को विशेषण-विशेष्य के रूप मे वर्णित कर द्रव्य तथा मोक्षमार्ग के लक्षण एव अनेकत्व और सविशेषत्व प्रतिपादित किये गये है। ये समस्त निरूपण एव परिभाषाएँ सद्भूतव्यवहारनय से उपपन्न होती है।

जहाँ धर्म के द्वारा धर्मी की पहचान कराना आवश्यक नही है वहाँ उनका षष्ठी आदि विभक्तियो के प्रयोग द्वारा भेदपूर्वक कथन नही किया जाता। वहाँ धर्म-धर्मी की अभिन्नता के द्योतक जो द्रव्यवाचक 'आत्मा' अथवा 'चैतन्य' आदि शब्द हैं, उनके द्वारा ही आत्मादि पदार्थो का निर्देश किया जाता है। आचार्यों ने कहा भी है —

"जैसे कोई ब्राह्मण आदि पुरुष म्लेच्छ को समझाने के समय ही म्लेच्छ-भाषा बोलता है, शेष समय मे नही, वैसे ही ज्ञानी पुरुष भी अज्ञानी को प्रतिबोधित करते समय ही व्यवहारनय का आश्रय लेता है (व्यवहारनयात्मक भाषा का प्रयोग करता है) अन्य समय मे नही।"[५]

---

१ समयसार/गाथा २९८-२९९

२ वही/गाथा २९८-२९९

३ तत्त्वार्थसूत्र/पञ्चम अध्याय/सूत्र ३८

४ "तस्य तु मोक्षमार्गस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति भेदात्मकत्वात् पर्याय-प्रधानेन व्यवहारनयेन निर्णयो भवति।" प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति ३/४२

५. "अथ यथा कोऽपि ब्राह्मणादिविशिष्टो जनो म्लेच्छप्रतिबोधनकाले एव म्लेच्छभाषा ब्रूते न च शेषकाले तथैव ज्ञानीपुरुषोऽप्यज्ञानिप्रतिबोधनकाले व्यवहारमाश्रयति न च शेषकाले।" समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ११

अभेद की अपेक्षा गुणगुण्यादिलक्षण की उपपत्ति

यहाँ यह तथ्य ध्यान मे रखना आवश्यक है कि संज्ञादिभेद की अपेक्षा एक वस्तु मे गुण-गुणी आदिरूप भेद (द्वैत) उपपन्न होता है और प्रादेशिक अभेद की अपेक्षा गुण-गुणी आदि के लक्षण एव अस्तित्व की उपपत्ति होती है। क्योंकि यदि गुण और गुणी सर्वथा भिन्न पदार्थ हो तो गुणी मे गुण की नित्य सत्ता न होने पर एक विशिष्ट लक्षणवाले द्रव्य के रूप मे उसका अस्तित्व घटित नही हो सकता और गुणी से पृथक् रहने पर आश्रय के अभाव मे गुण का अस्तित्व सम्भव नही है।[१] जैसे ज्ञान गुण से ज्ञानी (आत्मा) के पृथक् रहने पर ज्ञानलक्षणात्मक विशिष्ट द्रव्य के रूप मे आत्मा की सत्ता सिद्ध नही हो सकती तथा आत्मा से पृथक् रहने पर आश्रय के अभाव मे ज्ञानगुण का सद्भाव सिद्ध नही हो सकता। इसलिए वस्तुरूप से अभिन्न होने पर ही उनमे गुण-गुणीरूप लक्षण घटित होते है और उनका अस्तित्व सिद्ध होता है।[२] इसलिए गुण-गुणी, स्व-स्वामी, कर्त्ता-कर्म आदि के प्रादेशिक (मौलिक) अभेदरूप लक्षण पर दृष्टि डालने से गुण-गुणी आदि की एकवस्तुता भूतार्थ सिद्ध होती है और भिन्न वस्तुओ की गुणगुण्यादिरूपता अभूतार्थ। अत गुणगुण्यादि का एकवस्तुत्वरूप स्वभाव अभेदाश्रित निश्चयनय से दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए कहा गया है —"निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते।"[३] अर्थात् यदि निश्चयनय से वस्तु का चिन्तन किया जाय तो कर्त्ता और कर्म सदा एक वस्तुरूप प्रतीत होते है।

इसलिए 'जीव दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप है' इस कथन का जब सज्ञादि-भेदाश्रित सद्भूतव्यवहारदृष्टि से परामर्श किया जायेगा तब एकवस्तुभूत जीव मे गुणगुणीरूप भेद (द्वैत) के दर्शन होगे और जब गुणगुणी के प्रादेशिक अभेद पर आश्रित निश्चयदृष्टि से अवलोकन करेगे तब दोनो के एकवस्तुत्व की प्रतीति होगी। इस दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द की निम्नलिखित गाथा द्रष्टव्य है —

> दसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्च ।
> ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाण चेव णिच्छयदो ।।[४]

—साधु को सदा दर्शन, ज्ञान और चारित्र की उपासना करनी चाहिए और

---

१. जदि हवदि दव्वमण्ण गुणदो य गुणा य दव्वदो अण्णे ।
दव्वाणतियमधवा दव्वाभाव पकुव्वति ।। पञ्चास्तिकाय, गाथा ४४

२ (क) "गुणपर्ययवद् द्रव्यम्।" तत्त्वार्थसूत्र/पञ्चम अध्याय/सूत्र ३८
(ख) "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा·।" वही/पञ्चम अध्याय/सूत्र ४१

३ समयसार/कलश, २१०

४. वही/गाथा १६

यह भी समझना चाहिए के ये तीनो परमार्थत आत्मा ही है।

इस गाथा मे आचार्यश्री ने सद्भूतव्यवहारनयरूप भेददृष्टि का आश्रय लेकर जीव को दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप कहा है, अर्थात् उसमे गुण-गुणीरूप द्वैत दर्शाया है। तत्पश्चात् निश्चयनयरूप अभेददृष्टि का अवलम्बन कर दर्शनज्ञानादि गुणो को आत्मद्रव्यरूप एकवस्तु ही बतलाया है। इस प्रकार एक ही प्रकार की शब्दावली या कथन दृष्टिभेद से सद्भूतव्यवहारनयात्मक एव निश्चनयात्मक दोनो हो सकता है।

निष्कर्ष यह कि प्रत्येक सद्भूतव्यवहारनयात्मक कथन गुण-गुणी या कर्त्ता-कर्मादि के कथचिद् भेद और कथचिद् अभेद पर आश्रित होता है[१] और भेद के द्वारा उनके एकवस्तुत्व रूप अभेद को दर्शाया जाता है जिससे लक्ष्यभूत वस्तु के स्वरूप का अधिगम होता है। अभेद की प्रतीति हुए बिना लक्ष्य वस्तु के स्वरूप की प्रतीति नही हो सकती। अत· प्रत्येक सद्भूतव्यवहारनयात्मक कथन अभेद की ओर दृष्टि ले जाने की अपेक्षा निश्चयनयात्मक भी होता है। निश्चयनय के प्रकरण मे मौलिक अभेद की अपेक्षा स्वगुणपर्यायो के साथ ही जीव के स्वस्वामित्वादि सम्बन्ध प्रतिपादित किये गये है, अत. वे प्रतिपादन निश्चयनयात्मक है, किन्तु अद्वैत जीव मे स्वस्वामित्वादि द्वैत के दर्शाये जाने से उक्त निरूपण सद्भूतव्यवहारनयात्मक भी हैं।

सद्भूतव्यवहारनयात्मक उपदेश के प्रयोजन

एक वस्तुभूत धर्म और धर्मी को सद्भूतव्यवहारनय (सज्ञादिभेदावलम्बिनी-दृष्टि) का आश्रय लेकर जो भिन्न पदार्थो के रूप मे निरूपित किया जाता है उसका प्रयोजन है अज्ञ शिष्यो को वस्तु का स्वरूप समझाना। यह वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन की अनिवार्य पद्धति है। उदाहरणार्थ, आत्मा किसी को दिखाई नही देता, किन्तु उसकी जानने-देखने की शक्तियाँ अर्थात् गुण सबके अनुभव मे आते है, अत. गुणो का अलग से नाम लेकर आत्मा के स्वरूप और अस्तित्व का बोध कराना सम्भव होता है। वस्तुस्वरूप को हृदयगम कराने का इसके अतिरिक्त कोई उपाय नही है। इसलिए यद्यपि एकवस्तुभूत धर्म और धर्मी को भिन्न पदार्थों की तरह वर्णित करना अयथार्थ है, तथापि यथार्थ की प्रतीति कराने का साधन है। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने सद्भूतव्यवहारनय को म्लेच्छ भाषा की उपमा दी है। वे कहते हैं —

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभास विणा उ गाहेउ ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ।।[२]

---

१ "द्रव्यगुणाना कथञ्चिद्भेदे तथैवाभेदेऽपि व्यपदेशादय सन्तीति।"
पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ४६

२ समयसार/गाथा ८

—जैसे म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा के बिना कोई बात समझाना अशक्य है वैसे ही व्यवहारनय के बिना परमार्थ का उपदेश असम्भव है।

इसे आचार्य अमृतचन्द्र ने इस प्रकार स्पष्ट किया है —

"जैसे किसी म्लेच्छ से 'स्वस्ति' कहा जाय तो इसका अर्थ न समझ पाने के कारण वह मेढ़े के समान आँखे फाड़कर देखता रहता है, किन्तु, जब कोई म्लेच्छभाषा जाननेवाला उसे समझाता है कि 'स्वस्ति' शब्द का अर्थ है 'तुम्हारा कल्याण हो' तब आनन्द के आँसुओ से उसकी आँखे छलछला उठती हैं, वैसे ही अशिक्षित लोगो के सामने भी जब 'आत्मा' शब्द का प्रयोग किया जाता है तब उसके अर्थ से अनभिज्ञ होने के कारण वे कुछ भी नही समझ पाते और मेढ़े के समान आँखे फाड़कर देखते रहते हैं। किन्तु, जब व्यवहारपद्धति का आश्रय लेकर समझाया जाता है कि "जो दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप परिणमन करता है उसे आत्मा कहते है" तब वे तुरन्त समझ जाते हैं। इस प्रकार अशिक्षित लोग म्लेच्छ के समान हैं और व्यवहारनय म्लेच्छभाषा के समान। अत: जैसे म्लेच्छभाषा के द्वारा यथार्थ बात ही समझायी जाती है, वैसे ही व्यवहारनय के द्वारा भी यथार्थ का ही प्रतिपादन किया जाता है। इसलिए परमार्थ का प्रतिपादक होने से व्यवहारनय से उपदेश देना चाहिए। किन्तु, जैसे ब्राह्मण के साथ म्लेच्छभाषा का प्रयोग करना आवश्यक नही होता वैसे ही ज्ञानियो के साथ भी व्यवहारनयात्मक भाषा का व्यवहार अनावश्यक है।"[1]

यद्यपि जिस दृष्टि से निश्चयनय परमार्थ (भूतार्थ) है, उस अपेक्षा से व्यवहारनय परमार्थ नही है, तथापि उससे परमार्थ का ही प्रतिपादन होता है, अर्थात् व्यवहार-नयात्मक कथन से निश्चयनय का ही विषय लक्षणाशक्ति से लक्षित होता है। इस तथ्य की ओर संकेत आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार मे किया है जिसे आचार्य अमृतचन्द्र ने इस प्रकार स्पष्ट किया है —

"जो श्रुत से केवल शुद्ध आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है", यह वाक्यरचना परमार्थ (निश्चयनय से उपपन्न) है तथा "जो समस्त श्रुतज्ञान को जानता है वह श्रुतकेवली है" यह व्यवहार है (यह वाक्यरचना सद्भूतव्यवहारनय से उपपन्न है)। इस व्यवहारनयात्मक कथन मे आत्मा को द्रव्यवाचक 'आत्मा' शब्द से वर्णित न कर गुणवाचक 'श्रुतज्ञान' शब्द से वर्णित किया गया है। यहाँ विचारणीय है कि निरूपित किया जानेवाला सम्पूर्ण ज्ञान आत्मा है या अनात्मा ? अनात्मा नही है, क्योंकि जो अनात्मा हैं उन पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यो का,

---

१. समयसार/आत्मख्याति/गाथा ८

ज्ञान के साथ तादात्म्य उपपन्न नही होता। अत· अन्यथा अनुपपन्न होने से श्रुतज्ञान आत्मा ही है यह निश्चित होता है। यह निश्चय होने पर उक्त व्यवहारनयात्मक वाक्य से यही अर्थ निकलता है कि "जो आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है' और यह अर्थ, परमार्थ ही है। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञानी को भिन्न पदार्थों की तरह वर्णित करनेवाले व्यवहारनय से परमार्थमात्र का ही प्रतिपादन होता है, अन्य अर्थ का नहीं।"[१]

इसके अतिरिक्त वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। उदाहरणार्थ, आत्मा मे दर्शन-ज्ञानादि गुणरूप अनेक धर्म हैं। इन गुणो के मतिज्ञानादि एव आत्मद्रव्य के मनुष्यत्वादि पर्यायरूप अनेक धर्म है तथा कर्त्ताकर्मत्वादि कारकरूप एव अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि स्वभावरूप अनेकधर्म है। शिष्यो को इन अनन्तधर्मों का बोध इनका नाम लेकर बतलाने से ही होता है। और नाम लेने का अर्थ है सज्ञादिभेद के द्वारा आत्मा से इनकी भिन्नता दर्शाना जो सद्भूतव्यवहारनय का कार्य है। इस तरह वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता का बोध कराना भी सद्भूतव्यवहारनय द्वारा ही सम्भव है।

धर्मों के बोध से ही धर्मी का बोध होता है जिससे धर्मी के अस्तित्व की प्रतीति होती है तथा एक वस्तु से दूसरी वस्तु की भिन्नता का ज्ञान होता है एव वस्तु समस्त सकरदोषो से रहित अनुभव मे आती है।[२] इन समस्त परमार्थो का प्रतिपादन सद्भूतव्यवहारनय से ही हो सकता है। निश्चयनय तो धर्मरूप भेदो से दृष्टि हटाकर धर्मी पर ही दृष्टि डालता है जिससे न तो धर्म का बोध होता है, न धर्म के द्वारा धर्मी के स्वरूप का, न अनन्तधर्मात्मकता का। अत. सिद्ध है कि सद्भूत-व्यवहारनय के बिना परमार्थ का प्रतिपादन असम्भव है।

●

---

१ "य श्रुतेन केवल शुद्धात्मान जानाति स श्रुतकेवलीति तावत् परमार्थो, य श्रुतज्ञान सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति व्यवहार। तदत्र सर्वमेव तावत् ज्ञान निरूप्यमाण किमात्मा किमनात्मा ? न तावदनात्मा समस्तस्याप्यनात्मनश्चेतनेतरपदार्थपञ्चतयस्य ज्ञानतादात्म्यानुपपत्ते। ततो गत्यन्तराभावात्, ज्ञानमात्मेत्यायात्यत· श्रुतज्ञानमप्यात्मैव स्यात्। एव सति य आत्मान जानाति स श्रुतकेवलीत्यायाति स तु परमार्थ एव। एव ज्ञानज्ञानिनौ भेदेन व्यपदिशता व्यवहारेणापि परमार्थमात्रमेव प्रतिपाद्यते न किञ्चिदप्य-तिरिक्तम्।" समयसार/आत्मख्याति/गाथा ९-१०

२ पञ्चाध्यायी/प्रथम अध्याय/श्लोक ५२४, ५२७-५२८

षष्ठ अध्याय

व्यवहारनय के भेद

(क) असद्भूतव्यवहारनय के भेद

पूर्व मे असद्भूतव्यवहारनय के तीन भेदो का वर्णन किया गया है : उपाधिमूलक, बाह्यसम्बन्धमूलक और उपचारमूलक। इनमे उपाधिमूलक के भी दो भेद हो जाते हैं द्रव्यपर्यायावलम्बी और भावपर्यायावलम्बी, क्योंकि कर्मो के उदयादि के निमित्त से जीव की द्विविध पर्याये होती है, जिन्हे द्रव्यपर्याय और भावपर्याय कहते है। मनुष्य, देव, तिर्यञ्च और नारक, पर्याये पुद्गलपरिणामभूत मनुष्यादि शरीरो के सश्लेष से उत्पन्न होती है, इसलिये द्रव्यपर्याये हैं।[१] इनमे जीव के प्रदेश शरीरप्रमाण हो जाते हैं, किन्तु वह शरीर के रूप मे परिणमित नही होता, इसलिये मनुष्यादि शरीर पौद्गलिक होने से जीव से अन्य है, जीव नही हैं।[२] तथा कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम एव क्षय के निमित्त से जीव मोहरागादिरूप, शुद्धोपयोगरूप, केवलज्ञानादिरूप एव सिद्धत्वरूप परिणमित होता है। ये जीव के ही परिणाम अर्थात् चैतन्यपरिणाम होने से जीवरूप ही हैं, जीव से अन्य नही। इसलिए ये जीव की भावपर्याये हैं। इस प्रकार भावपर्याये जीवरूप हैं और द्रव्यपर्याये, पुद्गलरूप। इस भेद को दर्शाने के लिए उपाधिमूलक असद्भूतव्यवहारनय के दो भेद करना आवश्यक है। जो भेद मनष्यादि द्रव्यपर्यायो का अवलम्बन कर जीव का मनुष्यादिरूप से निर्णय करता है, उसे द्रव्यपर्यायावलम्बी उपाधिमूलक असद्भूतव्यवहारनय संज्ञा दी जा सकती है तथा जो मोहरागादि या शुद्धोपयोगादि भावपर्यायो की दिशा से अवलोकन कर जीव का मोहरागादिमयरूप मे अथवा शुद्धापयोगादिमयरूप में निश्चय करता है उसे भावपर्यायावलम्बी उपाधिमूलक असद्भूतव्यवहारनय नाम से अभिहित किया जा सकता है।

---

१. (क) "तत्रानेकद्रव्यात्मकैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो द्रव्यपर्याय.। ` ` असमानजातीयो नाम यथा जीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यादि।" प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका २/१

(ख) "जीवस्य भवान्तरगतस्य शरीरनोकर्मपुद्गलेन सह मनुष्यदेवादिपर्यायोत्पत्ति: चेतनजीवस्याचेतनपुद्गलद्रव्येण सह मेलापकाद् असमानजातीय· द्रव्यपर्यायो भण्यते।" पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १६

२ "निश्चयनयेन तेषु स्पर्शनादीन्द्रियाणि, पृथिव्यादयश्च काया· जीवलक्षणभूतचैतन्यस्वभावाभावान्न जीवा भवन्ति।" वही/तत्त्वदीपिका/गाथा १२१

भावपर्यायावलम्बी के अशुद्धनिश्चयादि भेद

यत: भावपर्यायावलम्बी उपाधिमूलक असद्भूतव्यवहारनय औपाधिक चैतन्यपरिणाम का अवलम्बन कर जीव के स्वरूप का परामर्श करता है, इसलिए जीव के स्वकीय भाव का जीवरूप से निश्चायक होने के कारण उसे अशुद्धनिश्चय-नयादि नाम दिये गए है।[१] निश्चय शब्द वस्तु के स्वकीय भाव मे ही वस्तु के अस्तित्व का निश्चय किये जाने का सूचक है। भावपर्यायावलम्बी असद्भूतव्यवहारनय यही करता है, इसलिए उसकी अशुद्धनिश्चयादि सज्ञाएँ युक्तिसगत है। ये सज्ञाएँ तीन हैं : अशुद्धनिश्चयनय, एकदेशशुद्धनिश्चयनय तथा शुद्धनिश्चनयनय। ये जीव की त्रिविध औपाधिक अवस्थाओ पर आश्रित हैं जिन्हे क्रमश अशुद्धोपादान, एकदेश-शुद्धोपादान एवं शुद्धोपादान नाम दिये गए है।

केवलज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व ज्ञानावरणादि कर्मों से आवृत होने के कारण जीव सामान्यत· अशुद्ध (ससारी या छद्मस्थ) होता है।[२] यह उसकी अशुद्धोपादान-अवस्था है। इसीलिए अशुद्धोपादानावलम्बी अशुद्धनिश्चयनय से मतिज्ञानादि को जीव कहना संगत होता है।[३] वह सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के पूर्व दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के उदय से भी अशुद्ध होता है। इसलिए अशुद्धनिश्चयनय से रागादिभावो का जीवस्वभाव होना भी घटित होता है।[४] सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर

---

१ (क) "ननु वर्णादयो बहिरङ्गास्तत्र व्यवहारेण क्षीरनीरवत् सश्लेषसम्बन्धो भवतु न चाभ्यन्तराणा रागादीना तत्राशुद्धनिश्चयेन भवितव्यमिति। नैव द्रव्यकर्मबन्धापेक्षया योऽसौऽसद्भूतव्यवहारस्तदपेक्षया तारतम्यज्ञापनार्थं रागादीनामशुद्धनिश्चयो भण्यते। वस्तुतस्तु शुद्धनिश्चयापेक्षया पुनरशुद्धनिश्चयोऽपि व्यवहार एवेति।"
समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ५७

(ख) "मिथ्यादृष्टेर्जीवस्य पुद्गलद्रव्यपर्यायरूपाणामास्रवबन्धपुण्यपापपदार्थाना कर्तृत्व-मनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण, जीवभावपर्यायाणा पुनरशुद्धनिश्चयनयेनेति।"
बृहद्द्रव्यसग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा २७

२. (क) "छद्म ज्ञानदृगावरणे, तत्र तिष्ठन्तीति छद्मस्था।" धवला, १/१,१,१९

(ख) "ससरन्ति अनेन घातिकर्मकलापेन चतसृषुगतिष्विति घातिकर्मकलाप. ससार। तस्मिन् तिष्ठन्तीति ससारस्था छद्मस्था।" वही, १३/५,४,१७

(ग) "मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायपर्यन्तमुपर्युपरि मन्दत्वात् तारतम्येन तावदशुद्धनिश्चयो वर्तते। तस्य मध्ये पुनर्गुणस्थानभेदेन शुभाशुभशुद्धानुष्ठानरूपयोगत्रयव्यापार-स्तिष्ठति।" बृहद्द्रव्यसग्रह/ब्रह्मदेव/गाथा ३४

३. "सोपाधिकविषयोऽशुद्धनिश्चयो यथा मतिज्ञानादयो जीव इति।"
आलापपद्धति/सूत्र, २१९

४ "अशुद्धनिश्चयेन रागादयोऽपि स्वभावा भण्यन्ते।" पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ६१

प्रमत्तसंयत गुणस्थानपर्यन्त ज्ञानावरणादिकर्मों के उदय के साथ चारित्रमोहनीय की शुद्धेपयोगरोधक कर्मप्रकृतियो के उदय से भी अशुद्ध होता है। इसलिए इन गुणस्थानों की अपेक्षा अशुद्धनिश्चयनय से जीव प्रधानतया शुभभाव का तथा गौणत· अशुभभाव का कर्त्ता भी सिद्ध होता है। अप्रमत्तसयत गुणस्थान से लेकर क्षीणकषायगुणस्थान पर्यन्त, यद्यपि ज्ञानावरणादि के उदय से वह अशुद्ध होता है और केवलज्ञानपर्याय के समान शुद्ध नही होता, तथापि शुद्धोपयोगरोधक कषायो के उपशम या क्षयोपशम या क्षय से उसमे आशिक शुद्धता आ जाती है।[1] यह जीव की एकदेशशुद्धोपादान-अवस्था है। अत: एकदेशशुद्धोपादानावलम्बी एकदेश-शुद्धनिश्चयनय से विचार करने पर आत्मा सवर, निर्जरा और मोक्षरूप भावपर्यायो का कर्त्ता ठहरता है[2] अथवा उसका शुद्धोपयोगी होना घटित होता है। तथा केवल-ज्ञानपर्याय मे स्थित जीव घातिकर्मचतुष्टय के क्षय से और सिद्धपर्यायस्थ जीव आठो कर्मों के क्षय से पूर्ण शुद्ध होता है, जो जीव की शुद्धोपादान-अवस्था है। इस शुद्धोपादान की दिशा से विचार करनेवाले शुद्धनिश्चयनय (क्षीणोपाधिमूलक निश्चयनय) से केवलज्ञानादि को जीव सज्ञा देना सगत होता है।[3]

जीव की ये अशुद्धोपादानादिरूप तीनो अवस्थाएँ भावपर्यायावलम्बी उपाधिमूलक असद्भूतव्यवहारनय का विषय हैं, अत· इस नय के अशुद्धनिश्चयनयादि तीनो उपनाम सार्थक है। अब प्रश्न है कि इस नय को अशुद्धनिश्चयादि संज्ञाएँ देने की आवश्यकता क्यो पड़ी ? उत्तर यह है कि असद्भूतव्यवहारनय का मुख्य लक्षण भिन्नवस्तुसम्बन्ध का प्रकाशन करना है, जैसा कि कहा गया है —"भिन्नवस्तुसम्बन्ध-विषयोऽसद्भूतव्यवहार·।" इसलिए जैसे असद्भूतव्यवहारनय से जीव को पुद्गल कर्मो का कर्त्ता कहने पर पुद्गलकर्मो का जीव से भिन्न होना सूचित होता है, वैसे ही असद्भूतव्यवहारनय से रागादिभावो का कर्त्ता कहने पर वे भी पुद्गलकर्मो के

---

१ *"अशुद्धनिश्चयमध्ये मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानेषूपयोगत्रय व्याख्यात, तत्राशुद्धनिश्चये शुद्धोपयोग· कथ घटत इति चेत् तत्रोत्तर दीयते — शुद्धोपयोगे शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मा ध्येयस्तिष्ठति तेन कारणेन शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धावलम्बनत्वाच्छुद्धात्मस्वरूप-साधकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते। स च सवरशब्दवाच्य शुद्धोपयोग ससारकारणभूत-मिथ्यात्वरागाद्यशुद्धपर्यायवदशुद्धो न भवति तथैव फलभूतकेवलज्ञानलक्षणशुद्धपर्याय-वत् शुद्धोऽपि न भवति किन्तु ताभ्यामशुद्धशुद्धपर्यायाभ्या विलक्षण शुद्धात्मानुभूतिरूप-निश्चयरत्नत्रयात्मक मोक्षकारणमेकदेशव्यक्तिरूपमेकदेशनिरावरणं च तृतीयमवस्थान्तर भण्यते।"* बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा ३४

२ वही/गाथा २७

३ "शुद्धनिश्चयो यथा केवलज्ञानादयो जीव इति।" आलापपद्धति/सूत्र २१८

समान जीव से भिन्न ठहरेगे। किन्तु, वे अशुद्ध जीव के परिणाम है, चिद्विवर्त[१](अशुद्धचैतन्यपरिणाम) है, अत एव अशुद्धजीवरूप ही है, पुद्गलकर्म के समान पुद्गलरूप नही। इसी भेद की तुरन्त प्रतीति कराने के लिए भावपर्यायावलम्बी असद्भूतव्यवहारनय को अशुद्धनिश्चयनय आदि नाम दिये गए है और जीव को अशुद्धनिश्चयनय से रागादिभावो का कर्त्ता कहा गया है। किन्तु निरुपाधिक (मूल) पदार्थावलम्बी निश्चयनय से जीव मे इन औपाधिक भावो का अस्तित्व सिद्ध नही होता, वह मात्र शुद्धचैतन्यस्वरूप ठहरता है, अत· इस नय की अपेक्षा रागादिभाव परभाव अर्थात पुद्गल के भाव हैं।[२] इस कारण रागादिभावो को जीव का भाव प्रतिपादित करनेवाला अशुद्धनिश्चयनय निश्चयनय की दृष्टि से असद्भूतव्यवहारनय ही है। इस तथ्य की ओर आचार्य जयसेन ने समयसार की वृत्ति मे बार-बार ध्यान आकृष्ट किया है।[३] अशुद्धनिश्चयनय के असद्भूतव्यवहारनय होने की पुष्टि इस बात से भी होती है कि जहाँ आचार्य देवसेन ने मतिज्ञानादि को अशुद्धनिश्चयनय से जीव सज्ञा दी है, वही नेमिचन्द्राचार्य ने उन्हे व्यवहारनय (असद्भूत) से जीव का लक्षण बतलाया है।[४]

अशुद्धनिश्चयनय के समान एकदेशशुद्धनिश्चयनय तथा शुद्धनिश्चयनय (कर्मक्षयोपाधिमूलक निश्चयनय) भी असद्भूतव्यवहारनय के ही नामान्तर हैं। श्री माइल्ल धवल ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिये इन (एकदेश शुद्ध एव शुद्धनिश्चय) नयो के विषयभूत औपशमिक, क्षायोपशमिक एव क्षायिक भावो को असद्भूत कहा है[५] जिनमे शुद्धोपयोग, केवलज्ञानादि तथा सिद्धत्व पर्यायें सम्मिलित हैं।

यहाँ इस तथ्य को हृदयगम कर लेना चाहिये कि जिनेन्द्रदेव ने व्यवहारनय

---

१ "भावकर्माणि चैतन्यविवर्त्तात्मानि भान्ति नु ।" आप्तपरीक्षा/कारिका ११४

२. समयसार/गाथा ५०-५५

३ "यथा द्रव्यकर्मणा व्यवहारेण कर्तृत्व तथा रागादिभावकर्मणा च द्वयोर्द्रव्यभावकर्मणोरेकत्व प्राप्नोतीति। नैवं, रागादिभावकर्मणा योऽसौ व्यवहारस्तस्याशुद्धनिश्चयसज्ञा भवति द्रव्यकर्मणां भावकर्मभि· सह तारतम्यज्ञापनार्थम्। कथ तारतम्यमिति चेत्। द्रव्यकर्माण्यचेतनानि भावकर्माणि च चेतनानि, तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया अचेतनान्येव। यत: कारणदशुद्धनिश्चयोऽपि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव। अयमत्र भावार्थ· —द्रव्यकर्मणा कर्तृत्व भोक्तृत्व चानुपचरितासद्भूतव्यवहारेण रागादिभावकर्मणा चाशुद्धनिश्चयेन। स च शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एवेति।" वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ११३-११५

४ बृहद्द्रव्यसग्रह/गाथा ६

५ द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र/गाथा २९२

(असद्भूत) को ही जीव और शरीर तथा जीव और रागादि के कथचित् अभेद को दर्शानेवाला कहा है।[1] इसलिये यदि असद्भूतव्यवहारनय के उपर्युक्त (द्रव्य-पर्यायावलम्बी और भावपर्यायावलम्बी) भेदो को ध्यान में रखा जाय तो द्रव्यपर्याय और भावपर्याय मे अथवा द्रव्यकर्म और भावकर्म मे अभेदबुद्धि का प्रसग नही आएगा।

अब इन तीन नयो के आश्रय से आचार्यों ने जो निरूपण किये है उनके कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे है —

अशुद्धनिश्चयनयात्मक निरूपण

आचार्य कुन्दकुन्द ने जीव को कर्मोपाधिजनित मोहरागद्वेषादि भावों का निश्चयनय से कर्त्ता-भोक्ता कहा है — कम्मजभावेणादा कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो।[2] यहाँ 'निश्चय' शब्द से 'अशुद्धनिश्चय' इष्ट है, जैसा कि वृत्तिकार श्री पद्मप्रभमलधारि-देव की व्याख्या से ज्ञात होता है —

"आत्मा हि अशुद्धनिश्चयनयेन सकलमोहरागद्वेषादिभावकर्मणा कर्त्ता भोक्ता च।"[3]

बृहद्द्रव्यसग्रह के टीकाकार ब्रह्मदेव ने आठवी गाथा के 'णिच्छयदो चेदणकम्माणादा' अश की व्याख्या करते हुए कहा है कि जीव का रागादि विकल्प-रूप चेतनकर्मो का कर्त्ता होना अशुद्धनिश्चयनय से घटित होता है। उन्होने 'अशुद्धनिश्चय' शब्द का अर्थ भी स्पष्ट किया है। वे कहते है — 'अशुद्ध' शब्द रागादि के कर्मोपाधिजन्य होने का सूचक है तथा 'निश्चय' शब्द सोपाधिक अवस्था मे आत्मा के तन्मय (रागादिमय) होने का। दोनो के मेल से 'अशुद्धनिश्चय' शब्द निष्पन्न हुआ है।[4]

भगवत्कुन्दकुन्ददेव ने 'रागो दोसो मोहो जीवस्सेव अणण्णपरिणामा'[5] इस गाथाश मे भी अशुद्धनिश्चयनय से उपपन्न होने के कारण ही राग, द्वेष और मोह

---

१ समयसार/आत्मख्याति/गाथा ४६

२. नियमसार/गाथा १८

३ वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १८

४ "भावकर्मशब्दवाच्यरागादिविकल्परूपचेतनकर्मणामशुद्धनिश्चयेन कर्त्ता भवति। अशुद्ध-निश्चयस्यार्थ कथ्यते कर्मोपाधिसमुत्पन्नत्वाद् अशुद्ध., तत्काले तप्ताय·पिण्डवत् तन्मयत्वाच्च निश्चय·। इत्युभयमेलापकेनाशुद्धनिश्चयो भण्यते।"

बृहद्द्रव्यसग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा ८

५ समयसार/गाथा ३७१

को जीव का स्वकीय परिणाम बतलाया है और अशुद्धनिश्चयनय के अभिप्राय से ही उन्होने यह कहा है कि आत्मा जिस शुभ-अशुभ भाव को करता है उसका ही वह कर्त्ता होता है और उसी का भोक्ता[१], क्योंकि निश्चयनय से तो उन्होने इसका निषेध किया है।

आचार्य जयसेन का कथन है कि यत अशुद्ध (कर्मोपाधियुक्त) जीव रागादिरूप से परिणमित होता है, इसलिये अशुद्धनिश्चयनय से रागादि भी जीव के स्वभाव कहलाते है –

"कर्मकर्तृत्वप्रस्तावाद् अशुद्धनिश्चयेन रागादयोऽपि स्वभावा भण्यन्ते।"[२]

चूँकि हर्षविषादरूप सुख-दुःख की उत्पत्ति अशुद्धावस्था मे होती है, इसलिए जीव अशुद्धनिश्चयनय से ही उनका भोक्ता सिद्ध होता है –

"स एवाशुद्धनिश्चयनयेन हर्षविषादरूप सुखदु ख च भुङ्क्ते।"[३]

रागादि का सद्भाव अशुद्धावस्था मे ही होता है, इसलिये जीव के द्वारा रागादि का परित्याग किया जाना अथवा भावकर्मों का दहन किया जाना भी अशुद्ध-निश्चयनय से ही घटित होता है। निम्नलिखित निरूपण इस तथ्य पर प्रकाश डालते है –

"यश्चाभ्यन्तरे रागादिपरहिार स पुनरशुद्धनिश्चयेनेति।"[४] "भावकर्मदहन पुनरशुद्धनिश्चयेन।"[५]

भगवान् के केवलज्ञानादि अनन्त गुणो का स्मरणरूप भावनमस्कार भी अशुद्धनिश्चयनय से ही वास्तविक सिद्ध होता है, क्योंकि अरहन्तादि के प्रति भक्ति-परिणाम-रूप प्रशस्तराग अशुद्ध जीव मे ही उत्पन्न होता है, इसलिए श्री ब्रह्मदेव ने कहा है –

"केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्मरणरूपो भावनमस्कार· पुनरशुद्धनिश्चयेनेति।"[६]

एकदेशशुद्धनिश्चयात्मक निरूपण

मोहनीय कर्म की जिन प्रकृतियो का उदय शुद्धोपयोग को रोकता है उनका

---

१ ज भाव सुहमसुह करोदि आदा स तस्स खलु कत्ता ।
त तस्स होदि कम्म सो तस्स दु वेदगो अप्पा ।। समयसार/गाथा १०२

२. पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ६१

३. बृहद्द्रव्यसग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा ९

४ वही/गाथा ४५

५ परमात्मप्रकाश/ब्रह्मदेवटीका/दोहा १

६ वही/दोहा १

उपशम, क्षयोपशम या क्षय होने पर आत्मा एकदेश (अशत:) शुद्ध हो जाता है। इस अवस्था मे उसमें शुद्धपयोग की उत्पत्ति होती है, जिसे भावसवर, भावनिर्जरा और भावमोक्ष भी कहते हैं। अत: एकदेशशुद्धनिश्चयनय से देखने पर जीव शुद्धोपयोग अथवा भावसवर आदि का कर्त्ता सिद्ध होता है। इसका निरूपण श्रीब्रह्मदेव ने इन शब्दो मे किया है –

"सम्यग्दृष्टेस्तु सवरनिर्जरामोक्षपदार्थाना द्रव्यरूपाणा यत्कर्तृत्व तदप्यनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण जीवभावपर्यायरूपाणा तु विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेनेति।"[१]

—सम्यग्दृष्टि जीव का द्रव्यरूप (पुद्गलपरिणामरूप) सवर, निर्जरा और मोक्ष पदार्थों का कर्तृत्व अनुपचिरत (जीवसश्लिष्ट-परद्रव्यसम्बन्धमूलक) असद्भूतव्यवहारनय से घटित होता है तथा भावरूप सवर, निर्जरा और मोक्ष का कर्तृत्व एकदेशशुद्धनिश्चयनय से।

अप्रमत्त गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थानपर्यन्त जीव मे जघन्य, मध्यम, और उत्कृष्ट मात्रा मे शुद्धोपयोग पाया जाता है। इन पर्यायो मे स्थित जीव एकदेशशुद्ध उपादान होता है, अत जीव मे शुद्धोपयोग का सद्भाव एकदेशशुद्धनिश्चयनय से उपपन्न होता है। निम्नलिखित व्याख्यान मे यह तथ्य प्रकाशित किया गया है –

"तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायपर्यन्त जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन विवक्षितैकदेशशुद्धनयरूपशुद्धोपयोगो वर्तते।"[२]

शुद्धनिश्चयनयात्मक निरूपण

मूलपदार्थावलम्बी अथवा द्रव्याश्रित निश्चयनय से भिन्नता दर्शाने के लिये इसे क्षीणोपाधिमूलक शुद्धनिश्चयनय नाम देना उचित होगा, क्योंकि इसमे प्रयुक्त 'शुद्ध' विशेषण घाती कर्मों के क्षय से उत्पन्न शुद्धता का वाचक है। केवलज्ञानादिभाव इसी शुद्धनिश्चयनय से जीव के स्वभाव घटित होते हैं, जैसा कि आचार्य जयसेन ने कहा है – "शुद्धनिश्चयेन केवलज्ञानादिशुद्धभावा· स्वभावा भण्यन्ते।"[३] द्रव्यार्थिक निश्चयनय तो निरुपाधिक आत्मा का अवलम्बन कर निर्णय करता है, अत· उसकी अपेक्षा इन औपाधिक भावो का अस्तित्व ही घटित नही होता।

आलापपद्धतिकार ने 'केवलज्ञानादि जीव है', इस प्रकार निरुपाधिक गुण-

---

१ बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा २७

२ वही/गाथा ३४

३. पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ६१

गुणी के अभेद का अवलम्बन करनेवाले नय को शुद्धनिश्चयनय कहा है।[1] यहाँ 'निरुपाधि' शब्द से 'क्षीणोपाधि' अर्थ अभिप्रेत है, क्योंकि कर्मोपाधि का क्षय होने पर ही जीव के केवलज्ञानादि स्वभाव प्रकट होते हैं तथा मुक्तावस्था मे जीव का अनन्तज्ञान, अनन्तसुख आदि शुद्धभावो का कर्तृत्व भी इसी क्षीणोपाधिमूलक शुद्धनिश्चयनय से ही उपपन्न होता है।[2]

उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय के भेद

उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय को आलापपद्धतिकार ने दो भेदो मे विभाजित किया है – अनुपचरित एव उपचरित।[3] ससारी जीव के साथ शरीर और पुद्गल-कर्म सश्लिष्ट होते हैं। अत जिनेन्द्रदेव ने इनमे और जीव मे परस्पर स्व-स्वामित्वादि सम्बन्धो का उपचार किया है। इस उपचार का अवलम्बन कर जीव के विषय मे परामर्श करनेवाली दृष्टि को आलापपद्धतिकार ने अनुपचरित असद्भूत-व्यवहारनय सज्ञा दी है। उदाहरणार्थ –

"सश्लेषसहितवस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य शरीरमिति।"[4]

– जिस शरीरादि परद्रव्य का जीव से सश्लेष है उसके साथ जीव के (स्वस्वामित्वादि) सम्बन्ध का उपचार करनेवाली (तथा किये गए उपचार के निमित्त एव प्रयोजन को देखनेवाली) दृष्टि का नाम अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय है। जैसे 'यह जीव का शरीर है' इस कथन मे जीवसश्लिष्ट शरीर और जीव मे स्वस्वामि-सम्बन्ध का उपचार किया गया है, अत यह अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से किये गए परामर्श का उदाहरण है।

यद्यपि यह दृष्टि उपचारमूलक है, तथापि उपचार का विषय जीव से सश्लिष्ट पदार्थ है, न कि असश्लिष्ट, इसलिये इसे अनुपचरित कहा गया है तथा परिवारजन एव धनसम्पत्ति जीव से असश्लिष्ट होते हैं इसलिये इनमे और जीव मे स्वस्वामित्वादि सम्बन्धो का उपचार करनेवाली तथा किये गए उपचार के निमित्त

---

१ "तत्र निरुपाधिकगुणगुण्यभेदविषयक. शुद्धनिश्चयो यथा केवलज्ञानादयो जीव इति।' आलापपद्धति/सूत्र, २१८

२ "शुभाशुभयोगत्रयव्यापाररहितेन शुद्धबुद्धैकस्वभावेन यदा परिणमति तदानन्तज्ञान-सुखादिशुद्धभावाना छद्मस्थावस्थाया भावनारूपेण विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन कर्त्ता, मुक्तावस्थाया तु शुद्धनयेनेति।" बृहद्द्रव्यसग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा ८

३ "असद्भूतव्यवहारो द्विविध उपचरितानुपचरितभेदात्।" आलापपद्धति/सूत्र २२६

४. वही/सूत्र २२८

एव प्रयोजन को हृदयंगम करनेवाली दृष्टि उपचरित असद्भूतव्यवहारनय शब्द से अभिहित की गयी है। आचार्य देवसेन के निम्नलिखित वचन से यह बात स्पष्ट होनी है —

"सश्लेषरहितवस्तुसम्बन्धविषय उपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा देवदत्तस्य धनमिति।"[१]

— 'यह देवदत्त का धन है', इस प्रकार जीव से असश्लिष्ट वस्तु के साथ जीव के स्वस्वामित्वादिसम्बन्ध का उपचार करने वाली दृष्टि उपचरित असद्भूत-व्यवहारनय है।

यहाँ सश्लेषरहित पदार्थ के साथ पहले सश्लेषसम्बन्ध का उपचार किया जाता है, तत्पश्चात् स्व-स्वामित्वादि सम्बन्ध का। इसलिए उपचार मे उपचार करने के कारण इस दृष्टि को उपचरित असद्भूतव्यवहारनय नाम दिया गया है।

(ख) सद्भूतव्यवहारनय के भेद

आलापपद्धतिकार आचार्य देवसेन ने इसके भी दो भेद दिखलाये है उपचरित और अनुपचरित।[२] इन्हे क्रमश अशुद्ध और शुद्ध भी कहा गया है।

सोपाधि-गुणी (द्रव्य) और सोपाधि-गुण मे जो सज्ञादि का भेद होता है उसका अवलम्बन कर उन्हे भिन्न पदार्थो की तरह व्यवहृत करनेवाली दृष्टि उपचरित या अशुद्ध सद्भूतव्यवहारनय कहलाती है। जैसे जीव के 'मतिज्ञानादिगुण' इस कथन मे कर्मोपाधियुक्त अशुद्ध जीव तथा उसके मतिज्ञानादि अशुद्ध गुणो मे रहनेवाले सज्ञादि भेद को लेकर उन्हे स्वस्वामिरूप से भिन्न पदार्थो की तरह व्यवहृत किया गया है, अत. यह उपचरित सद्भूतव्यवहारनय से किये गए परामर्श का उदाहरण है।[३] अशुद्धपर्याय और अशुद्धपर्यायी (द्रव्य) का सज्ञादिभेद भी इस नय का विषय है।[४]

तथा जो दृष्टि निरुपाधिक गुणी और निरुपाधिक गुण के संज्ञादिगत भेद का अवलम्बन कर उन्हे भिन्न पदार्थो की तरह व्यवहृत करती है उसे अनुपचरित (शुद्ध) सद्भूतव्यवहारनय नाम दिया गया है। जैसे 'जीव के केवलज्ञानादि गुण'

---

१ आलापपद्धति/सूत्र २२७

२ "तत्र सद्भूतव्यवहारो द्विविध उपचरितानुपचरितभेदात् ।" वही/सूत्र २२३

३ "तत्र सोपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषय: उपचरितसद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणा ।" वही/सूत्र २२४

४ "अशुद्धसद्भूतव्यवहारो यथाऽशुद्धगुणाऽशुद्धगुणिनोरशुद्धपर्यायाशुद्धपर्यायिणोर्भेद-कथनम्।" वही/सूत्र ८३

इस कथन में कर्मोपाधिमुक्त शुद्ध जीव तथा उसके केवलज्ञानादि शुद्ध गुणो के सज्ञादिरूप भेद का अवलम्बन कर उन्हे स्वस्वामिरूप से भिन्न पदार्थों की तरह व्यवहृत किया गया है, अत. यह अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय से किये गए परामर्श का उदाहरण है।[1] शुद्ध पर्याय और शुद्ध पर्यायी का सज्ञादिभेद भी इस नय का विषय है।[2]

●

---

१ "निरुपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयोऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणा·।" वही/सूत्र २२५

२. "शुद्धसद्भूतव्यवहारो यथा शुद्धगुणशुद्धगुणिनो· शुद्धपर्यायशुद्धपर्यायिणोर्भेदकथनम्।" वही/सूत्र २८

सप्तम अध्याय

निश्चय और व्यवहार की परस्परसापेक्षता

परस्पर पूरक

वस्तु अनेकान्त है अर्थात् परस्परविरुद्धधर्मद्वयात्मक है। निश्चय और व्यवहार नय उनमे से एक-एक धर्म का प्रकाशन करते हैं, इसलिये दोनो मिलकर ही वस्तु का पूर्ण स्वरूप दर्शाने मे समर्थ होते हैं, अत वे परस्पर पूरक हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा भी है –

"एकचक्षुरवलोकनमेकदेशावलोकन, द्विचक्षुरवलोकन सर्वावलोकनम्।"[1]

—एक आँख से देखने पर वस्तु का एक पक्ष दिखाई देता है, दोनो आँखो से देखने पर सम्पूर्ण वस्तु के दर्शन होते हैं।

परस्पर अविनाभावी

निश्चय और व्यवहार, उत्तर और दक्षिण अथवा दाएँ और बाएँ के समान परस्पर अविनाभावी हैं। उत्तर के भेद के बिना दक्षिण का भेद सम्भव नही है और दक्षिण के भेद के बिना उत्तर का भेद असम्भव है। परस्पर विरुद्ध दिशाओ मे से जब एक को उत्तर नाम दिया जाता है, तभी उससे विरुद्ध दिशा के लिये दक्षिण सज्ञा घटित होती है। इसी प्रकार परस्पर विरुद्ध धर्मों मे से जब कोई धर्म व्यवहारनय से घटित होता है, तभी तद्विरुद्ध धर्म निश्चयनय से घटित होता है अथवा जब किसी धर्म की उपपत्ति निश्चयनय से होती है, तभी उससे विरुद्ध धर्म की उपपत्ति व्यवहार-नय से होती है। इसलिए जहाँ निश्चयनय अपने विषयभूत धर्म का मुख्यत· प्रकाशन करता है, वहीं प्रतिपक्षीरूप से सम्बद्ध व्यवहारनय के विषयभूत धर्म की सत्ता भी द्योतित करता है। इसी तरह व्यवहारनय अपने विषयभूत धर्म को मुख्यत: विज्ञापित करने के साथ-साथ प्रतिपक्षीरूप से सम्बद्ध निश्चयनय के विषयभूत धर्म का अस्तित्त्व भी मौनरूप से ज्ञापित करता है। इस प्रकार निश्चयनय मे व्यवहारनय के विषय की स्वीकृति समायी होती है और व्यवहारनय मे निश्चयनय के विषय की। यही निश्चय और व्यवहार की परस्पर सापेक्षता है।[2] इसलिए जब यह कहा जाता है कि 'आत्मा

१. प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका, २/२२

२. (क) "निरपेक्षत्व प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृति , सापेक्षत्वमुपेक्षा।"

आप्तमीमासा-भाष्य/कारिका १०८

(ख) "सापेक्षा: परस्परसम्बद्धास्ते नया·।" देवागमवृत्ति/कारिका १०८

निश्चयनय से अबद्ध है' तब 'व्यवहारनय से बद्ध है' यह अर्थ अपने आप ध्वनित होता है, क्योंकि निश्चयनय केवल निरुपाधिक अवस्था की अपेक्षा से ही अबद्ध होने का निर्णय देता है, सोपाधिक अवस्था की अपेक्षा नही। सोपाधिक अवस्था व्यवहारनय का विषय है, इसलिये व्यवहारनय की अपेक्षा आत्मा का बद्ध होना निश्चयनय स्वीकार करता है।[1] आचार्य जयसेन इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं –

"शुद्धनिश्चयनय से जीव अकर्त्ता, अभोक्ता तथा क्रोधादि भावो से भिन्न है, ऐसा कथन करने पर, दूसरे पक्ष मे वह व्यवहार से कर्त्ता, भोक्ता तथा क्रोधादि भावो से अभिन्न है, यह आशय बिना कहे ही फलित होता है। जैसे 'यह देवदत्त दायी ऑख से देखता है' ऐसा कहने पर 'बायी ऑख से नही देखता है' यह बिना कहे ही सिद्ध होता है, क्योंकि निश्चयनय और व्यवहारनय परस्पर सापेक्ष हैं। किन्तु जो साख्य या सदाशिव मत के अनुयायी इस प्रकार परस्परसापेक्ष नयविभाग नही मानते उनके मत मे जैसे शुद्धनिश्चयनय से आत्मा अकर्ता तथा क्रोधादि से भिन्न होता है वैसे ही व्यवहारनय से भी सिद्ध होता है। इस स्थिति मे आत्मा का क्रोधादिरूप से परिणमित होना घटित नही होता। इससे सिद्धो के समान कर्मबन्ध के अभाव का तथा कर्मबन्ध के अभाव मे सर्वदा मुक्त रहने का प्रसग उपस्थित होता है। किन्तु यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, क्योंकि ससार प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता है।[2]

इस व्याख्यान से निश्चय और व्यवहार की परस्परसापेक्षता का अभिप्राय भलीभॉति स्पष्ट हो जाता है।

निरपेक्षा नया मिथ्या:[3]

यदि निश्चय और व्यवहार परस्पर निरपेक्ष हो, अर्थात् एक-दूसरे की अपेक्षा

---

१ गधरसफासरूवा देहो सठाणमाइया जे य ।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसति ।। समयसार/गाथा ६०

२ "किञ्च शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्याकर्तृत्वमभोक्तृत्व च क्रोधादिभ्यश्च भिन्नत्व च भवतीति व्याख्याने कृते सति द्वितीयपक्षे व्यवहारेण कर्तृत्व भोक्तृत्व च क्रोधादिभ्यश्चाभिन्नत्व च लभ्यत एव। कस्मात् ? निश्चयव्यवहारयो परस्परसापेक्षत्वात्। कथमिति चेत् ? यथा दक्षिणेन चक्षुषा पश्यत्यय देवदत्त , इत्युक्ते वामेन न पश्यतीत्यनुक्तसिद्धमिति। ये पुनरेव परस्परसापेक्षनयविभाग न मन्यन्ते साङ्ख्यसदाशिवमतानुसारिणस्तेषा मते यथा शुद्धनिश्चयनयेन कर्त्ता न भवति क्रोधादिभ्यश्च भिन्नो भवति तथा व्यवहारेणापि। ततश्च क्रोधादिपरिणमनाभावे सति सिद्धनामिव कर्मबन्धाभाव·। कर्मबन्धाभावे ससाराभाव ससाराभावे सर्वदा मुक्तत्व प्राप्नोति। स च प्रत्यक्षविरोध·, संसारस्य प्रत्यक्षेण दृश्यमान-त्वादिति।" वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ११३-११५

३ आप्तमीमासा/कारिका, १०८

से प्रतिपक्षी धर्म के अस्तित्व को स्वीकार न करे, तो दोनो मिथ्या सिद्ध होगे, क्योंकि आत्मा नित्य-अनित्य, अभेद-सभेद, बद्ध-अबद्ध, शुद्ध-अशुद्ध आदि रूप से अनेकान्तात्मक है, अब यदि निश्चयनय स्वापेक्षया उसके नित्य, अभेद, अबद्ध, शुद्ध, आदि होने का निर्णय तो करे, किन्तु व्यवहारनय से उसका अनित्य, सभेद बद्ध, अशुद्ध आदि होना स्वीकार न करे तो आत्मा एकान्तात्मक सिद्ध होगा जो मिथ्या है। इस प्रकार मिथ्या-निर्णय का हेतु होने से निश्चयनय मिथ्या हो जायेगा। इसी प्रकार व्यवहारनय आत्मा को स्वापेक्षया अनित्य, सभेद, बद्ध, अशुद्ध आदि निर्णीत करे, किन्तु निश्चयनय की अपेक्षा उसका नित्य, अभेद, अबद्ध, शुद्ध आदि होना स्वीकार न करे, तो इस प्रकार भी आत्मा एकान्तात्मक सिद्ध होगा। इस निर्णय के भी मिथ्या होने से व्यवहारनय मिथ्या हो जायेगा। दूसरे, परस्परविरुद्ध धर्मो मे से एक का निषेध होने पर दूसरे का भी निषेध हो जाता है, जिससे धर्म के अभाव मे धर्मी (वस्तु) के ही लोप का प्रसग आता है।[1] इसके अतिरिक्त प्रतिपक्षी नय के विषय का अभाव होने पर उस नय का भी अभाव हो जाता है और एक नय के अभाव मे दूसरे का भी अस्तित्व नही रहता। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है —

य एव नित्य-क्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः ।
त एव तत्त्व विमलस्य ते मुने परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिण· ।।[2]

— जो नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्मों का प्रतिपादन करनेवाले परस्पर प्रतिपक्षी नय हैं, वे एक-दूसरे से निरपेक्ष होने पर एक-दूसरे के अस्तित्व को मिथ्या सिद्ध करते हैं, किन्तु परस्पर सापेक्ष होने पर अपने को भी सत्य सिद्ध करते हैं, और दूसरे को भी।

एक-दूसरे को स्वीकार करके वे सर्वथात्व के दोष से मुक्त हो जाते हैं और अपने को समीचीन बनाकर अपने अस्तित्व की रक्षा कर लेते हैं — "सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीह ते।"[3]

समयसार के सुप्रसिद्ध हिन्दी व्याख्याकार पडित जयचन्द जी लिखते है कि शुद्धनय (निश्चयनय) को सत्यार्थ (भूतार्थ) कहा गया है, इससे ऐसा नही समझ लेना चाहिए कि अशुद्धनय (व्यवहारनय) सर्वथा असत्यार्थ है। ऐसा मानने

---

१. अनेकमेकं च तदेव तत्त्व भेदान्वयज्ञानमिद हि सत्यम् ।
मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे तच्छेषलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यम् ।।

स्वयम्भूस्तोत्र/श्लोक २२

२ वही/श्लोक ६१

३ वही/श्लोक १०४

से वेदान्तमत की तरह ससार सर्वथा अवस्तु ठहरेगा, जिससे एकान्तपक्ष आ जाने से मिथ्यात्व का प्रसंग आएगा। इस स्थिति मे शुद्धनय का अवलम्बन भी मिथ्या सिद्ध होगा। अत. सभी नयो की कथंचित् सत्यार्थता का श्रद्धान करने से ही जीव सम्यग्दृष्टि होता है।[१]

परस्परसापेक्ष नय ही अज्ञाननिवारक

परस्पर सापेक्ष होने पर ही निश्चय और व्यवहार नय प्रमाण के अवयव बनकर वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को प्रकाशित करने मे समर्थ होते हैं और अज्ञान का निवारण करते हैं। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव ने कहा है –

"भागवत शास्त्रमिद ये खलु निश्चयव्यवहारनययोरविरोधेन जानन्ति ते खलु महान्तः समस्ताध्यात्मशास्त्रवेदिन शाश्वतसुखस्य भोक्तारो भवन्ति।"[२]

–जो इस भगवत्प्रणीत शास्त्र का निश्चय और व्यवहार नयो के समन्वय से अनुशीलन करते हैं, वे महापुरुष ही समस्त अध्यात्मशास्त्र के मर्म को ग्रहण करने मे समर्थ होते हैं और शाश्वत सुख के भोक्ता बनते हैं।

परस्परसापेक्ष निश्चयव्यवहार नयो के द्वारा उपलब्ध ज्ञान से ही मिथ्यात्व का विनाश होता है। आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है –

"यो हि नाम स्वविषयमात्रप्रवृत्ताशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकव्यवहारनयाविरोध-मध्यस्थ· शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयनयापहस्तितमोहः सन् ·· शुद्धात्मा स्यात्।"[३]

–जो केवल अपने विषय तक सीमित रहने वाले अशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मक व्यवहारनय का निषेध न करते हुए शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मक निश्चयनय से मोह का विनाश करता है ··· वही शुद्धात्मा बनता है।

भट्टारक देवसेन ने भी उपदेश दिया है – "मोहनिरासार्थं निश्चयव्यवहाराभ्यामालिङ्गित कृत्वा वस्तुस्वरूप निर्णेयम्।"[४] अर्थात् मिथ्यात्व का विनाश करने के लिये निश्चय और व्यवहार दोनो के द्वारा वस्तुरूप का निर्णय करना चाहिये।

वर्तमान युग के सुप्रसिद्ध आचार्य श्री विद्यासागर जी कहते हैं — "जैसे नदी के किनारे परस्पर प्रतिकूल होकर भी नदी के लिये अनुकूल हैं, दोनो मे ही नदी का स्वरूप विद्यमान है, वैसे ही निश्चय और व्यवहार नय एक-दूसरे के प्रतिकूल

---

१ समयसार/भावार्थ/गाथा १४
२ नियमसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १८७
३. प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका २/९९
४ श्रुतभवनदीपकनयचक्र ५३

होते हुए भी प्रमाण के लिये अनुकूल हैं। दोनो मिलकर ही वस्तु के पूर्णस्वरूप का संकेत करते हैं।"[१]

किसी एक नय के कथन को ग्रहण करने तथा दूसरे नय के कथन का निषेध करने से दृष्टि मे मिथ्यात्व आता है। निश्चय को ही एकान्तरूप से ग्रहण करने वालो के विषय मे पडित टोडरमल जी कहते हैं —

"जिनवाणी मे तो विभिन्न नयो की अपेक्षा वस्तुतत्त्व का भिन्न-भिन्न रूप मे निरूपण किया गया है, किन्तु एकान्तनिश्चयावलम्बी एकमात्र निश्चयनयात्मक कथन को ग्रहण कर मिथ्यादृष्टि बनते है।[२]

वे आगे लिखते है — "निश्चय का निश्चयरूप और व्यवहार का व्यवहार-रूप श्रद्धान करना योग्य है। एक ही नय का श्रद्धान करने से एकान्त मिथ्यात्व होता है।"[३]

समयसार मे कहा गया है कि "व्यवहारनय अभूतार्थ है और निश्चयनय भूतार्थ। भूतार्थ का आश्रय लेने वाला जीव ही सम्यग्दृष्टि होता है।"[४] इसका तात्पर्य यह नही है कि व्यवहारनिरपेक्ष निश्चयनय का आश्रय लेने से जीव सम्यग्दृष्टि होता है, क्योंकि व्यवहारनिरपेक्ष निश्चयनय तो मिथ्या नय है, मिथ्या नय का आश्रय लेनेवाला सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ? अत: इसका तात्पर्य यह है कि परमार्थ को ही परमार्थबुद्धि से ग्रहण करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि होता है, व्यवहार को परमार्थबुद्धि से ग्रहण करनेवाला नही।[५] किन्तु, चूँकि निश्चयनय व्यवहारनय-सापेक्ष है, अत व्यवहारनय के विषयभूत धर्म को व्यवहारनय से सत्य स्वीकार किये बिना जीव परमार्थ को परमार्थबुद्धि से ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिये जो परमार्थ को परमार्थ बुद्धि से ग्रहण करता है वह व्यवहार के विषय को व्यवहारनय की अपेक्षा सत्य स्वीकार करता ही है — यह अभिप्राय उक्त तात्पर्य से स्वयमेव ध्वनित होता है।

---

१. 'सागर मे विद्यासागर स्मारिका', पृ० ५१
२. मोक्षमार्गप्रकाशक/सप्तम अधिकार/पृ० १९८
३. वही/सप्तम अधिकार/पृ० २५०
४. ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
   भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ।। समयसार/गाथा ११
५. "ततो ये व्यवहारमेव परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते ते समयसारमेव न चेतयन्ते। य एव परमार्थं परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते त एव समयसारं चेतयन्ते।"
   वही/आत्मख्याति/गाथा ४१४

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मिथ्याबुद्धियो के विनाश से होती है। मिथ्याबुद्धियो का विनाश न केवल निश्चयनय के अवलम्बन से होता है, न केवल व्यवहारनय के, अपितु परस्परसापेक्ष दोनो नयो के अवलम्बन मे होता है।

निश्चयनय के द्वारा शरीरादि में आत्मादिबुद्धि का विनाश

निश्चयनय के अवलम्बन से परमार्थभूत (नियतस्वलक्षणसिद्ध) आत्मा तथा परमार्थ-मोक्षमार्ग का बोध होता है। इससे जीव की जो अनादिकाल से अपने को देहरूप या मोहरागादिरूप समझने तथा परद्रव्यो को सुख का हेतु एवं अपना मानने की मिथ्याबुद्धि है, वह नष्ट हो जाती है और वह स्वय को अनन्तज्ञानादि शक्तियो से सम्पन्न शुद्धचैतन्यस्वरूप अनुभव करता है। उसे यह निश्चय हो जाता है कि मोहरागादि भाव उसके स्वाभाविक भाव नही हैं, अपितु कर्मोपाधिजन्य है तथा शरीर चेतनआत्मा से भिन्न जड़तत्त्व है। उसका सयोग कर्मवश हुआ है। सासारिक वस्तुएँ न सुखमय है, न दु खमय। एकमात्र स्वात्मा ही आनन्द का स्रोत है, क्योंकि आनन्द उसका स्वभाव है। वह अनुभव करता है कि मैं मोहकर्मजनित अज्ञानवश स्वात्मस्वरूप की उपलब्धि से वचित होकर ससारभ्रमण कर रहा हूँ। इससे मुक्त होने पर ही निजस्वरूप एव शाश्वत सुख की उपलब्धि हो सकती है। मुक्त होने की शक्ति मुझमे ही है। मेरा स्वभाव ही मोक्ष का मार्ग है, अत· वही उपादेय है। इस प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

इसी प्रकार जो केवल शुभप्रवृत्तियो को ही मोक्ष का मार्ग समझते हैं उनका भ्रम भी दूर हो जाता है। निश्चयनय द्वारा उन्हे मोक्ष का परमार्थ मार्ग ज्ञात हो जाने पर वे आत्म-स्वभाव को ही वास्तविक मोक्षमार्ग समझने लगते है। इस प्रकार निश्चयनय के अवलम्बन से व्यवहार को परमार्थ समझने की मिथ्याबुद्धि नष्ट हो जाती है और जीव परमार्थ को ही परमार्थ बुद्धि से ग्रहण करता है।

व्यवहारनय के द्वारा सर्वथा शुद्धत्व की मिथ्याबुद्धि का विनाश

व्यवहारनय के द्वारा जीव को स्वय की ससारपर्याय का ज्ञान होता है। इससे जो एकान्तनिश्चय का अवलम्बन कर स्वय को सर्वथा शुद्ध समझने लगते है उनकी मिथ्याबुद्धि विनष्ट हो जाती है। मोक्षमार्ग मे प्रवृत्त होने के लिये अपनी ससारपर्याय का ज्ञान और उसमे विश्वास अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना जीव अपने को बन्धन मे बँधा हुआ अनुभव ही नही करेगा, तो मोक्ष के लिये प्रयत्न कैसे करेगा ? इसीलिये आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है — "राग-द्वेष-मोह से जीव का जो परमार्थत भेद है, केवल उसे ही दर्शाया जाय और जीव केवल उसे ही सत्य माने तो मोक्ष-मार्ग अपनाने की आवश्यकता ही सिद्ध न होगी, जिससे जीव

कभी मुक्ति का प्रयत्न न करेगा।"[1] आचार्य जयसेन का कथन है — "जब जीव को यह ज्ञान होता है कि आत्मा रागादि का कर्ता है, रागादि भाव ही बन्ध के कारण हैं, तब वह रागद्वेषादि विकल्पजाल त्यागकर उनके विनाश हेतु निज शुद्धात्मा का ध्यान करता है। इससे रागादि का विनाश होता है और आत्मा शुद्ध हो जाता है।"[2]

आत्मा का देह के साथ जो विलक्षण सश्लेषरूप अभेद है तथा धन-सम्पत्ति, पति-पत्नी, पुत्र-पुत्र्यादि के साथ लौकिक स्व-स्वामिसम्बन्ध है इनका ज्ञान भी व्यवहारनय के द्वारा होता है। यह ज्ञान भी मोक्ष के लिये अत्यन्त आवश्यक है। आत्मा और शरीर के कथचित् अभेद की अनुभूति न हो तो जीवो के शरीर का घात करने से हिसा घटित नही होगी। उससे कर्मबन्ध के अभाव का प्रसग आएगा और कर्मबन्ध के अभाव मे मोक्ष की आवश्यकता सिद्ध न होगी। ऐसा होने पर जीव मोक्षमार्ग मे प्रवृत्त न होगा, जिससे उसका मुक्त होना असम्भव हो जाएगा। इस तथ्य का निरूपण आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार की ४६वी गाथा की टीका मे किया है, जिसका विवरण पूर्व मे दिया जा चुका है।

इसी प्रकार धन-सम्पत्ति एव कुटुम्बीजनो के साथ जीव का जो लौकिक स्व-स्वामिसम्बन्ध है, उसे मान्यता न दी जाय, तो अदत्तादानरूप चोरी, परस्त्री-पर-पुरुष-गमनरूप अब्रह्म तथा बाह्यवस्तुसग्रहरूप परिग्रह के पाप घटित नही होगे। तब भी उपर्युक्त प्रकार से मोक्ष असम्भव हो जाएगा। सार यह है कि व्यवहारनय ससारपर्याय को दृष्टि मे लाकर जीव की स्वय को सर्वथा शुद्ध समझने की मिथ्याबुद्धि नष्ट करता है और पर्याय की अपेक्षा अशुद्ध होने की प्रतीति कराता है, जिससे वह मोक्ष की ओर उन्मुख होता है। सम्यग्दर्शन के लिए ससारपर्याय के ज्ञान की आवश्यकता बतलाते हुए पडित टोडरमल जी लिखते हैं —

"पर्याय की अपेक्षा स्वय को शुद्ध मानने से महाविपरीतता होती है। इसलिये अपने को द्रव्यपर्यायरूप अवलोकन करना चाहिये, पर्याय की दृष्टि से अवस्था-विशेषरूप समझना चाहिये। इसी रूप मे चिन्तन करने से जीव सम्यग्दृष्टि होता है, क्योंकि सच्चा अवलोकन किये बिना सम्यग्दृष्टि सज्ञा कैसे प्राप्त हो सकती है?"[3]

---

१. समयसार/आत्मख्याति/गाथा ४६

२. "रागादीनेवात्मा करोति न च द्रव्यकर्म, रागादय एव बन्धकारणमिति यदा जानाति जीवस्तदा रागद्वेषादिविकल्पजालत्यागेन रागादिविनाशार्थं निजशुद्धात्मान भावयति। ततश्च रागादिविनाशो भवति। रागादिविनाशे चात्मा शुद्धो भवति।"

प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति २/९७

३. मोक्षमार्गप्रकाशक/सप्तम अधिकार/पृ० २००

इसके अतिरिक्त व्यवहारनय के द्वारा निश्चयमोक्षमार्ग के साधक व्यवहार-मोक्षमार्ग का भी ज्ञान होता है, जिससे प्रत्येक भूमिका मे निश्चयमोक्षमार्ग को ही आश्रयणीय मानने की मिथ्याबुद्धि दूर होती है और प्राथमिक भूमिका मे व्यवहार-मोक्षमार्ग का अवलम्बन कर जीव अपने को निश्चयमोक्षमार्ग के अवलम्बनयोग्य बनाता है।

इस प्रकार निश्चय और व्यवहार दोनो नय आत्मा के शुद्ध-अशुद्ध रूपो का बोध कराकर मिथ्याबुद्धियों का विनाश करते है। अत. सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति दोनों पर आश्रित है। इसीलिये एक प्राचीन गाथा मे कहा गया है —

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह ।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थ अण्णेण उण तच्च ।।[1]

—यदि जिनमत का प्रवर्तन चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय मे से किसी को भी मत छोड़ो, क्योंकि निश्चय के बिना परमार्थभूत आत्मा का बोध न हो सकेगा और व्यवहार के बिना तीर्थ-प्रवृत्ति सम्भव न होगी।

इस प्रकार परस्परसापेक्ष निश्चय और व्यवहार नयो के अवलम्बन से ही मिथ्यात्व का विनाश और मोक्षमार्ग मे प्रवृत्ति सम्भव होती है। निश्चयनय के अवलम्बन से व्यवहार-विमूढ़ता का विनाश होता है और व्यवहारनय के अवलम्बन से निश्चयविमूढ़ता का।

साध्यसाधकरूप से भी परस्परसापेक्ष

निश्चयनय द्वारा प्रतिपादित शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्ग के अवलम्बन की सामर्थ्य व्यवहारनय द्वारा प्रतिपादित शुभोपयोगरूप मोक्षमार्ग के अवलम्बन से आती है। अत. दोनो मे साध्यसाधक भाव है। इस दृष्टि से भी निश्चय और व्यवहार परस्पर सापेक्ष हैं। निश्चय-मोक्षमार्ग स्वय की सिद्धि के लिये साधकरूप से व्यवहार-मोक्षमार्ग की अपेक्षा रखता है और व्यवहार-मोक्षमार्ग अपनी उपयोगिता सिद्ध करने के लिये साध्यरूप से निश्चय-मोक्षमार्ग की आकाक्षा रखता है। इस पर प्रकाश डालते हुए आचार्य जयसेन लिखते हैं —

"इस प्रकार वीतरागत्व को ही इस प्राभृतशास्त्र का तात्पर्य समझना चाहिए। वह वीतरागत्व मोक्षसिद्धि मे तभी समर्थ होता है, जब निश्चय और व्यवहार नयों का साध्यसाधकरूप मे परस्परसापेक्षभाव से अवलम्बन किया जाता है, परस्पर-निरपेक्षभाव से अवलम्बन करने पर नही। उदाहरणार्थ, जो लोग विशुद्धज्ञानदर्शन-स्वभाव शुद्धात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप निश्चयमोक्षमार्ग को

---

१. समयसार/आत्मख्याति/गाथा १२ मे उद्धृत

स्वीकार नहीं करते, केवल शुभप्रवृत्तिरूप व्यवहार-मोक्षमार्ग को ही मानते हैं, वे स्वर्गादि के क्लेशों को भोगते हुए संसार में ही भटकते रहते हैं। किन्तु, यदि शुद्धात्मानुभूतिरूप निश्चयमोक्षमार्ग को स्वीकार करते हैं, पर उसके अनुष्ठान की शक्ति न होने पर उसका साधक मानते हुए शुभ का अनुष्ठान करते हैं, तो सरागसम्यग्दृष्टि होकर परम्परया मोक्ष पाते हैं। तथा जो केवल निश्चयमोक्षमार्ग को मानते हैं, किन्तु रागादिविकल्परहित परमसमाधि- रूप शुद्धात्मा को प्राप्त न कर पाने पर भी मुनियो के योग्य षड् आवश्यकादि को तथा श्रावको के योग्य दानपूजादि के अनुष्ठान को हेय समझते हैं, वे उभयभ्रष्ट होकर केवल पाप का बन्ध करते हैं। किन्तु यदि शुद्धात्मानुभूतिरूप निश्चयमोक्षमार्ग को तथा उसके साधकरूप से व्यवहारमोक्षमार्ग को मानते हैं, तो चारित्रमोह के उदय से शक्ति का अभाव होने पर शुभाशुभ प्रवृत्ति करते हुए भी सरागसम्यग्दृष्टिरूप व्यवहारसम्यग्दृष्टि होते हैं और परम्परया मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सिद्ध है कि परस्पर साध्य-साधकभाव से निश्चय और व्यवहार दोनो का अवलम्बन करने पर जो रागादिविकल्परहित परमसमाधि सम्भव होती है, उसी से मोक्ष प्राप्त होता है।"[1]

इन समस्त आर्षवचनो एव युक्तियो से निश्चय और व्यवहार नयो की परस्पर सापेक्षता प्रमाणित होती है।

सापेक्षताविरोधी मत का निराकरण

किन्तु आधुनिक विद्वानो का एक वर्ग निश्चय और व्यवहार नयो में परस्पर सापेक्षता स्वीकार नही करता। उसका मत है कि निश्चयनय सद्भूतव्यवहारनय के विषय को तो स्वीकार करता है[2], किन्तु असद्भूतव्यवहारनय के विषय का निषेध करता है, क्योंकि उसका विषय वस्तुधर्म न होकर उपचारकथन मात्र है। उक्त विद्वद्वर्ग लिखता है —

"अब रहा असद्भूतव्यवहारनय सो उसका विषय मात्र उपचार है जो पर को अवलम्बन कर होता है, इसलिये उसकी अपेक्षा उक्त दोनो नयो मे सापेक्षता किसी भी अवस्था मे नही बन सकती। ... समयसार, गाथा ८४ मे पहले आत्मा को व्यवहारनय से पुद्गल कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता बतलाया गया है, किन्तु यह

१. "अथैव पूर्वोक्तप्रकारेणास्य प्राभृतस्य शास्त्रस्य वीतरागत्वमेव तात्पर्यं ज्ञातव्य, तच्च वीतरागत्वं निश्चयव्यवहारनयाभ्या साध्यसाधकरूपेण परस्परसापेक्षाभ्यामेव भवति मुक्ति-सिद्धये न च पुनर्निरपेक्षाभ्यामिति वार्तिकम्। ... तत· स्थितमेतन्निश्चयव्यवहारपरस्पर-साध्यसाधकभावेन रागादिविकल्परहितपरमसमाधिबलेनैव मोक्ष लभते।"

पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १७२

२. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ४३६

व्यवहार असद्भूत है, क्योंकि अज्ञानियो का अनादि संसार से ऐसा प्रसिद्ध व्यवहार है। इसलिये गाथा ८५ मे दूषण देते हुए निश्चयनय का अवलम्बन लेकर उसका निषेध किया गया है।[१]

तात्पर्य यह कि कथित विद्वद्वर्ग असद्भूतव्यवहारनय को अज्ञानियो के अनादिरूढ़ व्यवहार का पर्यायवाची मानता है, जो वस्तु के वास्तविक धर्म का प्रतिपादन नही करता, अपितु अन्य वस्तु के धर्म को अन्य वस्तु का कहता है। जिस नय का अपना कोई वास्तविक विषय नही है, उसके साथ निश्चयनय की सापेक्षता कैसे हो सकती है ?

विद्वद्वर्ग का यह मत अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है। इसके निम्नलिखित कारण हैं —

(१) असद्भूतव्यवहारनय को अज्ञानियो के व्यवहार का पर्यायवाची मानने से उसका नयत्व समाप्त हो जाता है, जिससे जिनेन्द्रदेव का उसे नय सज्ञा देकर श्रुतज्ञानरूप प्रमाण का अवयव बतलाने का वचन मिथ्या सिद्ध होता है। तथा असद्भूत व्यवहारनय के मिथ्या सिद्ध होने से बन्ध और मोक्ष के भी असत्य होने का प्रसग आता है। इस स्थिति मे नयान्तरसापेक्ष न रहने से निश्चयनय आत्मा को सर्वथा शुद्ध प्रतिपादित करने वाला मिथ्यानय ठहरता है।

(२) 'उपचार' असद्भूतव्यवहारनय का विषय नही है, स्वय असद्भूत-व्यवहारनय है। वह वस्तुधर्म के प्रतिपादन की लक्षणात्मक एव व्यजनात्मक शैली है। अन्य वस्तु के धर्म द्वारा वह प्रस्तुत वस्तु के ही धर्म को प्रतिपादित करता है, यह व्यवहारनय के प्रकरण मे सिद्ध किया जा चुका है।

(३) असद्भूतव्यवहारनय का विषय वस्तु का स्वधर्म ही है, जैसे भावपर्याय मूलक असद्भूतव्यवहारनय के विषय आत्मा के कर्मोपाधिनिमित्तक शुद्ध-अशुद्ध भाव हैं। सश्लेषादि बाह्य सम्बन्ध बाह्यसम्बन्धमूलक असद्भूतव्यवहारनय के विषय हैं तथा शरीर और जीव का विलक्षण अभेद, स्वय को पुद्गलकर्मो से आबद्ध करने मे जीव का स्वातन्त्र्य अथवा पुद्गलद्रव्य के कर्मरूप से परिणमित होने मे जीव का प्रेरकत्व आदि उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय के विषय हैं। इन समस्त विषयो का निरूपण व्यवहारनय के प्रकरण मे किया जा चुका है। इस प्रकार चूँकि असद्भूत-व्यवहारनय का विषय वस्तु का स्वधर्म ही है, इसलिये निश्चयनय की उससे सापेक्षता है।

(४) निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय के निषिद्ध होने का अभिप्राय सर्वथा

---

१ जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा, २/४३६-४३७

निषिद्ध होना नही है, अपितु व्यवहारनय के विषय का निश्चयनय के विषयरूप मे निषिद्ध होना है, व्यवहारनय के विषयरूप में तो निश्चयनय उसे स्वीकार करता ही है। सर्वथा निषिद्ध होने पर निश्चयैकान्त का प्रसंग आएगा, जिससे निश्चयनय भी मिथ्या हो जाएगा। व्यवहारनय का निषेध भी अज्ञानियो का अनादिरूढ व्यवहार होने के कारण नही, बल्कि उसके समान पराश्रित होने के कारण किया गया है।[१]

इन कारणो से सिद्ध है कि निश्चयनय असद्भूतव्यवहारनय-सापेक्ष है।

उक्त विद्वान, स्वय अन्यत्र लिखते हैं — "प्रत्येक नय सापेक्ष होता है इसका तो हमने कही निषेध किया ही नहीं।"[२] और वे यह भी मानते हैं कि सापेक्षत्व का अर्थ 'उपेक्षा' (स्वीकार करते हुए भी प्रतिपादन न करना) है।[३]

अब उक्त विद्वानो के कथन मे कितना विरोध है, यह देखने योग्य है। पूर्व मे वे कहते हैं – निश्चयनय और असद्भूतव्यवहारनय मे सापेक्षता किसी भी अवस्था मे नही बन सकती। यहाँ कहते है – प्रत्येक नय सापेक्ष होता है, इसका तो हमने कही निषेध किया ही नहीं।

अस्तु। उपर्युक्त कथन से उक्त विद्वान् स्वय स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक नय नयान्तर सापेक्ष होता है, सापेक्षता से ही प्रत्येक नय सम्यक् होता है, निरपेक्ष नय मिथ्या है और सापेक्षता का अर्थ प्रतिपक्षी नय के विषय का निषेध न कर उसके प्रति उपेक्षाभाव (गौणभाव) रखना मात्र है। इस प्रकार उनके ही वचनो से सिद्ध हो जाता है कि निश्चयनय असद्भूतव्यवहारनय के विषय का निषेध नही करता, अपितु उसके प्रति उपेक्षा मात्र (न आदान, न निराकृति) रखता है, इसलिए वह असद्भूतव्यवहारनय-सापेक्ष है।

●

---

१ "· व्यवहारनय एव किल प्रतिषिद्ध· तस्यापि पराश्रितत्वाविशेषात्।"
समयसार/आत्मख्याति/गाथा २७२

२ जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २, पृ० ८०२-८०३

३ वही २/८०२, "निरपेक्षत्व प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृति:, सापेक्षत्वमुपेक्षा।"
आप्तमीमांसाभाष्य/कारिका १०८

अष्टम अध्याय

निश्चय-व्यवहारमोक्षमार्गों में साध्यसाधकभाव

पूर्व अध्याय मे प्रसगवश निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग के साध्यसाधकभाव-सम्बन्ध का निर्देश किया गया है। प्रस्तुत अध्याय मे उसकी विस्तार से मीमांसा की जा रही है। आचार्य अमृतचन्द्र 'तत्त्वार्थसार' मे लिखते हैं —

निश्चयव्यवहाराभ्या मोक्षमार्गो द्विधा स्थित ।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ।।[१]

— मोक्षमार्ग के दो पक्ष हैं : निश्चय और व्यवहार। इनमे निश्चयमोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहारमोक्षमार्ग उसका साधक।

इस कारिका मे आचार्यश्री ने निश्चयमोक्षमार्ग को साध्य बतलाया है। साध्य का अर्थ है 'साधयितु योग्यः' — जो सिद्ध करने योग्य हो। अभिप्राय यह है कि समस्त शुभाशुभ परिणामों के अभाव मे आत्मा की जो शुद्धोपयोगरूप अवस्था होती है वह निश्चयमोक्षमार्ग कहलाती है।[२] यह अवस्था सम्यक्त्वपूर्वक अहिसादि महाव्रतो, अनशनादि तपो तथा उत्तमक्षमादि धर्मो मे परिनिष्ठित होने पर अर्थात् षष्ठ गुणस्थान मे पहुँचने के बाद ही प्राप्त हो पाती है, जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

सुविदिदपयत्थसुत्तो सजम तव सजुदो विगदरागो ।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ।।[३]

— जीवादि तत्त्वो के स्वरूप का सम्यग्ज्ञाता, सयम और तप से सयुत, विगतराग तथा सुख-दुःख मे समरूप श्रमण शुद्धोपयोगी होता है।

'श्रमण' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि मुनि-अवस्था मे पहुँचे हुए साधक को ही शुद्धोपयोग सम्भव है। श्री नेमिचन्द्राचार्य का भी कथन है —

तवसुदवदव चेदा झाणरहधुरधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होइ ।।[४]

---

१ तत्त्वार्थसार/उपसंहार/श्लोक २

२. "योऽसौ समस्तशुभाशुभसङ्कल्पविकल्परहितो जीवस्य शुद्धभाव· स एव निश्चयरत्नत्रयात्मको मोक्षमार्ग.।" परमात्मप्रकाश टीका २/६९

३. प्रवचनसार, १/१४

४. बृहद्द्रव्यसंग्रह/गाथा ५७

— जो आत्मा तप, श्रुत और व्रत का धारक होता है वही ध्यानरूपी रथ (शुद्धोपयोग) की धुरा को धारण कर सकता है। इसलिए, हे भव्यो ! ध्यान की प्राप्ति के लिये तुम्हे निरन्तर तप, श्रुत और व्रत इन तीनो में तत्पर रहना चाहिये।

निम्नलिखित श्लोक मे ध्यान अर्थात् शुद्धोपयोग के पाँच हेतु बतलाए गए है —

वैराग्य तत्त्वविज्ञान नैर्ग्रन्थ्य समचित्तता ।
परीषहजयश्चेति पञ्चैते ध्यानहेतव: ।।[१]

— वैराग्य, तत्त्वज्ञान, बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग, साम्यभाव तथा परीषहजय ये पाँच ध्यान के हेतु हैं।

आचार्य जयसेन ने बतलाया है कि शुद्धोपयोग का आरम्भ अप्रमत्त (सप्तम) गुणस्थान से होता है और क्षीणकषाय (बारहवे) गुणस्थान तक क्रमश: बढ़ता जाता है — "तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोग.।"[२]

इसके नीचे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय इनमे से कुछ का या सभी का अस्तित्व रहने के कारण शुद्धोपयोग सम्भव नही होता।[३] इन सबको अशुभोपयोग कहा गया है।[४] इसलिये शुद्धोपयोग को सम्भव बनाने के लिये इन चारो प्रत्ययो का अभाव करना आवश्यक है, जो मिथ्यात्व एव अनन्तानुबन्धी आदि कषायो के उपशम, क्षयोपशम या क्षय से होता है। इसका उपाय है श्रावकधर्म और मुनिधर्म के रूप मे सम्यग्दर्शनपूर्वक शुभपरिणाम का अभ्यास करना। किन्तु, सम्यग्दर्शन स्वय एक दुर्लभ वस्तु हैं। केवल इसे पाने के लिये जन्म-जन्मान्तर तक साधना करनी पड़ सकती है। यह मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के उपशमादि से प्रकट होता है। इसका उपाय है मोक्ष को लक्ष्य बनाकर तत्त्वज्ञान का अभ्यास करते हुए शुभ परिणाम मे प्रवृत्त होना।[५]

---

१ बृहद्द्रव्यसग्रह/गाथा ५७/ब्रह्मदेवटीका मे उद्धृत

२ प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति १/९

३ "स्वशुद्धात्मसवित्तिविनाशकेषु संसारवृद्धिकारणेषु मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगेषु।"
बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा ३५

४ "मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगपञ्चप्रत्ययरूपाशुभोपयोगेनाशुभ:।"
प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति १/९

५. "प्रथमसम्यक्त्व गृहीतुमारभमाण: शुभपरिणामाभिमुख: ··· वर्धमानशुभपरिणामप्रतापेन सर्वकर्मप्रकृतीना स्थिति ह्रासयन्।" तत्त्वार्थवार्तिक ९/१

इस प्रकार निश्चयमोक्षमार्ग के अवलम्बन-योग्य अवस्था एक कठिन साधना से प्राप्त होती है, इसलिये निश्चयमोक्षमार्ग साध्य है और सम्यक्त्वपूर्वक अथवा सम्यक्त्वसाधक शुभोपयोगरूप व्यवहारमोक्षमार्ग उसका साधक।

व्यवहारमोक्षमार्ग की वैज्ञानिक भूमि

निश्चयमोक्षमार्ग की सिद्धि मे व्यवहारमोक्षमार्ग का प्रबल वैज्ञानिक आधार है, जिस पर यहाँ प्रकाश डाला जा रहा है।

प्राथमिक भूमिका में केवल पाप से निवृत्ति सम्भव

पाप और पुण्य दोनो से निवृत्ति का नाम मोक्षमार्ग है।[1] आरम्भ मे पाप और पुण्य दोनो से निवृत्ति सम्भव नही है, क्योंकि इसके लिये मनवचनकाय की प्रवृत्ति का सर्वथा निरोध आवश्यक है और जब तक अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्याना-वरण एव प्रत्याख्यानावरण कषायो का उदय तथा संज्वलन कषाय का तीव्रोदय रहता है तब तक चित्त मे इतनी चचलता रहती है कि मनवचनकाय की प्रवृत्ति का सर्वथा निरोध नही हो सकता। केवल अनन्तानुबन्धी आदि का मन्दोदय होने पर चित्तवृत्ति को पुण्यप्रवृत्ति मे लगाकर पापप्रवृत्ति का किसी सीमा तक निरोध हो सकता है। इसीलिए असंयतसम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान से पूर्व अशुभोपयोग ज्यादा और शुभोपयोग कम होता है। असयतसम्यग्दृष्टि से लेकर प्रमत्तसयत (षष्ठ) गुणस्थान तक अशुभोपयोग क्रमश· अल्प तथा शुभोपयोग अधिक होता है। उससे ऊपर क्षीणकषाय नामक बारहवे गुणस्थान तक केवल शुद्धोपयोग उत्तरोत्तर अधिक मात्रा मे होता है।[2] इस प्रकार छठवे गुणस्थान तक केवल पाप क्रिया की ही निवृत्ति सम्भव है, पुण्य क्रिया की नही। इसके बाद जब सज्वलन का मन्दोदय होता है तब पाप और पुण्य दोनो प्रकार की प्रवृत्तियो का निरोध सम्भव होता है।

पुण्यनिवृत्तियोग्य अवस्था की प्राप्ति

इस प्रकार आरम्भ मे केवल पाप से ही निवृत्ति सम्भव है, किन्तु इस एकदेशनिवृत्ति (मन्दकषायरूप विशुद्धपरिणाम) मे इतनी शक्ति होती है कि उससे मिथ्यात्व एव अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण कषायो का उपशम या क्षयोपशम हो जाता है जिससे आत्मा षष्ठ गुणस्थान नामक उस अवस्था

---

१. "तच्चारित्त भणिय परिहारो पुण्णपावाण।" मोक्खपाहुड/गाथा ३७

२. "मिथ्यात्वसासादानमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोग., तदनन्तरमसयतसम्यग्-दृष्टि-देशविरत-प्रमत्तसयतगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोग:, तदनन्तरमप्रमत्तादि-क्षीणकषायान्तगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोग , तदनन्तर सयोग्ययोगिजिनगुण-स्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति।" प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति १/९

मे पहुँच जाता है, जहाँ सज्वलन का मन्दोदय होने पर मनवचनकाय की पुण्यप्रवृत्ति का भी निरोध सम्भव होता है।

एकदेशनिवृत्ति विशुद्धपरिणामपूर्वक

आत्मा के तीन परिणाम होते हैं — सक्लेश, विशुद्ध और शुद्ध। तीव्र-कषायपरिणाम संक्लेश, मन्दकषायपरिणाम विशुद्ध तथा कषायरहित परिणाम शुद्ध कहलाते हैं।[1] इन परिणामो मे पुद्गल कर्मों के आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा, सक्रमण आदि की शक्ति होती है।

सक्लेश परिणामो से अनेक अनर्थ होते है। नवीन अशुभ कर्मों मे उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग का बन्ध होता है, पूर्वबद्ध शुभाशुभ (देव-मनुष्य-तिर्यञ्चायु को छोड़कर) कर्मों की स्थिति बढ़ जाती है, अशुभ कर्मो के अनुभाग मे वृद्धि हो जाती है और शुभकर्मों का अनुभाग घट जाता है। पूर्वबद्ध शुभकर्म अशुभकर्म मे बदल जाते है।

विशुद्ध परिणामो से अनेक हितकर घटनाएँ घटती हैं। अघाती (आत्म-स्वभाव को तिरोहित एव विकृत न करने वाले) अशुभ कर्मों का सवर होता है तथा घाती (आत्मस्वभाव को तिरोहित एव विकृत करने वाले) एव अघाती अशुभ कर्मो की निर्जरा होती है। पूर्वबद्ध घाती और अघाती अशुभ कर्मों की स्थिति और अनुभाग हीन हो जाते है, पूर्वबद्ध शुभ कर्म के अनुभाग मे वृद्धि हो जाती है तथा अशुभ कर्म शुभ कर्म मे सक्रमित हो जाते है। नये शुभ कर्मो का अल्पस्थिति और तीव्र अनुभागसहित बन्ध होता है। घाती कर्मो का बन्ध अल्पस्थिति और अल्प अनुभागसहित होता है।[2] इस प्रकार विशुद्ध परिणामो से ससारस्थिति क्षीण होती है तथा आगे के लिए विशुद्ध परिणामो की स्थिति निर्मित होती है।

शुद्ध परिणामो से शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के कर्मो का सवर और निर्जरा होती है, किन्तु जब तक समस्त कषायो का उपशम या क्षय नही हो जाता, तब तक शुद्धोपयोग की अवस्था मे भी अबुद्धिपूर्वक रागादिभावो का उदय रहने

१ (क) 'अइतिव्वकसायाभावो मदकसाओ विसुद्धदा त्ति घेतव्वा।' धवला, ११/४,२,६
(ख) 'असादाबधजोग्गपरिणामो सकिलेसो णाम।'
का विसोही ? सादाबधजोग्गपरिणामो।' धवला ६/१,९-७,२
(ग) 'को सकिलसो णाम ? कोहमाणमायालोहपरिणामविसेसो।'
कसायपाहुड/जयधवला/पुस्तक ४/भाग ३-२२/प्रकरण ३०/पृ० १५
(घ) क्रोधमानमायालोभाना तीव्रोदये चित्तस्य क्षोभ· कालुष्यम्।
तेषामेव मन्दोदये तस्य प्रसादोऽकालुष्यम्। पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा १३८

२ तत्त्वार्थराजवार्तिक, ६/३ तथा गोम्मटसार-कर्मकाण्ड, गाथा १३४, १६३-१६४

से कुछ कर्मों का अल्पस्थिति एवं अल्पानुभागसहित बन्ध होता है।

पापक्रिया से विरत होना एकदेशनिवृत्ति है, वह मन्द कषाय की अवस्था मे ही होती है, अत उसमे विशुद्धपरिणाम अन्तर्निहित होता है। व्रत, पूजा, भक्ति, बाह्यतप, स्वाध्याय आदि व्यवहारचारित्र पुण्यक्रिया है। यह (व्यवहारचारित्र) शुभोपयोग कहलाता है। यह भी मन्दकषाय की अवस्था मे ही होता है। अत: यह भी विशुद्ध परिणामरूप है, जैसा कि पडित टोडरमल जी ने कहा है — "अरहन्तादि के प्रति जो स्तवनादिरूप भाव होते है, वे कषायो की मन्दतासहित ही होते हैं, इसलिए वे विशुद्ध परिणाम है।"[१] शुभोपयोग के समय अशुभोपयोग (पापप्रवृत्ति) का अभाव होता है, अत उसमे प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो के अश रहते हैं। ब्रह्मदेव सूरि ने प्रवृत्त्यश की अपेक्षा महाव्रतो को एकदेशव्रत कहा है, क्योंकि उनमे कर्मबन्ध की हेतुभूत मनवचनकाय की क्रिया पूर्णरूप से निवृत्त नही होती। वे कहते हैं —

"जीवघातनिवृत्तौ सत्यामपि जीवरक्षणे प्रवृत्तिरस्ति। तथैवासत्यवचनपरिहारेऽपि सत्यवचनप्रवृत्तिरस्ति। तथैव चादत्तादानपरिहारेऽपि दत्तादाने प्रवृत्तिरस्तीत्याद्येकदेशप्रवृत्त्यपेक्षया देशव्रतानि।"[२]

व्रतादि शुभोपयोगरूप व्यवहारचारित्र मे जो पापक्रियानिवृत्तिरूप निवृत्त्यश है वह एकदेशकषायाभावरूप होने से एकदेशशुद्धभाव है। विशुद्धपरिणाम भी मन्दकषायात्मक होने से एकदेशकषायाभाव की अपेक्षा एकदेशशुद्धभाव है। अत शुभोपयोग के अन्तर्गत जो एकदेशनिवृत्ति के रूप मे अथवा विशुद्धपरिणाम के रूप मे एकदेशशुद्धभाव है उससे पापकर्मो का सवर और निर्जरा होती है तथा जो एकदेश प्रवृत्ति के रूप मे शुभराग है उससे पुण्यकर्मों का आस्रव और बन्ध होता है। इसीलिए आचार्य उमास्वामी ने अहिसादि व्रतो को एकदेशप्रवृत्ति की अपेक्षा आस्रव के कारणो मे तथा एकदेशनिवृत्ति की दृष्टि से दशधर्मो के अन्तर्गत सयम और ब्रह्मचर्य के नाम से सवर के कारणो मे वर्णित किया है।[३] उन्होने अनशनादि बाह्यतपो को भी, जो शुभप्रवृत्तिरूप है, सवर और निर्जरा का हेतु बतलाया है। श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने भी व्रतादि को सवर के हेतुओ मे परिगणित किया है[४] और श्री ब्रह्मदेवसूरि ने व्यवहाररत्नत्रयरूप शुभोपयोग को पापास्रव के सवर का हेतु तथा शुद्धोपयोगरूप

---

१ मोक्षमार्गप्रकाशक/प्रथम अधिकार/पृ० ७

२ बृहद्द्रव्यसग्रह/टीका/गाथा ५७, पृ० २०८-२०९

३ सर्वार्थसिद्धि ७/१

४ वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओ य ।
चारित्त बहुभेया णायव्वा भावसवरविसेसा ।। बृहद्द्रव्यसग्रह/गाथा ३५

निश्चयरत्नत्रय को पुण्यपाप दोनो के सवर का कारण कहा है।[1] मोक्खपाहुड के हिन्दी टीकाकार पंडित जयचन्द जी लिखते है —

"चारित्र निश्चय-व्यवहारकरि दो भेदरूप है। तहाँ महाव्रत, समिति, गुप्ति के भेद करि कह्या है सो तो व्यवहार है। तिनि मे प्रवृत्तिरूप क्रिया है सो शुभबन्ध करै है और इन क्रियानि मे जेता अश निवृत्ति का है ताका फल बन्ध नाही है। ताका फल कर्म की एकदेश निर्जरा है और सब कर्म तै रहित अपना आत्म-स्वरूप में लीन होना सो निश्चयचारित्र है, ताका फल कर्म का नाश ही है।"[2]

पंडित बनारसीदास जी का कथन है — "जीवद्रव्य मे कषाय की मन्दता होती है, उससे निर्जरा होती है। उसी मन्दता के प्रमाण मे शुद्धता जानना।"[3]

तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व और कषायो का क्षयोपशम होने पर आत्म-स्वभाव (वीतरागभाव) की अशत: अभिव्यक्ति होती है, वही एकदेशशुद्धभाव है। अत: सम्यग्दृष्टि जीव के अशुभनिवृत्ति और शुभप्रवृत्तिरूप व्यवहारमोक्षमार्ग मे एकदेशशुद्धभाव होता है, उससे वह यथासम्भव कर्मो का सवर और निर्जरा करता हुआ अप्रत्याख्यानावरणादि कषायो के क्षयोपशम द्वारा षष्ठ गुणस्थान तक पहुँच जाता है, जहाँ शुद्धोपयोगरूप निश्चयमोक्षमार्ग को पकड़ना सम्भव होता है।

लक्ष्य की भिन्नता से शुभोपयोग के फल में भिन्नता

यद्यपि अनेक जीव ऐसे हैं जो महाव्रतादिरूप शुभोपयोग का अवलम्बन करते है, किन्तु मिथ्यादृष्टि होने के कारण मोक्षमार्ग मे एक कदम भी नही रख पाते। इससे यह शका हो सकती है कि व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग तक ले जाने मे समर्थ नही है। किन्तु यह दोष व्यवहारमोक्षमार्ग या शुभोपयोग का नही है, उसके पीछे जो लक्ष्य होता है उसका है। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है —

"जैसे एक ही प्रकार के बीज भिन्न-भिन्न भूमियो मे बोये जाने पर भिन्न-भिन्न रूप मे फलित होते हैं वैसे ही एक ही शुभोपयोग अलग-अलग पात्रो के ससर्ग से अलग-अलग फल देता है।"[4]

इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन कहते हैं — "जब सम्यक्त्वपूर्वक

---

१. "तत्र निश्चयरत्नत्रयसाधकव्यवहाररत्नत्रयरूपस्य शुभोपयोगस्य प्रतिपादकानि यानि वाक्यानि तानि पापास्रवसवरकारणनि ज्ञातव्यानि।"

— बृहद्द्रव्यसग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा ३५

२ मोक्खपाहुड/टीका/गाथा ४२ (जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश २/२९३)

३. उपादाननिमित्त की चिट्ठी। मोक्षमार्गप्रकाशक/परिशिष्ट, पृ० १९

४ रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीद ।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ।। प्रवचनसार ३/५५

शुभोपयोग होता है तब प्रत्यक्षरूप से तो पुण्यबन्ध होता है और परम्परया मोक्ष की प्राप्ति होती है। यदि शुभोपयोग सम्यक्त्वपूर्वक नही होता तो मात्र पुण्यबन्ध ही होता है।''[१]

इससे यह तथ्य सामने आता है कि यदि कोई मिथ्यादृष्टि जीव सासारिक सुखो की लालसा से शुभोपयोग मे प्रवृत्त होता है, तो उसे केवल पुण्यबन्ध होता है, सम्यग्दर्शन तथा मोक्ष की प्राप्ति नही होती। किन्तु यदि कोई मोक्ष के लक्ष्य से शुभोपयोग का आश्रय लेता है तो उसे सम्यग्दर्शन और परम्परया मोक्ष दोनो की उपलब्धि होती है।

मोक्षोन्मुख शुभोपयोग से मिथ्यात्व का उपशम

शुभोपयोग विशुद्धपरिणाममय (मन्दकषायात्मक) होता है और जब वह सासारिक सुखो की लालसा से प्रेरित न होकर मोक्ष की आकाक्षा से सम्पृक्त होता है, तब वैराग्यभाव के कारण उसकी विशुद्धता बढ जाती है, जिससे मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का उपशम, क्षयोपशम या क्षय होता है तथा सम्यक्त्व की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार की विशुद्धता को करणपरिणाम कहते है और इसकी प्राप्ति को 'लब्धि'।[२] करणलब्धि मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के उपशमादि का प्रमुख एव अव्यभिचारी कारण है। उसकी प्राप्ति शुभ परिणामो के प्रताप से होती है। इसमे भट्ट अकलकदेव के निम्न वचन प्रमाण है —

''जो प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करने की साधना आरम्भ करता है वह शुभ परिणामो के अभिमुख होता है, जिनसे उसकी विशुद्धि अन्तर्मुहूर्त मे अनन्तगुनी बढ़ती जाती है। वह चार मनोयोगो मे से किसी एक मनोयोग से, चार वचनयोगो मे से किसी एक वचनयोग से तथा औदारिक और वैक्रियिक इन दो काययोगो मे से किसी एक काययोग से युक्त होता है। उसके जिस कषाय का उदय होता है वह निरन्तर हीन होती जाती है। वह साकारोपयोग-वाला होता है तथा तीन वेदो मे से किसी एक वेद से युक्त होने पर भी सक्लेशरहित होता है और बढते हुए शुभ परिणामो के प्रताप से सभी (आयु को छोड़कर) कर्मप्रकृतियो की स्थिति का ह्रास करते हुए, अशुभकर्म-प्रकृतियो के अनुभागबन्ध को घटाते हुए तथा शुभकर्म-प्रकृतियो के अनुभाग को बढ़ाते हुए तीन करण करना प्रारम्भ करता है।''[३]

---

१ ''यदा सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति परम्परया निर्वाण च। नोचेत् पुण्यबन्धमात्रमेव।'' प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ३/५५

२ ''दर्शनमोहोपशनादिकरणविशुद्धपरिणाम करण इत्युच्यते। तल्लाभ: करणलब्धि ।''
कर्मप्रकृति/अभयचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती/सूत्र २०४

३ ''प्रथमसम्यक्त्व गृहीतुमारभमाण शुभपरिणामाभिमुख अन्तर्मुहूर्तमनन्तगुणवृद्ध्या

आचार्य पूज्यपादस्वामी ने कहा है कि दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व इन तीन प्रकृतियो मे से मिथ्यात्व प्रकृति की फलदान-शक्ति को जब शुभपरिणामो के द्वारा रोक दिया जाता है तब वही सम्यक्त्व प्रकृति कहलाने लगती है।[1]

इन आचार्यवचनो से सिद्ध है कि मोक्षोन्मुख शुभोपयोग मे मिथ्यात्व का उपशम आदि करने की शक्ति है। सम्यक्त्व की प्राप्ति उसी के प्रताप से होती है। मिथ्यात्व की अवस्था मे शुद्धपरिणाम (शुद्धोपयोग) तो सम्भव ही नही है।

सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग से अप्रत्याख्यानावरणादि का क्षयोपशम

मोक्षोन्मुख शुभोपयोग से मिथ्यात्व एव अनन्तानुबन्धी का उपशम होता है और जीव सम्यग्दृष्टि बन जाता है। सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग मे और अधिक विशुद्धता होती है। उससे अप्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम होता है और जीव अणुव्रतादि श्रावकधर्म धारण करने योग्य अवस्था मे पहुँच जाता है, जिसे पंचम गुणस्थान कहते है। सम्यक्त्वमय अणुव्रतादिरूप चारित्र तथा देवपूजादिरूप शुभोपयोग मे विशुद्धता की मात्रा और अधिक हो जाती है जिसके बल पर जीव प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम कर महाव्रतादिरूप मुनिधर्म ग्रहण करने योग्य भूमिका प्राप्त कर लेता है, जो षष्ठ गुणस्थान कहलाती है। इस भूमिका मे आने के बाद जब सज्वलन कषाय का उदय मन्द होता है तब जघन्य (न्यूनतम) शुद्धोपयोग सम्भव होता है, जो निश्चयत मोक्षमार्ग है। इस तथ्य की पुष्टि आचार्य जयसेन के निम्न वचनो से होती है —

"भेदरत्नत्रयात्मक व्यवहारमोक्षमार्ग को प्राप्त साधक जब गुणस्थानो के सोपानक्रम से (क्रमशः उच्चतर गुणस्थान मे पहुँचता हुआ) आत्माश्रित निश्चय-दर्शनज्ञानचारित्र मे परिणत होता है तब भिन्न साध्यसाधन का अभाव होने से निश्चयनय से स्वय ही मोक्षमार्ग होता है।"[2]

इन वचनो से स्पष्ट हो जाता है कि सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग से अप्रत्या-

---

वर्धमानविशुद्धि., चतुर्षु मनोयोगेषु अन्यतमेन मनोयोगेन, चतुर्षु वाग्योगेषु अन्यतमेन वाग्योगेन औदारिकवैक्रियिककाययोगयोरन्यतरेण काययोगेन वा समाविष्ट हीयमाना-न्यतमकषाय: सकारोपयोग·, त्रिषु वेदेष्वन्यतमेन वेदेन सक्लेशविरहित: वर्धमानशुभ-परिणामप्रतापेन सर्वकर्मप्रकृतीना स्थिति ह्रासयन् अशुभप्रकृतीनामनुभागबन्धमपसारयन् शुभप्रकृतीना रसमुद्वर्तयन् त्रीणि करणानि कर्तुमुपक्रमते।" तत्त्वार्थवार्तिक ९/१

१ "तदेव सम्यक्त्व शुभपरिणामनिरुद्धस्वरस यदौदासीन्येनावस्थितमात्मन· श्रद्धान न निरुणद्धि तद्वेद्यमान· पुरुष: सम्यग्दृष्टिरित्यभिधीयते।" सर्वार्थसिद्धि ८/९

२ "भेदरत्नत्रयात्मक व्यवहारमोक्षमार्गमनुप्रपन्नो गुणस्थानसोपानक्रमेण स्वशुद्धात्मा-

ख्यानावरण एवं देशचारित्रसहित शुभोपयोग से प्रत्याख्यानावरण कषायो का क्षयोपशम होता है जिससे जीव षष्ठ गुणस्थान नामक उस स्तर पर पहुँचता है जहाँ शुद्धोपयोगरूप निश्चयमोक्षमार्ग ग्रहण करना सम्भव होता है।[1]

उपादान नहीं, निमित्तमात्र

इस प्रकार यद्यपि शुभोपयोग-परिणत आत्मा शुद्धोपयोग का उपादान नही है, क्योंकि शुभोपयोग परिणत आत्मा से शुद्धोपयोग की उत्पत्ति नहीं हो सकती, जब आत्मा शुभोपयोग को छोड़कर शुद्धोपयोग का प्रयत्न करता है तब शुद्धोपयोग का उपादान होता है, तथापि शुभोपयोग शुद्धोपयोग की क्षमता का जनक है। क्योंकि सम्यक्त्वसाधक तथा सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग मे जो आंशिक शुद्धता है उसके ही निमित्त से अनन्तानुबन्धी आदि कषायो का उपशम-क्षयोपशम होने पर जीव शुद्धोपयोग के योग्य गुणस्थान मे पहुँचता है तथा वही शुद्धता क्रमशः विकसित होती हुई यथाख्यातचारित्ररूप पूर्ण शुद्धता मे परिणत होती है, जैसा कि पडित बनारसीदास जी ने कहा है —

"विशुद्धता मे शुद्धता है, वही यथाख्यातरूप होती है।"[2]

तथा पडित टोडरमल जी का कथन है —

"अरहन्तादि के प्रति जो स्तवनादिरूप भाव होते है, वे कषायो की मन्दता-सहित ही होते हैं, इसलिए वे विशुद्ध परिणाम हैं। पुनश्च समस्त कषाय मिटाने के साधन हैं, इसलिए शुद्धपरिणाम के कारण हैं। सो ऐसे परिणामो से अपने घातक घातिकर्म की हीनता होने से सहज ही वीतरागविशेष ज्ञान प्रकट होता है।"[3]

प्राप्तभूमिका को निर्दोष रखने में सहायक

सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग जीव को षष्ठ गुणस्थान तक पहुँचा देता है। वह अशुभोपयोग का निरोधकर प्राप्त भूमिका को दूषित होने से भी बचाता है। शुद्धोपयोग मे समर्थ हो जाने पर भी साधक विशिष्ट सहनन आदि शक्ति के अभाव में शुद्धोपयोग मे निरन्तर स्थित नही रह सकता। कुछ समय बाद उससे च्युत हो जाता है। इस दशा मे उसका राग विषयकषायरूप अशुभ विषयो में जा सकता है। अत· अप्रशस्त विषयो मे जाने से रोकने के लिए उसे पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति तथा

श्रितनिश्चयदर्शनज्ञानचारित्रैरभेदेन परिणतो यदा भवति तदा निश्चयनयेन भिन्नसाध्य-साधनस्याभावादयमात्मैव मोक्षमार्ग इति।।" पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १६१

१. "ततोऽप्यसयतसम्यग्दृष्टि-श्रावक-प्रमत्तसयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोगसाधक उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोगो वर्तते।" बृहद्द्रव्यसग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा ३४

२ उपादान-निमित्त की चिट्ठी/मोक्षमार्गप्रकाशक/परिशिष्ट, पृ० १९

३ मोक्षमार्गप्रकाशक/पहला अधिकार/पृ० ७

व्यवहारचारित्र आदि प्रशस्त विषयो मे लगाता है। इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए आचार्य जयसेन कहते हैं —

"जब विशिष्ट सहनन आदि शक्ति के अभाव मे जीव निज शुद्धात्मस्वरूप मे निरन्तर स्थित नही रह पाता तब वह क्या करता है ? कभी शुद्धात्मभावना की सिद्धि मे सहायक जीवादि पदार्थों के प्रतिपादक आगम मे रुचि लेता है। कभी जैसे कोई राम आदि पुरुष दूरदेशस्थित अपनी सीता आदि पत्नी के समीप से आये पुरुषो का पत्नी से प्रेम होने के कारण सन्मान आदि करता है, वैसे ही वह मोक्षलक्ष्मी को वश मे करने के लिए तीर्थङ्कर परमदेव तथा गणधरदेव, भरत, सगर, राम, पाडव आदि महापुरुषो के चरितपुराणादि को अशुभराग से बचने हेतु तथा शुभधर्म मे अनुराग होने के कारण सुनता है।"[1]

यही बात आचार्य अमृतचन्द्र ने निम्न शब्दो मे कही है —

"अर्हत्, सिद्ध और साधु की भक्ति, व्यवहारचारित्र तथा गुरुओ की उपासना ये प्रशस्त विषय हैं। इनमे होनेवाला राग प्रशस्तराग कहलाता है। यह प्रायः स्थूल लक्ष्य रखने वाले केवलभक्तिप्रधान अज्ञानी को होता है। कभी-कभी वीतरागदशा-वाले उच्च गुणस्थान मे न पहुँच पाने के कारण अथवा वहाँ से च्युत होने पर अप्रशस्त विषयो मे राग का निषेध करने हेतु ज्ञानी को भी होता है।"[2]

इस प्रकार सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग निर्विकल्प समाधि के अभाव मे जीव को अशुभोपयोग से बचाकर प्राप्त भूमिका को दूषित होने से रोकता है तथा पापकर्मों के बन्ध को टालता है।

विशुद्धता के विकास में शुभोपयोग की मनोवैज्ञानिकता

कर्मो का उदय और उदीरणा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के निमित्त से होती है।[3] जैसे स्वर्णादि द्रव्य या सासारिक सुख की वस्तुएँ दिखने पर मोही

---

१ पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १७०

२ "अर्हत्सिद्धसाधुषु भक्तिर्धर्मे व्यवहारचारित्रानुष्ठाने वासनाप्रधानचेष्टा, गुरूणामाचार्यादीना रसिकत्वेनानुगमनम्। एष प्रशस्तो राग· प्रशस्तविषयत्वात्। अय हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति। उपरितनभूमिकायामलब्धास्पदस्यास्थानरागनिषेधार्थं तीव्ररागज्वरविनोदार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवतीति।"

पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा १३६

३. (क) "द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणनिमित्तभेदजनितवैश्वरूप्यो नानाविधः पाको विपाक ।"

सर्वार्थसिद्धि ८/२१

(ख) "क्षेत्र, काल, भाव और पुद्गल के निमित्त से उदय और उदीरणारूप फलविपाक होता है। यहाँ 'क्षेत्र'पद से नरकादि क्षेत्र का, 'भव' पद से जीवो के एकेन्द्रियादि

जीव के लोभ का उदय हो जाता है। स्त्री के सान्निध्य से पुरुष के मन मे, पुरुष के सम्पर्क से स्त्री के मन मे कामवासना (वेदकषाय) की उत्पत्ति होती है। शत्रु का सामना होने पर क्रोध उदित हो जाता है। सुन्दर दृश्य, मधुर सगीत या मादक सुगन्ध की अनुभूति सातावेदनीय के उदय का कारण बन जाती है। ये द्रव्य के निमित्त से क्रोधादि कर्मों के उदय के उदाहरण हैं।

कुछ कर्मप्रकृतियो का उदय नरक-स्वर्ग आदि विशिष्ट क्षेत्रो मे ही होता है। हिमालय आदि अत्यन्त शीतल क्षेत्र मे या किसी अत्यन्त उष्ण प्रदेश मे जाने से शीत और उष्णता की पीड़ा अनुभव करानेवाले असातावेदनीय का उदय होता है। कभी-कभी निर्जन वन मे भय की उत्पत्ति होती है। यह क्षेत्र निमित्तक कर्मोदय है।

उदयकाल आने पर जो कर्मोदय होता है वह कालनिमित्तक है। शीत, ग्रीष्म आदि देहप्रतिकूल ऋतुओ (काल) के निमित्त से भी असातावेदनीय का उदय होता है। वृद्धावस्था भी असातावेदनीय के उदय का निमित्त बन जाती है। यह कालनिमित्तक कर्मोदय है।

मनुष्यादि भवो (पर्यायो) के निमित्त से मनुष्यगति, मनुष्यायु आदि का उदय होता है। देव और नारक भव के निमित्त से वैक्रियिक शरीर का उदय होता है।

जीव के अपने भावो के निमित्त से भी कर्मो का उदय होता है। जैसे किसी वस्तु के प्रति लोभ का उदय हो और उसकी प्राप्ति सरल मार्ग से होती हुई दिखाई न दे, तो माया (छलकपट-भाव) का उदय हो जाता है। माया सफल न होने पर हिसाभाव (क्रोध) जन्म लेता है। मिथ्यात्व के निमित्त से ससार के पदार्थों मे रागद्वेष की उत्पत्ति होती है। मानकषाय के निमित्त से अपना सम्मान करनेवालो के प्रति प्रीति (रति)[१] एव उपेक्षा करनेवालो के प्रति द्वेष (अरति) का उदय होता है।

इस प्रकार कर्मों का विपाक (फल देने की अवस्था को प्राप्त होना), द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव का निमित्त होने पर ही होता है, उसके बिना

भवो का, 'काल' पद से शिशिर-वसन्त आदि काल का अथवा बाल, यौवन, वार्धक्य आदि कालजनित पर्यायो का और 'पुद्गलद्रव्य' पद से गन्ध, ताम्बूल, वस्त्राभरण आदि इष्ट-अनिष्ट पदार्थों का ग्रहण करना चाहिए।''

कसायपाहुडसुत्त/गाथा ५९/विशेषार्थ/पृ० ४६५

१ ''मनोज्ञेषु वस्तुषु परमा प्रीतिरेव रति.।'' नियमसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ६

नही। किन्तु काल की अपेक्षा अन्य निमित्त प्राय. बलवान होते हैं, क्योंकि भले ही किसी कर्म का उदयकाल हो, यदि किसी अन्य कर्म के उदययोग्य अन्य निमित्त उपस्थित हो गया है, तो उसका उदय हो जायेगा और जिसका उदयकाल है वह स्वमुख से उदित न होकर उसी अन्य कर्म के मुख से (उसी के रूप मे परिणत होकर) उदित होगा।[1] जैसे साता और असाता दोनो का अबाधाकाल समाप्त हो जाने पर एक साथ दोनो ही प्रकृतियो के निषेक उदययोग्य होते हैं। किन्तु इनमे से जिसके उदय के अनुकूल अन्य निमित्त होगे उसी का स्वमुख से उदय होगा, दूसरी का स्तिबुक-सक्रमण के द्वारा परमुख से उदय होगा।[2]

जिस समय क्रोध का उदय है उस समय उदय मे आनेवाले मान, माया, लोभ (उस समय से) एक समय पूर्व ही स्तिबुकसंक्रमण द्वारा क्रोधरूप परिणत हो जाते हैं। अत· क्रोधोदय के समय उदय को प्राप्त मान, माया, लोभरूप कर्म स्वमुख से उदित न होकर क्रोधरूप मे परमुख से उदित होते हैं।[3]

पडित फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री लिखते हैं — "अध्रुवोदयरूप कर्मप्रकृतियो मे हास्य और रति का उत्कृष्ट उदय-उदीरणा काल सामान्यत: छ· माह है। इसके बाद इनकी उदय-उदीरणा न होकर अरति और शोक की उदय-उदीरणा होने लगती है। किन्तु छह माह के भीतर यदि हास्य और रति के विरुद्ध निमित्त मिलता है तो बीच मे ही इनकी उदय-उदीरणा बदल जाती है।"[4]

स्वर्ग मे प्राय साता की ही सामग्री उपस्थित रहती है और नरक मे असाता की ही। अत स्वर्ग मे सातावेदनीय का ही उदय बना रहता है, असाता का उदयकाल आने पर साता के रूप मे परिणमित होकर उदित होता है। इसी प्रकार नरक मे असाता का ही उदय रहता है और सातावेदनीय असाता के रूप मे परिवर्तित होकर फल देता है।[5]

इससे स्पष्ट होता है कि उदयकालरूप निमित्त की अपेक्षा द्रव्य, क्षेत्र, भव, भाव तथा शिशिर-वसन्त, रात्रि, वार्धक्य आदि काल-रूप निमित्त अधिक बलवान् होते हैं।

---

१ "स एव प्रत्ययवशादुपात्तोऽनुभवो द्विधा प्रवर्तते स्वमुखेन परमुखेन च। सर्वासा मूल-प्रकृतीनां स्वमुखेनैवानुभव:। उत्तरप्रकृतीना तुल्यजातीना परमुखेनापि भवति आयुर्दर्शन-चारित्रमोहवर्जानाम्।" सर्वार्थसिद्धि ८/२१

२ "पं० रतनचन्द्र जैन मुख्तार व्यक्तित्व और कृतित्व", भाग १, पृ० ४४६

३. वही, भाग १, पृ० ४५५

४. सर्वार्थसिद्धि ९/३६/विशेषार्थ

५ जैनदर्शन/महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य/पृ० १०२

निमित्त-परिवर्तन से कर्मोदय में परिवर्तन

चूँकि कर्मों का उदय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के निमित्त से होता है, अत: निमित्तो मे परिवर्तन कर कर्मोदय मे परिवर्तन किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, लोभ उत्पन्न करनेवाली सामग्री का सान्निध्य टालकर और निर्लोभ की प्रेरणा देनेवाले निमित्तो का आश्रय लेकर लोभ के उदय को रोका जा सकता है। कोई हमारा अपमान करता है और उसके निमित्त से क्रोध उत्पन्न हो सकता है तो हम क्षमाभाव द्वारा अपमानबोध को निष्प्रभावी कर क्रोध के उदय को रोक सकते हैं। इस प्रकार क्षमादिभाव, संयम-तप-अपरिग्रह, भक्ति, स्वाध्याय आदि वे निमित्त हैं जो क्रोधादि के उदय के निमित्तो को अशक्त कर देते है, जिसके परिणामस्वरूप क्रोधादि का उदय नही हो पाता, अर्थात् उनका तीव्रोदय असम्भव हो जाता है। इससे सक्लेश या कालुष्य की उत्पत्ति नही होती और विशुद्धता का विकास होता है। उस विशुद्धता से कोई-कोई अशुभ कर्म शुभ मे बदल जाते हैं, किन्ही अशुभ कर्मों की स्थिति और अनुभाग का ह्रास हो जाता है तथा शुभकर्मों की स्थिति घट जाती है और अनुभाग बढ़ जाता है। इस रीति से विशुद्धता का निरन्तर विकास होता रहता है। इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जा रहा है।

संयम, तप, अपरिग्रह की मनोवैज्ञानिकता

सयम, तप और अपरिग्रह के द्वारा शरीर को परद्रव्यो की अधीनता से यथासम्भव मुक्त कर ऐसा स्वस्थ और सयत बनाया जाता है कि वह परद्रव्येच्छारूप तीव्रकषाय के उदय का निमित्त नही बन पाता, न ही परद्रव्य के अभाव मे असातावेदनीय के उदय का हेतु बनने मे समर्थ होता है।

संयम : इन्द्रियो मे स्वभावत. विषयसेवन की रुचि होती है[1] और अनियन्त्रित विषयभोग द्वारा उनमे विषयसेवन का व्यसन भी उत्पन्न हो जाता है। इससे उन्हे जिस समय, जिस वस्तु के भोग की आदत पड़ जाती है, उस समय उस वस्तु के भोग के लिए उनमे अत्यन्त पीड़ाकारक उद्दीपन होता है, अर्थात् असातावेदनीय का उदय होता है। उससे सक्लेशपरिणाम की उत्पत्ति होती है। उसके निमित्त से विषयो को भोगने की आकाक्षा के रूप मे तीव्र राग का उदय होता है। इस तथ्य पर आचार्य शुभचन्द्र ने निम्नलिखित शब्दो मे प्रकाश डाला है —

इदमक्षकुल धत्ते मदोद्रेकं यथा यथा ।
कषायदहन: पुसा विसर्पति तथा तथा ।।[2]

---

१ "दग्धेन्द्रियाणा रुचिवशेन 'रुचितारुचितेषु रागद्वेषावुपश्लिष्य नितरा क्षोभमुपैति।" प्रवचनसार, तत्त्वदीपिकावृत्ति १/८३

२. ज्ञानार्णव २०/३

—इन्द्रियो का समूह जैसे-जैसे मद की उत्कटता धारण करता है, वैसे-वैसे मनुष्य मे कषायरूप अग्नि भड़कती है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है —

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।।[१]

—हे कुन्तिपुत्र ! मनुष्य कितना ही ज्ञानी हो, यदि उसकी इन्द्रियाँ असंयत हैं तो वे मन को बलात् विषयो की ओर खीच ले जाती हैं।

उद्दीप्त इन्द्रियों के निमित्त से असातावेदनीयजनित संक्लेश-परिणाम द्वारा विषयेच्छा उत्पन्न होने पर जीव विषय-प्राप्ति का प्रयत्न करता है। उसमें कोई बाधक बनता है, तो उसके निमित्त से क्रोध और मान उदित हो जाते हैं, जिनके कारण जीव हिंसादि पाप भी कर डालता है। इच्छित वस्तु की उपलब्धि यदि ऋजुमार्ग से सम्भव नही होती, तो अनेक जीवो मे माया कषाय का प्रादुर्भाव हो जाता है। इस प्रकार इन्द्रियो की भोगप्रवृत्ति तीव्रकषाय का निमित्त है।

विषयो मे इष्टानिष्टबुद्धि के निमित्त से तो तीव्रकषाय का उदय केवल मिथ्यादृष्टियों मे ही होता है, किन्तु इन्द्रियो के भोगव्यसन के निमित्त से असंयत तथा संयतासयत सम्यग्दृष्टियो में भी होता है। आचार्य जयसेन का कथन है —

"जैसे कोई चोर मरना नही चाहता, तो भी कोतवाल के द्वारा पकड़े जाने पर उसे विवश होकर मरना पड़ता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि जीव, यद्यपि आत्मोत्पन्न सुख को उपादेय तथा विषयसुख को हेय समझता है, तो भी चारित्रमोहोदयरूप कोतवाल के वश मे होकर विषयसुख का भोग करता है।"[२]

विषयसुख को हेय समझने पर भी उसे भोगने के लिए विवश करने वाला यह चारित्रमोह का उदय इन्द्रियो की भोगवासना के निमित्त से ही होता है, जैसे आहार को हेय समझने पर भी मुनि मे आहार की इच्छा पैदा करनेवाला चारित्रमोहोदय शरीर की आहारवृत्ति के निमित्त से होता है।

इस प्रकार इन्द्रियो की भोगवासना सक्लेश का प्रबलतम कारण है। इन्द्रियसंयम से सक्लेशपरिणाम का यह महान् स्रोत अवरुद्ध हो जाता है। इन्द्रियो को अनावश्यक विषयसेवन से क्रमशः निवृत्त करने पर उनका भोगाभ्यास छूट जाता है और उनमें विषयभोग के लिए पीड़ाकारक उद्दीपन नही होता। फलस्वरूप वे असातावेदनीय एव तीव्रकषाय (विषयाकाक्षा) के उदय का निमित्त नही बन पाती।

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता/द्वितीय अध्याय/श्लोक ६०
२. समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १९४

पूज्यपाद स्वामी कहते हैं — 'रसपरित्याग आदि तप के द्वारा इन्द्रियो के मद का निग्रह होता है।'[१] आचार्य जयसेन का कथन है — 'शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, ये इन्द्रियविषय रागादि भावों की उत्पत्ति के बहिरग कारण है, अत· इनका त्याग करना चाहिए।'[२] उन्होने बतलाया है कि इन्द्रियविषयो के त्याग से चित्त क्षोभरहित (सक्लेशरहित) हो जाता है।[३] कषायो के तीव्रोदय मे ही चित्त क्षुब्ध होता है,[४] अत· स्पष्ट है कि संयम तीव्रकषायोदय के निरोध का निमित्त है।

पडित टोडरमल जी का कथन है — "बाह्य पदार्थ का आश्रय लेकर रागादि परिणाम हो सकते है। इसलिए परिणाम मिटाने हेतु बाह्य वस्तु के निषेध का कथन समयसारादि मे है। यह नियम है कि बाह्य सयम साधे बिना परिणाम निर्मल नही हो सकते। अत· बाह्य साधन का विधान जानने के लिए चरणानुयोग का अभ्यास करना चाहिए।"[५]

तप : अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, कायक्लेश आदि बाह्य तपो के द्वारा भी शरीर को परद्रव्य की अधीनता से अधिकाधिक मुक्त करने का अभ्यास किया जाता है, जिससे शरीर परद्रव्यजन्य सुख का अभ्यस्त नही होता। फलस्वरूप परद्रव्य के अभाव मे असातावेदनीय का उदय नही होता तथा असातावेदनीयजन्य पीड़ा के अभाव मे परद्रव्येच्छारूप तीव्रकषाय का उदय नही होता। तप से शरीर स्वस्थ भी रहता है, प्रमादग्रस्त नही होता।[६] अत. रोग, आलस्य आदि से मुक्त रहने के कारण भी सक्लेशोत्पादक असातावेदनीय के उदय का निरोध होता है।

अपरिग्रह : बाह्य वस्तुओ के सम्पर्क से उनके संरक्षण, सवर्धन, परिष्करण आदि की चिन्ता उत्पन्न होती है। उनकी रक्षा के प्रयत्न मे दूसरो के साथ सघर्ष होता है। हिसा के प्रसग उपस्थित हो जाते हैं। अत: परिग्रह असाता और क्रोधादि के उदय का निमित्त होता है। जितनी ज्यादा वस्तुओ से सम्पर्क छूटता है उनके

---

१ सर्वार्थसिद्धि ९/१९

२ "शब्दादयो रागादीना बहिरगकारणास्त्याज्या ।" समयसार/तात्पर्यवृत्ति ३६६-३७१

३ "बहिरङ्गपञ्चेन्द्रियविषयत्यागसहकारित्वेनाविक्षिप्तचित्तभावनोत्पन्ननिर्विकारसुखामृतरस-बलेन ।" वही/उत्थानिका

४ "क्रोधमानमायालोभाना तीव्रोदये चित्तस्य क्षोभ· कालुष्यम्।"
पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा १३८

५ मोक्षमार्गप्रकाशक/पृ० २९२

६ "सयमे सावधानार्थं वातपित्तश्लेष्मादिदोषोपशमनार्थं ज्ञानध्यानादिसुखसिद्ध्यर्थं यत्स्तोक भुज्यते तदवमौदर्यम्। हृषीकमदनिग्रहार्थं निद्राविजयार्थं स्वाध्यायादिसुखसिद्ध्यर्थं रसस्य घृतादे परित्याग रसपरित्याग ।" तत्त्वार्थवृत्ति ९/१९

सरक्षणादि की चिन्ता से हम उतने ही अधिक मुक्त हो जाते हैं। अत: अपरिग्रह के निमित्त से असातावेदनीय एव तीव्रकषाय के उदय का निरोध होता है, जिससे विशुद्धता का विकास निर्बाध चलता रहता है।

आचार्य अमृतचन्द्रजी ने कहा है — "यद्यपि रागादिभावरूप हिसा की उत्पत्ति में बाह्य वस्तु कारण नही है (चारित्रमोह का उदय कारण है), तथापि रागादिपरिणाम परिग्रहादि के निमित्त से ही होते हैं, इस कारण परिणामो की विशुद्धि के लिए हिंसा के निमित्तभूत परिग्रहादि का त्याग करना चाहिए।"[१]

वे आगे कहते हैं — "मूर्च्छा (ममत्वपरिणाम)[२] को आभ्यन्तर परिग्रह कहते हैं, वह बाह्य परिग्रह के निमित्त से भी उत्पन्न होती है। अत दोनो प्रकार के परिग्रह का त्याग करना चाहिए।"[३]

सिद्धान्ताचार्य पडित कैलाशचन्द्र जी शास्त्री लिखते है — "रागद्वेष दूर करने के लिए या कम करने के लिए बाह्य पदार्थो का भी त्याग किया जाता है। स्वभाव मे लीन होने के लिए क्रम से बाह्य प्रवृत्ति को रोकना होता है और बाह्य प्रवृत्ति को रोकने के लिए प्रवृत्ति के विषयो को त्यागना होता है। अत: स्वभाव मे लीन होने के लिए यह आवश्यक है कि हम अव्रत से व्रत की ओर आये। ज्यो-ज्यो हम स्वभाव मे लीन होते जायेगे, प्रवृत्तिरूप व्रतनियमादि स्वत छूटते जायेगे।"[४]

सक्लेशपरिणामो का निरोध भक्ति एव स्वाध्याय से भी होता है, किन्तु उनमे चित्त की एकाग्रता तब तक सम्भव नही है, जब तक इन्द्रियो की भोगवृत्ति नियन्त्रित नही हो जाती। इन्द्रियो के निरन्तर उद्दीपन से पीड़ित चित्त, विषयो की ओर ही बार-बार जाता है। ऐसे चित्त का भक्ति मे एकाग्र होना दुष्कर है। इस अवस्था मे स्वाध्याय तो और भी असम्भव है, क्योंकि भक्ति मे तो कुछ सरसता भी होती है, किन्तु स्वाध्याय तो एकदम नीरस एव क्लिष्ट कार्य है। इसीलिए आगम मे इन्द्रियो का भोगव्यसन श्रुतज्ञानावरण का नोकर्म अर्थात् बाह्य निमित्त कहा गया है। जो विषयो मे लीन रहता है उसकी रुचि तत्त्वचिन्तन की ओर उन्मुख नही होती। इसलिए

---

१ सूक्ष्मापि न खलु हिसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुस· ।
हिसायतननिवृत्ति· परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ।।
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/कारिका ४९

२ "मूर्च्छा तु ममत्वपरिणाम·।" वही/कारिका, १११

३ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/कारिका ११३, ११८

४ द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र/विशेषार्थ/गाथा ३४२

श्रुतज्ञान न होने देने मे इन्द्रियो का भोगव्यसन प्रबल बाह्य निमित्त है।[1]

भक्ति की मनोवैज्ञानिकता

इन्द्रियसंयम द्वारा इन्द्रियो के भोगव्यसनरूप निमित्त को दूर कर देने पर भी इन्द्रियविषयो के दर्शन, चिन्तन, स्मरण आदि के निमित्त से तीव्ररागादि की उत्पत्ति सम्भव है। अत· इन निमित्तो को टालने के लिए पञ्चपरमेष्ठी के भजनपूजन, गुणकीर्तन, चरितश्रवण आदि शुभ निमित्तो का अवलम्बन अत्यन्त आवश्यक होता है। मगलमय आत्माओ के मगलमय गुणो के चिन्तन-स्मरण के निमित्त से तीव्र कषायोदय के निमित्त टल जाते है और सत्ता मे स्थित शुभाशुभ कर्मों की स्थिति और अशुभ कर्मो का अनुभाग हीन हो जाता है, जिससे आगे भी मन्दकषाय का ही उदय होता है। पडित टोडरमल जी लिखते हैं —

"भक्ति करने से कषाय मन्द होती है।[2] अरहतादि के आकार का अवलोकन करना, स्वरूप का विचार करना, वचन सुनना, निकटवर्ती होना या उनके अनुसार प्रवर्तन करना इत्यादि कार्य तत्काल निमित्त बनकर रागादि को हीन करते हैं।"[3]

जैसे इन्द्रियविषय एव असत्पुरुषो का ससर्ग तीव्र कषाय के उदय का निमित्त बनता है, वैसे ही पञ्चपरमेष्ठीरूप प्रशस्तविषयो के दर्शनादि मन्दकषायरूप विशुद्ध परिणामो के निमित्त बनते हैं। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने बतलाया है कि जिनदेव, जिनमन्दिर, जिनागम, जिनागम के धारक, सम्यक् तप और सम्यक् तप के धारक, ये छह आयतन सम्यक्त्व प्रकृति के उदय के निमित्त है और इनसे विपरीत अर्थात् कुदेवादि छह आयतन मिथ्यात्व प्रकृति के उदय के निमित्त हैं।[4] भक्ति की उपयोगिता बतलाते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं —

"भक्तिरूप प्रशस्तराग का अवलम्बन पुण्यबन्ध का स्थूल लक्ष्य रखनेवाले भक्तिप्रधान अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) करते है। कभी-कभी अनुचित विषयो मे रागप्रवृत्ति रोकने के लिए अथवा तीव्रकषायोदय का निरोध करने हेतु शुद्धोपयोग से च्युत ज्ञानी भी करते हैं।"[5]

भक्तिभाव से भरे मन मे अशुभभावो के लिए अवकाश कहाँ से मिल सकता है? इस तथ्य का निरूपण कवि रहीम ने बहुत ही सुन्दर शब्दो मे किया है —

---

१ गोम्मटसारकर्मकाण्ड/गाथा ७०

२. मोक्षमार्गप्रकाशक/पृ० २९०

३. वही/पृ० ७

४ गोम्मटसारकर्मकाण्ड/गाथा ७४

५ पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा १३६

प्रीतम छबि नयनन बसै, पर छबि कहाँ समाय ।
भरी सराय रहीम लखि, आप पथिक फिर जाय ।।

— जिन ऑखो मे अपने आराध्य की छवि बसी होती है, उनमे किसी दूसरे की छवि कैसे समा सकती है ? सराय भरी देखकर पथिक अपने आप लौट जाता है।

इस प्रकार तीव्रकषायोदयरूप सक्लेशपरिणाम के निमित्तों को टालने के लिए भक्ति एक शक्तिशाली उपाय है।

स्वाध्याय की मनोवैज्ञानिकता

स्वाध्याय भी इसका एक उत्तम साधन है। इसके द्वारा मन तत्त्वो के गूढ़ चिन्तन मे खो जाता है। फलस्वरूप वस्तुस्वभाव के चिन्तन-मनन से जो स्वपरतत्त्व, हिताहित एव हेयोपादेय का विवेक होता है उसके बल से चारित्रमोह का तीव्रोदय नहीं हो पाता। चित्त खाली न रहने से उसमे विषय-वासनाओ का भी प्रवेश नही होता। भक्त कवि तुलसीदास जी ने यह तथ्य इस सूक्ति मे अत्यन्त हृदयस्पर्शी शब्दो मे प्रस्तुत किया है —

मन पछी तव लगि उड़ै विषयवासना मॉहि ।
ज्ञान बाज की झपट मे जब लगि आया नॉहि ।।

पडित टोडरमल जी का कथन है — "तत्त्वनिर्णय करते हुए परिणाम विशुद्ध होते है, उससे मोह के स्थिति-अनुभाग घटते है।"[१]

तत्त्वचिन्तनजन्य आनन्दानुभूति के निमित्त से असातावेदनीय का भी उदय नही हो पाता। यदि उसका उदयकाल आ जाता है, तो सातावेदनीय मे सक्रमित होकर सातारूप फल ही देता है।

इस तरह स्वाध्याय भी तीव्रकषायोदय का निरोधकर विशुद्ध परिणामो के विकास का शक्तिशाली माध्यम है, कदाचित् भक्ति से भी अधिक।[२]

क्षमा-समता-अहिंसादि भावों की मनोवैज्ञानिकता

आत्मा के अपने क्षमा, समता, धैर्य, विवेक, अहिसा (अनुकम्पा) आदि भाव भी तीव्रकषायोदय के निमित्तो को निष्प्रभावी बनाने के अमोघ साधन हैं।

'चारित्रसार' मे कहा गया है — 'क्रोधोत्पत्तिनिमित्ताना सन्निधानेऽपि

---

१ मोक्षमार्गप्रकाशक/पृ० ११२

२ सज्झायं कुव्वतो पचिन्द्रियसवुडो तिगुत्तो य ।
हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू ।। मूलाचार/गाथा ९७१

कालुष्याभाव: क्षमा'[1] अर्थात् क्रोध उत्पन्न करनेवाले निमित्तो के होने पर भी कालुष्य (क्षोभ) का अभाव होना क्षमा है। आचार्य शुभचन्द्र का कथन है —

प्रत्यनीके समुत्पन्ने यद्धैर्यं तद्धि शस्यते ।
स्यात्सर्वोऽपि जन: स्वस्थ· सत्यशौचक्षमास्पद: ।।[2]

— स्वस्थचित्तवाले तो प्राय सभी सत्य, शौच, क्षमादि से युक्त होते हैं, किन्तु शत्रु द्वारा उपसर्ग किये जाने पर धैर्य रखना ही वास्तविक धैर्य है।

ये कथन इस तथ्य की ओर सकेत करते हैं कि जिन निमित्तो से क्रोधादि-जनक कर्मों का उदय होता है, वे यदि उपस्थित हो, तो भी उनके प्रभाव को नष्ट किया जा सकता है और क्रोधादि के उदय को रोका जा सकता है। निमित्तो के प्रभाव को नष्ट करने की शक्ति आत्मा के क्षमा, समता, धैर्य, अनुकम्पा, आर्जव, मार्दव, विवेक, अहिसा-निष्ठा, सत्य-निष्ठा, अस्तेय-निष्ठा, ब्रह्मचर्य-निष्ठा, अपरिग्रह-निष्ठा, आदि आदर्श भावो मे है, जैसा कि ज्ञानार्णवकार आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है —

शमाम्बुभि क्रोधशिखी निवार्यता, नियम्यता मानमुदारमार्दवै· ।
इय च मायाऽऽर्जवत प्रतिक्षण, निरीहता चाश्रय लोभशान्तये ।।[3]

— क्रोधाग्नि को क्षमारूपी जल से शान्त करना चाहिए, मान को मार्दव से दूर करना चाहिए, माया को आर्जव से तथा लोभ को नि·स्पृहता से निरस्त करना चाहिए।

स्वामी कुमार का भी कथन है — "जो साधु समभाव और सन्तोषरूपी जल से तीव्रलोभरूपी मल को धोता है, उसी के शौच धर्म होता है।"[4]

क्षमा, मार्दव, आर्जव, समता, धैर्य आदि भाव ज्ञान से उत्पन्न होते हैं। आत्महितकारी होने से ज्ञानी आत्मा का इनमे अत्यधिक आदरभाव होता है, इनमे उसकी दृढ़ निष्ठा होती है। इन आदरणीय भावो मे स्थित रहने का ही विवेकी जीव सदा अभ्यास करता है। ये उसके जीवन के प्रिय लक्ष्य होते है। इसलिए जब भी क्रोधादि- कर्मो के उदय के निमित्त उपस्थित होते है, वह क्षमादि भावो मे स्थिर रहने के लिए दृढ़ हो जाता है और क्रोधादि के निमित्तो को अपने ऊपर हावी नही

---

१ चारित्रसार/चामुण्डराय/५९/२

२ ज्ञानार्णव १९/३८

३ वही, १९/७२

४ समसतोसजलेण जो धोवदि तिव्वलोहमलपुज ।
भोयणगिद्धिविहीणो तस्य सउच्च हवे विमल ।। कार्तिकेयानुप्रेक्षा/गाथा ३९७

होने देता। जैसे कोई उसे गाली देता है, तो वह गाली से उत्तेजित होने में अपनी हानि का ख्याल कर क्षमाभाव में स्थित हो जाता है और गाली से विचलित नही होता। इससे गाली निष्प्रभाव हो जाती है और क्रोधकर्म के उदय का निमित्त नही बनती। इसी प्रकार असातावेदनीय कर्म के उदय मे कोई उसे पत्थर मारता है, तो पत्थर की पीड़ा को वह ज्ञान के बल से अनार्तभावपूर्वक सह लेता है। परिणामस्वरूप आर्तभाव के अभाव मे तीव्रकषाय का उदय नही होता। इसी तरह नि:स्पृहता लोभ के निमित्तो को, निर्भयता भय के निमित्तो को, मार्दव मान के निमित्तो को, आर्जव माया के निमित्तो को, दया या अहिंसानिष्ठा हिंसा के निमित्तो को, ब्रह्मचर्यनिष्ठा काम के निमित्तो को, सम्यक्त्व शोकादि के निमित्तो को प्रभावहीन बनाकर उक्त कषायो के उदय को असम्भव बनाते हैं।

कर्मोदय के निमित्तो को शक्तिहीन बना देने वाले साधक को ही योगी और शूर कहा गया है —

गुणाधिकतया मन्ये स योगी गुणिना गुरु: ।
तन्निमित्तेऽपि नाक्षिप्तं क्रोधाद्यैर्यस्य मानसम् ।।[१]

—जिस मुनि का मन क्रोधादि के निमित्त मिलने पर भी क्रोधादि से विक्षिप्त नही होता, वही गुणाधिक्य के कारण योगी और गुणीजनो का गुरु है।

जो णवि जादि वियार तरुणियण-कडक्खबाणविद्धो वि ।
सो चेव सूरसूरो रणसूरो णो हवे सूरो ।।[२]

—जो युवतियो के कटाक्षरूपी बाणो से बेधा जाने पर भी विकार को प्राप्त नही होता, वही सच्चा शूर है, रणशूर शूर नही है।

कर्मोदय के निमित्तो को निष्प्रभावी बनाकर ही तीव्र क्रोधादि को रोका जा सकता है, कर्मोदय हो जाने पर नही, क्योंकि कर्म का उदय होने पर कषायादिरूप फल का अनुभव हुए बिना नही रहता। फलानुभव कराने का नाम ही विपाक या उदय है, जैसा कि पूज्यपाद स्वामी ने कहा है — 'द्रव्यादिनिमित्तवशात् कर्मणा फलप्राप्तिरुदय:।'[३]

गोम्मटसार कर्मकाण्ड की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका (गाथा २६४) मे कहा गया है — "स्वस्वभावाभिव्यक्तिरुदय, स्वकार्य कृत्वा स्वरूपपरित्यागो वा।"

---

१ ज्ञानार्णव १९/७५

२ कार्तिकेयानुप्रेक्षा/गाथा ४०४

३ सर्वार्थसिद्धि २/१

अर्थात् अपने फलदानरूप स्वभाव की अभिव्यक्ति उदय कहलाती है अथवा अपना फलदानरूप कार्य कर कर्मस्वरूप का परित्याग उदय है। इस प्रकार कर्म स्वरूप या पररूप से फल दिये बिना अकर्मभाव को प्राप्त नही होता।[१]

सार यह कि कर्मोदय होने पर जीव के परिणाम उस कर्म की प्रकृति के अनुसार अवश्य हो जाते है, अत चारित्रमोह की क्रोधादि प्रकृतियो का तीव्रोदय हो जाने पर आत्मा मे कालुष्य (क्षोभ, सक्लेश) उत्पन्न हो ही जायेगा, तब कालुष्याभावरूप क्षमा कैसे सम्भव होगी ? अत· निष्कर्ष यही है कि कर्मोदय के निमित्तो को टालकर[२] या निष्प्रभावी बनाकर ही कालुष्याभावरूप क्षमा, मानाभावरूप मार्दव, माया-अभावरूप आर्जव, कामाभावरूप ब्रह्मचर्य आदि फलित होते हैं।

असातावेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न दुख के समय यदि समताभाव धारण किया जाता है, तो आर्तभाव उत्पन्न नही होता। उत्पन्न हुए दुख से द्वेष होना तथा सुख की आकाक्षा करना आर्तभाव कहलाता है। दुख से घबराने, व्याकुल होने, विलाप आदि करने के रूप मे यह द्वेष व्यक्त होता है। इससे नवीन असाता-वेदनीय का बन्ध होता है। किन्तु समताभाव धारण कर दुख को धैर्यपूर्वक सहने से नवीन कर्म का बन्ध नही होता और उदय मे आया हुआ कर्म फल देकर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार समताभाव से सवरपूर्वक निर्जरा होती है, जो मोक्ष के लिए उपयोगी है। इस विषय मे प० सदासुखदास जी का निम्नलिखित विवेचन पठनीय है —

"बहुरि यो मनुष्यशरीर है सो वातपित्तकफादिक-त्रिदोषमय है। असाता-वेदनीय कर्म के उदयतै, त्रिदोष की घटती-बधतीतै ज्वर, कास, स्वास, अतिसार, उदरशूल, शिरशूल, नेत्र का विकार, वातादि पीड़ा होते (होने पर) ज्ञानी ऐसा विचार करे है — जो ये रोग मेरे उत्पन्न भया है सो याकू असातावेदनीय कर्म को उदय तो अन्तरग कारण है, अर द्रव्यक्षेत्रकालादिक बहिरग कारण हैं। सो कर्म के उदयकू उपशम हुआ (कर्म के उदय का उपशम होने पर) रोग का नाश होयगा। असाता का प्रबल उदयकू होते बाह्य औषधादिक हू रोग मेटने कू समर्थ नाही है। अर असाताकर्म के हरने कू कोऊ देव-दानव, मत्र-तत्र, औषधादिक समर्थ हैं नाही। यातै अब सक्लेशकू छाड़ि समता ग्रहण करना। अर बाह्य औषधादिक हैं ते असाता

---

१ "ण च कम्म सगरूवेण परसरूवेण वा अदत्तफलमकम्मभाव गच्छदि, विरोहादो।"
कसायपाहुड/जयधवला/पुस्तक ३/भाग २२/प्रकरण ४३०/पृ० २४५

२ यत्र यत्र प्रसूयन्ते तव क्रोधादयो द्विष ।
तत्तत्प्रागेव मोक्तव्य वस्तु तत्सूतिशान्तये ।। ज्ञानार्णव १९/७३

के मन्द उदय होतैं सहकारी कारण है। असाता का प्रबल उदय होतैं औषधादिक बाह्य कारण रोग मेटने कूं समर्थ नाही है। ऐसा बिचारि असाताकर्म के नाश का कारण परम समता धारण करि सक्लेशरहित होय सहना, कायर नाही होना सो ही साधुसमाधि है। बहुरि इष्ट का वियोग होतैं अर अनिष्ट का सयोग होतैं ज्ञान की दृढ़ता तैं जो भय को प्राप्त नाही होना सो साधुसमाधि है।''[1]

'भगवती आराधना' की टीका के निम्न शब्द भी पठनीय हैं — ''बड़े-बड़े धन्वन्तरि-सदृश वैद्य, इलाज के करनेवाले, तो हू कर्म के उदयकरि आई रोगजनित वेदना, ताहि दूर करने कूँ समर्थ नाही। · तातै धैर्य धारण करि अपना बॉध्या कर्म का फल समभाव करि भोगो, तातै तुमारे नवीन कर्म नाही होय, अर पूर्वे बॉध्या तिनकी निर्जरा होय। उदय मे आया कर्म कूँ जिनेन्द्र, अहमिन्द्र, समस्त इन्द्र, देव टारिने कूँ समर्थ नाही हैं। तातैं अरोक (अटल) जानि असाता का उदय मे दुःख मति करो, दु ख करोगे तो अधिक असाता कर्म और बॅधेगा, अर उदय तो टरेगा नाही। असातावेदनीयादिक अशुभकर्म कूँ उदय आवता समय विषै जो विलाप करना, रोवना, सक्लेश करना, दीनता भाखना निरर्थक है, दु ख मेटने को समर्थ नाही। केवल वर्तमान काल मे दुःख बधावै (बढ़ाता है), अर आगाने (भविष्य मे) तिर्यञ्चगति तथा नरक-निगोद कूँ कारण, ऐसा तीव्रकर्म बॉधे, जो अनन्तकाल हूँ मे न छूटे। तातैं कर्म के ऋण तैं छूट्या चाहो तो कर्म के उदय मे आकुलता त्यागि परमधैर्य धारण करो।''[2]

इस प्रकार क्षमा, समता, अहिसा आदि भाव तीव्रकषायोदय के निमित्तो को निष्प्रभावी बनाकर विशुद्धता का विकास करते हैं।

सक्षेप मे, सयम और तप शरीर को परद्रव्यो की अधीनता से मुक्त कर उसे परद्रव्येच्छारूप तीव्रकषाय के उदय का निमित्त बनने से रोकते हैं, अपरिग्रह, मूर्च्छारूप तीव्रकषायोदय के निमित्त को निरस्त करता है, भक्ति और स्वाध्याय विषयो के चिन्तन-स्मरण आदि के निरोध द्वारा चारित्रमोह के तीव्रोदय पर रोक लगाते हैं तथा क्षमा, समता, धैर्य, अहिसादि भाव कर्मोदय के निमित्तो को प्रभावहीन बनाकर सक्लेशपरिणाम का प्रतीकार करते हैं। इस प्रणाली से विशुद्धता का विकास किस तरह होता है यह बात श्री जिनेन्द्रवर्णी के निम्न वचनो से अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है —

''व्यक्ति ज्यो-ज्यो हृदय मे उतरता हुआ प्रेम (अहिसाक्षमादिभावो) तथा

---

१ रत्नकरण्डश्रावकाचार/षष्ठ-भावना अधिकार/पृ० २६५

२ भगवतीआराधना/गाथा १६१९-१६४१

समता के क्षेत्र मे प्रवेश करता है, त्यो-त्यो सत्ता मे पड़े अशुभकर्म शुभरूप मे सक्रमण करने लगते हैं। आगे जाकर उदय मे आनेवाले ये शुभकर्म भी अपकर्षण द्वारा नीचे खिंचकर समय से पहले उदय मे आने लगते हैं। वर्तमान मे उदय मे आने योग्य अशुभ निषेक उत्कर्षण द्वारा पीछे चले जाते है, अर्थात् वर्तमान में उदय मे नही आते। फलस्वरूप परिणाम कई गुने अधिक विशुद्ध हो जाते हैं। इन वृद्धिगत विशुद्ध परिणामो के निमित्त से उपर्युक्त सक्रमण, अपकर्षण तथा उत्कर्षण और अधिक वेग तथा शक्ति के साथ होने लगते है। परिणाम यह होता है कि विशुद्धि मे अनन्तगुनी वृद्धि होने लगती है।"[१]

इन युक्तियो और प्रमाणो से सिद्ध है कि व्यवहारमोक्षमार्ग विशुद्धता के विकास का शक्तिशाली उपकरण है। विशुद्धता को उत्तरोत्तर विकसित करते हुए वह साधक को निश्चयमोक्षमार्ग के अवलम्बन-योग्य गुणस्थान मे पहुँचा देता है। अत वह निश्चयमोक्षमार्ग का साधक है और निश्चयमोक्षमार्ग का उसका साध्य।

●

---

१ कर्मसिद्धान्त/पृ० १४५

नवम अध्याय

साध्यसाधकभाव की भ्रान्तिपूर्ण व्याख्याएँ

निश्चय और व्यवहार की परस्पर सापेक्षता को अमान्य करनेवाला पण्डित-वर्ग निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग मे पूर्वोक्त प्रकार से कार्य-कारणात्मक साध्यसाधकभाव भी स्वीकार नही करता। इसलिये वह मोक्षप्राप्ति के लिये एकमात्र निश्चयनय को ही उपादेय मानता है, व्यवहारनय को नहीं।[1] किन्तु, चूँकि आगम में साध्यसाधकभाव बतलाया गया है, इसलिए वह इसका सर्वथा अपलाप भी नहीं कर सकता, परिणामस्वरूप उक्त पण्डितजनो ने साध्यसाधकभाव की नई व्याख्याएँ की हैं जो अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण, अयुक्तिसगत एवं हास्यास्पद हैं। वे कार्यकारणात्मक साध्यसाधकभाव को अमान्य करने के निम्नलिखित कारण बतलाते हैं —

(१) सविकल्पावस्था (शुभोपयोग) से निर्विकल्पावस्था (शुद्धोपयोग) मे पहुँचाना परद्रव्याश्रित व्यवहारधर्म का कार्य नही है।[2]

(२) शुभोपयोग बन्ध का ही कारण है। वह आत्मशुद्धि मे तनिक भी सहायक नही है।[3]

(३) निश्चयधर्म के पूर्व व्यवहारधर्म होता ही नही है।[4] निश्चयधर्म के आने पर व्यवहारधर्म अपने आप आता है। अत· व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का अविनाभावी है, हेतु नही।[5]

(४) पहले की गयी साधना से वर्तमान मे निश्चयधर्म की प्राप्ति नही होती। निमित्तनैमित्तिक योग एक काल मे होता है।[6] तात्पर्य यह है कि यदि शुभोपयोग से तुरन्त (प्रत्यक्षरूप से) शुद्धोपयोग हो तभी व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का साधक कहला सकता है। किन्तु ऐसा नही होता, क्योंकि दोनो की प्रकृति मे महान् अन्तर

---

१ (क) जैन-तत्त्वमीमांसा/पृ० २५४-२५८
   (ख) मोक्षमार्ग प्रकट करने का उपाय : तत्त्वनिर्णय/पृ० २७-२८

२. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ८०१

३. वही/भाग २/पृ० ७८०-७८१

४. वही/भाग १/पृ० १५७

५. वही/भाग २/पृ० ५५१

६. वही/भाग १/पृ० १५७

है। भिन्न कारण से भिन्न कार्य उत्पन्न नही होता। अत. व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का साधक नही कहा जा सकता।

तब आचार्यों ने उनमे साध्य-साधकभाव क्यो कहा है ? इसके समाधान मे उक्त विद्वान कहते हैं कि आचार्यों ने ऐसा इसलिये कहा है कि व्यवहारधर्म –

(क) निश्चयधर्म का सहचर है।[१]
(ख) निश्चयधर्म मे बाधक नही है।[२]
(ग) निश्चयधर्म का पूर्ववर्ती है।[३]
(घ) निश्चयधर्म का अनुमापक है।[४]

विद्वानो की उपर्युक्त मान्यताएँ समीचीन नहीं हैं, यह निम्नलिखित युक्तियो और प्रमाणो से स्पष्ट हो जाता है —

व्यवहारधर्म निश्चयधर्म की सामर्थ्य का जनक

यह ठीक है कि व्यवहारधर्म सविकल्पावस्था से निर्विकल्पावस्था मे नही ले जा सकता और वह बन्ध का हेतु है। किन्तु, यह भी सत्य है कि निर्विकल्पावस्था या शुद्धात्मा का अवलम्बन सहसा नही हो सकता। उसके लिये सामर्थ्य की आवश्यकता है। यह व्यवहारधर्म से आती है। कीचड़ मे सने हुये शरीर का उसी अवस्था मे शृगार सम्भव नही है। उसे पहले जल से साफ कर शृगारयोग्य बनाना होगा, तब कही कोई शृगार सफल हो सकता है। जो मन अशुभ वासनाओ के पक से लिप्त है, उसका एकदम वीतरागभाव मे पहुँचना कैसे सम्भव है ? श्री ब्रह्मदेव सूरि ने स्पष्ट कहा है –

"गृहस्थो के लिये आहारदान आदि ही परम धर्म है। वे सम्यक्त्वसहित उसी धर्म से परम्परया मोक्ष प्राप्त करते हैं। यदि कोई कहे कि वह परमधर्म क्यो है ? तो इसका समाधान यह है कि गृहस्थ निरन्तर विषयकषायो के अधीन रहने के कारण आर्त-रौद्र ध्यान से ग्रस्त रहते हैं। अत: उनके लिये निश्चयरत्नत्रयात्मक शुद्धोपयोगरूप परमधर्म सम्भव नही है।"[५]

---

१ जयपुर (खानिया) तत्वचर्चा/भाग १/पृ० १२९, पृ० १४५
२ वही/भाग २/पृष्ठ ७८०
३ फिर भी स्वभावसन्मुख होने के पूर्व अशुभ विकल्प न होकर नियम से शुभविकल्प होता ही है। इसलिए ही व्यवहारनय से व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का साधक कहा है। वही/भाग २/पृष्ठ ५८९
४ वही/भाग २/पृष्ठ ७९५
५ "गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमधर्मस्तेनैव सम्यक्त्वपूर्वेण परम्परया मोक्षं लभन्ते।

दीपक को जलाने के लिये अनुकूल वातावरण की आवश्यकता होती है। खुले स्थान मे, जहाँ हवा के तेज झौंके आ रहे हों, वह जल नही सकता। निर्वात स्थल में ही जल पाता है। इसी प्रकार जिसका मन विषयकषायो की तेज आँधियों से क्षुब्ध है, उसमे वीतरागभाव का दीपक जलना सम्भव नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं, "जैसे गर्भगृह मे रखा हुआ दीपक हवा की बाधा से रहित होने के कारण जलता है, वैसे ही रागरूपी पवन की बाधा से रहित होने पर ही ध्यानरूपी दीपक जलता है।[१]

पूज्यपाद स्वामी का भी यही मत है। वे कहते हैं — "जिसका मनरूपी जल रागद्वेषादि की लहरो से चचल नही है, उसी को आत्मतत्त्व के दर्शन होते हैं। जिसका चित्त रागद्वेषादि की तरगो से क्षुब्ध है, उसे आत्मा के दर्शन नही हो पाते।"[२]

इस कथन से स्पष्ट है कि निर्विकल्प समाधिरूप निश्चयधर्म के लिये विषय-कषायो की आँधी से उत्पन्न होने वाली चित्त की अतिचचलता का समाप्त होना और उसमे अपेक्षाकृत स्थैर्य आना आवश्यक है। यह व्रत, शील, सयमादि व्यवहार-धर्म से होता है। आचार्य नेमिचन्द्र कहते है —

"तप, श्रुत और व्रत का धारक आत्मा ही ध्यानरूपी रथ की धुरा को धारण कर सकता है। अत ध्यान की प्राप्ति के लिये इन तीनो मे निरत होना चाहिये।"[३]

प० टोडरमल जी भी मानते हैं कि बाह्यतप शुद्धोपयोग बढ़ाने के लिये किया जाता है।[४]

व्रतो से अशुभभावो के निरोध और शुभभावो के अभ्यास द्वारा आत्मा मे स्थिरता का सस्कार उत्पन्न होता है। उससे निर्विकल्प समाधियोग्य अवस्था का निर्माण होता है, जिसे प्राप्त कर साधक शुद्धात्मध्यानरूप निश्चयधर्म के प्रयत्न मे सफल होता है। अव्रतो के त्याग और व्रतो मे परिनिष्ठित होने से ही परमात्मपद

कस्मात् स एव परम धर्म इति चेत् ? निरन्तरविषयकषायाधीनतया आर्तरौद्रध्यानरतानां निश्चयरत्नत्रयलक्षणस्य शुद्धोपयोगपरमधर्मस्यावकाशो नास्तीति।"

परमात्मप्रकाश/ब्रह्मदेवटीका २/१११, ४

१ जह दीवो गब्भहरे मारुयबाहा-विवज्जिओ जलइ ।
तह रायानिलरहिओ झाणपईवो वि पज्जलई ।। भावपाहुड/गाथा १२२

२. रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम् ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्व नेतरो जन ।। समाधितन्त्र/श्लोक ३५

३ तवसुदवदव चेदा झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होइ ।। बृहद्द्रव्यसंग्रह/गाथा ५७

४. मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ७/पृ० २३०

(निर्विकल्प समाधि) को प्राप्त करने की भूमिका निर्मित होती है, उसके बिना नही। अव्रतो मे रहकर निर्विकल्प समाधि मे नही पहुँचा जा सकता। यद्यपि व्रतो मे स्थिर रहकर भी निर्विकल्प समाधि प्राप्त नही की जा सकती, तथापि यह विशेषता है कि व्रतसाधना मे तो निर्विकल्प समाधि की भूमिका निर्मित होती है, किन्तु अव्रतो से कदापि नही।[१]

व्रत-तपश्चरणादि से शुद्धात्मभावना का सामर्थ्य आता है। यह आचार्य जयसेन के निम्नलिखित कथन से प्रमाणित है —

"यस्तु शुद्धात्मभावनासाधनार्थं बहिरङ्गव्रततपश्चरणपूजादिक करोति स परम्परया मोक्ष लभते।"[२]

शुद्धात्मभावना की साधना के लिये बहिरग व्रततपश्चरणादि किये जाते हैं। व्रततपश्चरणादि से सीधे शुद्धात्मभावना की सिद्धि नही होती। अत: यही तात्पर्य फलित होता है कि व्रततपश्चरणादि शुद्धात्मभावना की साधना करने योग्य सामर्थ्य उत्पन्न करते है। आचार्य अमृतचन्द्र का भी मत है कि महाव्रतादि चारित्राचार तथा अनशनादि 'तप आचार' से शुद्धात्म-प्राप्ति सम्भव होती है।[३]

आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि शुभयोग मे स्थित होने से अशुभयोग छूटता है, फिर शुद्धोपयोग मे स्थित होने पर शुभयोग का निरोध होता है।[४] निष्कर्ष यह कि शुभोपयोग मे दृढ़ होने के बाद ही शुद्धोपयोग सम्भव होता है, अशुभोपयोग की दशा मे नही। प० टोडरमलजी का कथन है कि सम्यग्दृष्टि आत्मा को शुभोपयोग होने पर शुद्धोपयोग शीघ्र सम्भव होता है।[५] इन कथनो से स्पष्ट है कि शुभोपयोग से शुद्धोपयोग मे पहुँचने की क्षमता का आविर्भाव होता है। जैसे बी० ए० उत्तीर्ण हो जाने पर व्यक्ति मे एम० ए० की कक्षा मे पहुँचने की योग्यता आ जाती है और यदि वह उसमें प्रवेश लेना चाहे तो, उसे प्रवेश शीघ्र मिल सकता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि मे शुभोपयोग की स्थिति का निर्माण हो जाने पर शुद्धोपयोग की

---

१ अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठित‌ः ।
त्यजेत्तान्यपि सम्प्राप्य परम पदमात्मन ।। समाधितन्त्र/श्लोक ८४

२ समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १४६

३ "अहो ! मोक्षमार्गप्रवृत्तिकारणपञ्चमहाव्रतलक्षणचारित्राचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वा तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धात्मानमुपलभे।
प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका ३/२

४ सुहजोगस्स पवित्ती सवरण कुणदि असुहजोगस्स ।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण सभवदि ।। बारसाणुवेक्खा/गाथा, ६३

५. मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ७/पृ० २५६

सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है और उस समय यदि वह शुद्धोपयोग का प्रयत्न करे, तो शीघ्र हो सकता है। शुभोपयोग शुद्धोपयोग की क्षमता का जनक इसलिए है कि वह शुद्धोपयोग के प्रबलतम बाधक अशुभोपयोग का निरोध करता है। अत: शुभोपयोग शुद्धोपयोग की क्षमता का जनक होने से उसका साधक है।

रोग की अल्पता से रोगनिवृत्ति सुकर

इसमे सन्देह नहीं कि शुभोपयोग आत्मा की शुद्धावस्था नही है, मन्दराग की अवस्था है। अत: जैसे अल्परोग नीरोगता का जनक नही है, वैसे ही मन्दराग वीतरागता का जनक नही है। किन्तु, जैसे रोग की अल्पता होने पर रोगनिवृत्ति सुसाध्य हो जाती है, वैसे ही राग की मन्दता होने पर वीतरागता सुसाध्य हो जाती है।[1]

यह प्रत्येक के अनुभव की बात है कि अधिक मैले वस्त्र की अपेक्षा कम मैले वस्त्र को शीघ्र साफ किया जा सकता है, अधिक अज्ञानी की अपेक्षा कम अज्ञानी को सरलता से समझाया जा सकता है और मोटी बेड़ी की अपेक्षा पतली बेड़ी को आसानी से तोड़ा जा सकता है। इसी प्रकार मन्दराग की अवस्था से वीतरागता मे पहुँचना भी सुकर हो जाता है। इस रीति से व्यवहारधर्म निश्चयधर्म के सामर्थ्य का जनक है, अत: दोनो मे साध्य-साधकभाव है।

ग्रहण और त्याग दोनों आवश्यक

उपर्युक्त तथ्य के प्रकाश मे यह निर्विवाद है कि शुभोपयोग करते-करते ही शुद्धोपयोग नही होता। यदि ऐसा हो, तो अशुभोपयोग करते-करते ही शुभोपयोग होने का प्रसग उपस्थित होगा। दोनो की प्रकृति सर्वथा भिन्न-भिन्न है। भिन्न कारण से भिन्न कार्य उत्पन्न नही होता। शुद्धोपयोग के उपादान से ही शुद्धोपयोग उत्पन्न हो सकता है। अत: शुद्धोपयोग के लिये शुभोपयोग छोड़ना आवश्यक है। किन्तु, छोड़ने के पहले ग्रहण करना भी आवश्यक है, क्योंकि उससे शुद्धोपयोग का अवलम्बन करने की क्षमता आती है। जहाँ यह सत्य है कि निचली कक्षा को छोड़े बिना ऊँची कक्षा मे प्रवेश नही किया जा सकता, वहाँ यह भी सत्य है कि निम्न कक्षा के पाठ्यक्रम को उत्तीर्ण किये बिना उच्च कक्षा मे प्रवेश की पात्रता नहीं आती। इसी प्रकार जहाँ यह सत्य है कि शुभोपयोग को छोड़े बिना शुद्धोपयोग का अवलम्बन सम्भव नही है, वहाँ यह भी सत्य है कि शुभोपयोग की अवस्था प्राप्त किये बिना शुद्धोपयोग के अवलम्बन की क्षमता आना सम्भव नही है।

ग्रहण करना और छोड़ना दोनों आवश्यक हैं। गन्तव्य तक पहुँचने के लिये

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ७/पृ० २५६

जक्शन पर हमे एक रेलगाड़ी को छोड़ना और दूसरी को पकड़ना आवश्यक होता है, किन्तु जिस गाड़ी को छोड़कर दूसरी गाड़ी पकड़ते है, उसे यदि पहले न पकड़ा जाय, तो दूसरी गाड़ी तक पहुँचना ही सम्भव न हो पाएगा। इसी प्रकार शुद्धोपयोग मे आने के लिये शुभोपयोग को छोड़ना होता है, किन्तु उसके पहले यदि शुभोपयोग का अवलम्बन न किया जाय, तो शुद्धोपयोग मे आने की क्षमता ही उत्पन्न न हो पायेगी। इस प्रकार शुभोपयोगरूप व्यवहारमोक्षमार्ग जीव को शुद्धोपयोगरूप निश्चय-मोक्षमार्ग के निकट पहुँचानेवाला साधन है, जिससे उनमे साध्य-साधकभाव सिद्ध होता है और साध्य-साधकभाव से परस्परसापेक्षता फलित होती है।

व्यवहारधर्म आंशिक शुद्धि का हेतु

पूर्वोक्त विद्वानो का यह कथन समीचीन नही है कि शुभ परिणाम आशिक शुद्धि का भी कारण नही है।[१] शुभ-परिणाम के द्वारा व्यक्ति पाप से निवृत्त होता है और पुण्यबन्ध करता है। इससे पापरूपी अशुद्धता नष्ट हो जाने से आशिक शुद्धता उत्पन्न होती है। यदि पाप अशुद्धता है तो उसके हटने से आशिक शुद्धता कैसे उत्पन्न नही होगी ? विषयानुराग की निवृत्ति से आशिक शुद्धता आती है। वस्त्र का आधा मैल धुल जाने पर क्या वह आधा स्वच्छ नही हो जाता ? आधा रोग कम हो जाने पर क्या आधी नीरोगता नही आती ? अशुभ और शुभ ये दो ही अशुद्धताये तो आत्मा मे है। क्या अशुद्धता का एक अश कम होने से आशिक शुद्धता का आविर्भाव नही होता ?

श्री ब्रह्मदेव सूरि का कथन है कि शुभोपयोग से पापास्रव का सवर होता हैं।[२] प० टोडरमल जी का भी मत है कि शुभप्रवृत्ति से वैराग्यभाव की वृद्धि होती है, जिससे कामादि वासनाएँ क्षीण होती है और क्षुधा, पिपासा आदि मे भी अल्प क्लेश होता है। इसलिये शुभोपयोग का अभ्यास करना चाहिये।[३] पडित जी ने स्पष्ट कहा है कि तत्त्वचिन्तन (जो कि शुभोपयोग है) से परिणाम विशुद्ध होते है और सम्यक्त्वप्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।[४]

---

१ जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग२/पृ० ७८०

२ "निश्चयरत्नत्रयसाधक-व्यवहाररत्नत्रयरूपस्य शुभोपयोगस्य प्रतिपादकानि यानि वाक्यानि तानि पापास्रवसवरकारणानि ज्ञातव्यानि।" बृहद्द्रव्यसग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा ३५

३ मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ७/पृ० २०५

४ "(तत्त्व) निर्णय का पुरुषार्थ करे तो भ्रम का कारण जो मोहकर्म, उसके भी उपशमादिक हो, तब भ्रम दूर हो जाये, क्योंकि निर्णय करते हुये परिणामो की विशुद्धता होती है, उससे मोह के स्थिति-अनुभाग घटते हैं।"

मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ७/पृ० ३१२

श्री अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है कि जैसे रजक जल, शिलातल आदि भिन्न साधनों से वस्त्र को साफ करता है उसी प्रकार स्वात्मा से भिन्न जीवादि तत्त्वो के श्रद्धान, ज्ञान और व्रतादि-साधना से आत्मा का संस्कार होता है और क्रमशः विशुद्धि आती है।[1] वे अन्यत्र भी कहते हैं कि यद्यपि पञ्चाचार आत्मा के स्वभाव नही हैं तथापि उनके द्वारा परम्परया शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है।[2] प० आशाधर जी का भी मत है कि निश्चयधर्म मे अनुराग के कारण जो क्रिया उत्पन्न होती है, वह अभ्युदय का हेतु होने से धर्म है। उससे नये पाप का निरोध और पुराने का विनाश होता है।[3]

यह तो निर्विवाद है कि सात तत्त्वो के चिन्तन, जिनबिम्बदर्शन, सत्संग, अनुकम्पा आदि से परिणामो मे जो निर्मलता आती है वह मिथ्यात्वादि सप्त प्रकृतियो के उपशमादि और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मे हेतु बनती है।

इन सब प्रमाणो और युक्तियो से स्पष्ट है कि शुभपरिणामो से आत्मा मे आशिक शुद्धि आती है और यत· शुभपरिणाम आत्मा की आशिक शुद्धि के हेतु है, अत सिद्ध होता है कि व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग का परम्परया साधक है, फलस्वरूप उनमे परस्परसापेक्षता है।

सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग में धर्म का अंश

आचार्यों ने सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग को परम्परया मोक्ष का साधक कहा है।[4] इससे स्पष्ट है कि सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग और मिथ्यादृष्टि के शुभोपयोग मे अन्तर है। अन्तर यह है कि प्रथम वैराग्यभावयुक्त (आसक्तिरहित) होता है और द्वितीय रागभावयुक्त (आसक्तिसहित)। अत. सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग मे वैराग्यभावरूप शुद्धता या धर्म का अश होता है। किन्तु, निश्चय-मोक्षमार्ग और व्यवहार-मोक्षमार्ग मे साध्य-साधकभाव का निषेध करने के लिये पूर्वोक्त विद्वान इसे स्वीकार नही करते। वे मानते है कि सम्यक्त्वसहित शुभोपयोग मे शुद्धता का अंश नहीं है। जो उसमे शुद्धता का अंश मानते हैं, उनकी मान्यता को भ्रान्त सिद्ध करते हुये वे कहते हैं —

"अपरपक्ष ने सम्यग्दर्शनरूप शुद्धभाव और कषायरूप (शुभरागरूप)

---

१ पञ्चास्तिकाय/तत्त्वप्रदीपिका/गाथा १७२

२ प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका ३/२

३ निरुन्धति नव पापमुपात्त क्षपयत्यपि ।
धर्मेऽनुरागाद्यत्कर्म स धर्मोऽभ्युदयप्रद· ।। अनगारधर्मामृत १/२४

४. प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति ३/५५

अशुद्धभाव इन दोनो शुद्धाशुद्धभावो के मिश्रितरूप उपयोग को शुभोपयोग लिखा है, किन्तु उस पक्ष का यह लिखना ठीक नही है, क्योंकि सम्यग्दर्शन श्रद्धा की स्वभावपर्याय है और राग चारित्रगुण की विभावपर्याय। इन दोनो का मिश्रण बन ही नहीं सकता।[१]

किन्तु सम्यक्त्वसहित शुभोपयोग के उक्त लक्षण को भ्रान्त सिद्ध करनेवाले कथित विद्वानों ने सम्यग्दर्शनरूप शुद्धभाव के तात्पर्य को हृदयगम नही किया, अत: उनका उपर्युक्त मत समीचीन नही है। शुभोपयोग के सन्दर्भ मे सम्यग्दर्शनरूप शुद्धभाव से तात्पर्य उस आशिक वीतरागत्व से है जो अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क के उपशमादि से प्रकट होता है और जिस पर सम्यग्दर्शन की अभिव्यक्ति अवलम्बित होती है। उसके बिना सम्यग्दर्शन सम्भव नही है, अत: उसके साथ सम्यग्दर्शन का अविनाभावसम्बन्ध है।[२] फलस्वरूप सम्यग्दर्शनरूप शुद्धभाव से वही आशिक वीतरागभाव विवक्षित है। वह चारित्रगुण की पर्याय है। उसके साथ उस अशुद्ध भाव (शुभराग) के मिश्रण मे कोई बाधा नही है जो अन्य अवशिष्ट कषायो के उदय से उत्पन्न होता है। इसी अपेक्षा से यह कथन सगत है कि सम्यग्दर्शनरूप शुद्धभाव और कषायरूप अशुद्धभाव इन दोनो का मिश्रित उपयोग शुभोपयोग है। इसी को दृष्टि मे रखकर आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है —

"साधक जितने अश मे सम्यग्दृष्टि है, उतने अश मे उसे कर्मबन्ध नही होता, जितने अश मे राग है, उतने अश मे कर्मबन्ध होता है।"[३]

सम्यग्दर्शन का अविनाभावी वीतरागभाव ही मोक्ष की दृष्टि से प्रधान है। इसका लक्षण है ससार, शरीर और भोगो के प्रति वैराग्यभाव। इसके होने पर सम्यग्दृष्टि को कर्मोदय के निमित्त से जो विषयभोग प्राप्त होता है तथा अप्रत्याख्यानावरणादि कषायो के उदय से वह जो शुभराग करता है, दोनो भोगाकाक्षा से रहित होते हैं, अत: सम्यग्दृष्टि को दीर्घ ससार का बन्ध नही होता।[४]

इस वैराग्यभाव (समभाव) को ही आचार्य कुन्दकुन्द ने धर्म कहा है।[५]

---

१ (क) जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ७९७
(ख) वही, २/७४६

२. "अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनिता रागद्वेषमोहा: सम्यग्दृष्टेर्न सन्ति।" समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १७७

३ येनाशेन सुदृष्टिस्तेनाशेनास्य बन्धन नास्ति ।
येनाशेन तु रागस्तेनाशेनास्य बन्धन भवति ।। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/कारिका २१२

४. "विरागस्योपभोगो निर्जरायै एव।" समयसार/आत्मख्याति/गाथा १९३

५ "धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।" प्रवचनसार १/७

सम्यग्दर्शन इसका अविनाभावी है, अतः सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल[1] कहने से वैराग्यभाव धर्म का मूल सिद्ध होता है। इसे उन्होने सम्यक्त्वाचरणचारित्र की भी संज्ञा दी है और मोक्ष का हेतु बतलाया है। इसके होने पर जीव शुभोपयोगी भी हो सकता है, शुद्धोपयोगी भी। इसीलिये उन्होने कहा है —

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसपयोगजुदो ।
पावदि णिव्वाणसुह सुहोवजुत्तो व सग्गसुह ।।[2]

— धर्मपरिणत आत्मा यदि शुद्धोपयोगयुक्त होता है, तो निर्वाणसुख प्राप्त करता है, यदि शुभोपयोगयुक्त होता है, तो स्वर्गसुख पाता है।

इससे स्पष्ट है कि सम्यग्दृष्टि आत्मा शुभोपयोग की अवस्था मे भी धर्म-परिणत होता है। आचार्य अमृतचन्द्र का भी कथन है कि शुभोपयोग का धर्म के साथ एकार्थसमवाय है।[3] वस्तुतः जब सम्यग्दृष्टि का विषयभोग भी वैराग्यभावयुक्त हो सकता है, तब शुभोपयाग कैसे नही हो सकता ? अतः यह निर्विबाद है कि सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग मे अनन्तानुबन्धी कषायो के उपशमादि से उत्पन्न आशिक शुद्धभाव एव अप्रत्याख्यानावरणादि कषायो के उदय से उत्पन्न अशुद्धभाव का मिश्रण होता है। इसी कारण सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग की प्रकृति मिथ्यादृष्टि तथा सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टि के शुभोपयोग से भिन्न होती है और इसी कारण वह अशुभोपयोग के निरोध द्वारा आशिक शुद्धि उत्पन्न करते हुए शुद्धोपयोग की भूमिका का निर्माण करता है तथा ससारस्थिति का छेद करता है।[4] इस प्रकार वह परम्परया मोक्ष का साधक बनता है। अतः निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग मे परस्पर सापेक्षता है।

मात्र पुण्यबन्ध नहीं, परम्परया मोक्ष भी

चर्चित विद्वानो का यह कथन भी नितान्त एकान्तवादी है कि शुभपरिणाम मात्र बन्ध का कारण होने से मोक्षमार्ग मे हेय है।[5] भगवान् कुन्दकुन्द ने स्पष्ट कहा है कि शुभोपयोग पात्र के अनुसार फल देता है।[6] इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य

---

१ "दसणमूलो धम्मो।" दसणपाहुड/गाथा २

२ प्रवचनसार १/११

३ "अस्ति तावच्छुभोपयोगस्य धर्मेण सहैकार्थसमवाय·।"
प्रवचनसार/तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति, ३/४५

४ "· · ·संसारस्थितिविच्छेदकारण विषयकषायोत्पन्नदुर्ध्यानविनाशहेतुभूतं च परमेष्ठि-सम्बन्धिगुणस्मरणदानपूजादिक कुर्युरिति।" परमात्मप्रकाश/ब्रह्मदेवटीका, २/६१

५ जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ७८०

६ रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं ।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ।। प्रवचनसार ३/५५

जयसेन कहते है —

"जैसे जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भूमि के अनुसार एक ही प्रकार के बीज भिन्न-भिन्न फल देते हैं, वैसे एक ही शुभोपयोग साधक की भूमिका के अनुसार भिन्न-भिन्न फल देता है। अभिप्राय यह है कि जब सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग होता है, तब मुख्यरूप से तो पुण्बन्ध होता है और परम्परया निर्वाण की प्राप्ति होती है। यदि शुभोपयोग सम्यक्त्वसहित नही होता, तो पुण्यबन्धमात्र होता है।[1]

भगवान् कुन्दकुन्द ने शुभोपयोग को गृहस्थो के लिये उत्कृष्टचर्या तथा निर्वाणसुख का परम्परया हेतु बतलाया है।[2] यह निर्वाणसुख का परम्परया हेतु किस प्रकार है इसका दृष्टान्त द्वारा निरूपण करते हुए अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं —

"गृहस्थो मे समस्त विरति का अभाव होने से शुद्धात्मा की अनुभूति नही होती, कषाय के सद्भाव से शुभोपयोग की प्रवृत्ति होती है। तथापि जैसे ईंधन स्फटिक के सम्पर्क से सूर्य के तेज को ग्रहण कर लेता है, वैसे ही प्रशस्तराग के सयोग से साधक भी क्रमश शुद्धात्मा की अनुभूति तक पहुँच जाता है और परम्परया निर्वाण सुख प्राप्त करता है। अत· गृहस्थो मे शुभोपयोग की मुख्यता है।[3]

प्रशस्तराग (शुभोपयोग) के द्वारा गृहस्थ शुद्धात्मा की अनुभूति तक कैसे पहुँच जाता है, इसका विवेचन पूर्व मे "व्यवहारधर्म निश्चयधर्म की सामर्थ्य का जनक" शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है।

सम्यग्दृष्टि आत्मा शुभोपयोग का अवलम्बन सासारिक सुखो की वाछा से नही करता, अपितु शुद्धात्मानुराग से करता है। इसीलिये उसके अनीहित पुण्यास्रव होता है, जो अल्पलेप (अल्पकर्मबन्ध) का हेतु है[4] और इस कारण वह ससार-

---

१ "यथा जघन्यमध्यमोत्कृष्टभूमिवशेन तान्येव बीजानि भिन्नभिन्नफल प्रयच्छन्ति तथा स एव बीजस्थानीयशुभोपयोगो भूमिस्थानीय-पात्रभूतवस्तुविशेषेण भिन्नभिन्नफल ददाति। तेन कि सिद्धम् ? यदा पूर्वसूत्रकथितन्यायेन सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति परम्परया निर्वाण च, नोचेत्पुण्यबन्धमात्रमेव।"

प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति ३/५५

२ एसा पसत्थभूदा समणाण वा पुणो धरत्थाण ।
चरिया परे त्ति भणिदा ता एव पर लहदि सोक्ख ।। वही, ३/५४

३ "गृहिणा तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्मप्रकाशनस्याभावात् कषायसद्भावात् प्रवर्तमानोऽपि स्फटिकसम्पर्केणार्कतेजस इवैधसा रागसयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवात् क्रमत परमनिर्वाण-सौख्यकारणत्वाच्च मुख्य ।" वही/तत्त्वप्रदीपिका ३/५४

४ जोण्हाण णिरवेक्ख सागारणगारचरियजुत्ताणं ।
अणुकपयोवयार कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ।। वही, ३/५१

स्थिति का छेदक है।[1]

श्रीमद्देवसेन का मत है कि "सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से ससार का कारण नहीं होता, अपितु परम्परा से मोक्ष का हेतु होता है, क्योंकि वह पुण्य निदानपूर्वक (भोगाकांक्षापूर्वक) नही किया जाता।"[2]

परम्परा दो प्रकार की होती है — एक तो व्यवहाररत्नत्रय द्वारा गुणस्थानो मे क्रमश. उन्नति करते हुए उसी भव मे मोक्ष प्राप्त करना, दूसरी वर्तमान भव मे किये गये उत्कृष्ट पुण्यो के फलस्वरूप अगले भव मे मोक्ष के अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्तकर मोक्ष पाना।[3] भवान्तर मे मोक्ष-प्राप्ति किस प्रकार होती है, इसका वर्णन आचार्य जयसेन ने पञ्चास्तिकाय गाथा १७० की टीका मे विस्तार से किया है।

निष्कर्ष यह कि सम्यक्त्वसहित शुभोपयोग मात्र बन्ध का कारण नही है। उसके दोनो पक्ष हैं। उससे अशुभराग की निवृत्ति द्वारा आत्मविशुद्धि होती है, जिससे शुद्धात्मभाव मे स्थित होने योग्य क्षमता प्राप्त होती है तथा पुण्यबन्ध भी होता है, किन्तु ऐसा पुण्यबन्ध होता है जो ससारस्थिति का छेदक है और अगले भवो मे मुक्ति की साधनायोग्य परिस्थितियाँ जुटाता है। इस प्रकार सम्यक्त्वसहित शुभोपयोग के परम्परया मोक्षसाधक होने से निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग मे साध्य-साधकभावरूप परस्परसापेक्षता है।

निश्चयधर्म के पूर्व भी व्यवहारधर्म

उक्त विद्वानो का यह कथन भी आगमसम्मत नही है कि निश्चयधर्म के पूर्व व्यवहारधर्म होता ही नही।[4] जब व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का हेतु है, तो उसके पूर्व तो होगा ही। ऐसी तो कल्पना भी नही की जा सकती कि पहले साधक आत्मध्यान

---

१ परमात्मप्रकाश/ब्रह्मदेवटीका २/६१

२. सम्मादिट्ठीपुण्ण ण होइ ससारकारण णियमा।
मोक्खस्य होई हेउ जइ वि णिदाण ण सो कुणइ ।। भावसग्रह/गाथा ४०४

३ (क) सा खलु दुविहा भणिया परपरा जिणवरेहि सव्वेहिं ।
तब्भवगुणठाणे वि हु भवतरे होदि सिद्धिपरा ।।

द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र/गाथा ३४१ पर उद्धृत

(ख) "य· कोऽपि शुद्धात्मानमुपादेय कृत्वा आगमभाषया मोक्ष वा, व्रततपश्चरणादिक करोति स निदानरहितपरिणामेन सम्यग्दृष्टिर्भवति, तस्य तु संहननशक्त्या-भावाच्छुद्धात्मस्वरूपे स्थातुमशक्यत्वाद् वर्तमानभवे पुण्यबन्ध एव, भावान्तरे तु परमात्मभावनास्थिरत्वे सति नियमेन मोक्षो भवति।।"

पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १७१

४ जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग १/पृ० १५७

मे लीन हो जाय, बाद मे 'आत्मा है क्या वस्तु' इसका ज्ञान करे, पहले निर्विकल्प समाधि मे पहुँच जाय, तत्पश्चात् वहाँ तक पहुँचने के बाह्य उपायो का अवलम्बन करे, पहले वीतरागी हो जाय फिर वीतरागता मे बाधक अशुभराग को दूर करने हेतु शुभराग करे। क्या कभी ऐसा होता है कि रोगी पहले नीरोग हो जाय तदनन्तर ओषधि का सेवन करे ? निश्चयधर्म के पूर्व व्यवहारधर्म न मानना ऐसी ही कल्पना है।

चर्चित विद्वज्जनो का यह मत समीचीन नही है कि निश्चयधर्म के साथ होने वाली पुण्यपरिणतिरूप बाह्यक्रिया को ही आगम मे व्यवहारधर्म कहा गया है।[1] आगम मे तो निश्चयधर्म की सिद्धि मे सहायक बनने वाली साधना को व्यवहारधर्म सज्ञा दी गयी है। यह आचार्य जयसेन के निम्नलिखित वचनो से स्पष्ट है —

"एकादशाग शब्दागम का अभ्यास ज्ञान का आश्रय होने से व्यवहारनय से ज्ञान है। जीवादि नव पदार्थों का श्रद्धान सम्यक्त्व का निमित्त होने से व्यवहारनय से सम्यक्त्व है। षट्कायिक जीवो की रक्षा चारित्र का आश्रय होने से व्यवहारनय से चारित्र है।"[2]

प० टोडरमल जी ने भी स्पष्टरूप से कहा है कि आगमज्ञान, जीवादितत्त्वो का श्रद्धान तथा व्रतादि क्रियाएँ तभी व्यवहाररत्नत्रय कहला सकती है जब वे निश्चयरत्नत्रय की सिद्धि मे हेतु बने।[3]

निश्चयधर्म के साथ होने वाली पुण्यपरिणतिरूप बाह्यक्रिया को आगम मे व्यवहारधर्म इसलिये कहा गया है कि वह शुद्धोपयोगरूप निश्चयधर्म की साधक है।[4] यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि निश्चयधर्म दो प्रकार का होता है — लब्धि-

---

१ जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग १/पृ० १५७

२ "एकादशाङ्गशब्दशास्त्र ज्ञानस्याश्रयत्वात् कारणत्वाद् व्यवहारेण ज्ञान भवति। जीवादिनवपदार्थ· श्रद्धानविषय· सम्यक्त्वाश्रयत्वान्निमित्तत्वाद्, व्यवहारेण सम्यक्त्व भवति। षट्जीवनिकायरक्षा चारित्राश्रयत्वाद्हेतुत्वाद् व्यवहारेण चारित्रं भवति।"

समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा २७६

३ "व्यवहार तो उपचार का नाम है, सो उपचार भी तो तब बनता है जब वे (आगमज्ञानादि) सत्यभूत निश्चयरत्नत्रय के कारणादिक हो। जिस प्रकार निश्चयरत्नत्रय सध जाये उसी प्रकार इन्हे साधे तो व्यवहारपना भी सम्भव हो। परन्तु इसे तो सत्यभूत निश्चयरत्नत्रय की पहचान ही नही हुई, तो यह इस प्रकार कैसे साध सकेगा ?"

मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ७/पृ० २५७

४ "शुद्धोपयोगसाधके शुभोपयोगे स्थिताना तपोधनानाम्।"

प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति ३/४७

रूप[1] और उपयोगरूप। अनन्तानुबन्धी आदि कषायचतुष्को के उपशमादि से प्रकट होनेवाला आंशिक वीतरागभाव लब्धिरूप निश्चयधर्म है तथा मोक्षप्राप्ति के लिये प्रयत्नपूर्वक किया जानेवाला शुद्धोपयोग (निर्विकल्प समाधि) उपयोगरूप निश्चयधर्म है। पुण्यपरिणतिरूप बाह्य क्रिया शुद्धोपयोग की अवस्था मे नही होती, क्योकि दोनो मे परस्पर विरोध है।[2] वह लब्धिरूप निश्चयधर्म की अवस्था मे, जब शुद्धोपयोग सम्भव नहीं होता, तब होती है। व्रतादि धारण करने का सामर्थ्य लब्धिरूप निश्चयधर्म से ही आता है।[3] अत: पुण्यपरिणतिरूप बाह्यक्रिया उसी से फलित होती है और उसी के साथ उसका (पुण्यपरिणतिरूप बाह्य क्रिया का) साहचर्य होता है और उसके साथ होने पर ही वह सम्यक् होती है।[4] इसी दृष्टि से यह कहा जाता है कि 'परिणाम सुधरने पर बाह्य क्रिया सुधरती ही है।'[5] अथवा निश्चय के साथ व्यवहार अपरिहार्य है। अन्तस्तल मे भावना होने पर बाह्य व्यवहार मे अवतरित हुये बिना नही रह सकती।[6] और इसी तथ्य के आधार पर पं० टोडरमल जी ने यह कहा है कि निश्चयधर्म के प्रकट हुए बिना जो व्रतादिधारण किये जाते हैं वे सफल नही होते। अत: जितने अश मे वीतरागता आई हो उतने ही अश मे व्रतादि ग्रहण करना चाहिए।[7] लब्धिरूप निश्चयधर्म से फलित होने वाली यह पुण्यपरिणतिरूप बाह्यक्रिया शुद्धोपयोगरूप निश्चयधर्म की सिद्धि मे सहायक होती है, जो कि मोक्ष का साधन है। इसी उद्देश्य से उसका बुद्धिपूर्वक अवलम्बन किया जाता है। इसीलिये आगम मे उसे व्यवहारधर्म कहा गया है।

लब्धिरूप निश्चयधर्म चतुर्थ गुणस्थान से आरम्भ होता है। उस आरम्भिक निश्चयधर्म की सिद्धि मे जो साधना सहायक होती है, उसे भी आगम मे व्यवहारधर्म

---

१ जैसे ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होने वाले ज्ञान को लब्धिरूपज्ञान कहा गया है, वैसे ही यहाँ अनन्तानुबन्धी आदि कषायो के उपशमादि से प्रकट होने वाले आशिक वीतरागभाव के लिए 'लब्धि' विशेषण का प्रयोग किया गया है।

२ "निर्विकल्पसमाधिकाले व्रताव्रतस्य स्वयमेव प्रस्तावो नास्ति।"

समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १५४

३ वही, गाथा १७७-१७८

४ रागादिक्षयतारतम्यविकसच्छुद्धात्मसंवित्सुख-
स्वादात्मस्वबहिर्बहिस्त्रसवधाद्यंहोव्यपोहात्मसु ।
सद्दृग्दर्शनिकादिदेशविरतिस्थानेषु चैकादश-
स्वेकं य: श्रयते यतिव्रतरतस्त श्रद्दधे श्रावकम् ।। सागारधर्मामृत १/१६

५. मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ८/पृ० २७९

६ द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र/प्रस्तवना/पृ० ४१

७. मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ७/पृ० २३८-२४०

की सज्ञा दी गयी है। इस प्रकार की साधना उक्त निश्चयधर्म की पूर्ववर्ती ही हो सकती है, सहवर्ती नही, क्योंकि उस समय उसकी (लब्धिरूप निश्चयधर्म की) अभिव्यक्ति ही नही हुई होती है। ऐसा होते हुए भी वह उसकी साधक होती है, अत: व्यवहारधर्म कहलाती है। प० टोडरमल जी के पूर्वोद्धृत वचनो से यह स्पष्ट है कि किसी भी साधना को व्यवहार-धर्म कहलाने के लिये निश्चयधर्म का सहवर्ती होना आवश्यक नही है, अपितु उसका इस प्रकार सम्पादन आवश्यक है कि वह निश्चयधर्म की सिद्धि मे सहायक बन सके। हाँ, उसके लिये निश्चयधर्म की पहचान अनिवार्य है, अन्यथा उक्त प्रकार से सम्पादन सम्भव नही है।[1] जब गन्तव्य का ही बोध न हो तो उस दिशा मे गमन कैसे हो सकता है ?

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपरभाव मे स्थित जीवो को व्यवहारनय द्वारा उपदेश्य बतलाया है[2] तथा आचार्य अमृतचन्द्र ने प्राथमिक साधको के लिये (जो कि मिथ्यादृष्टि होते है) जो सुखपूर्वक तीर्थावतरण मे सहायक होता है उस भिन्न-साध्यसाधनभाव को व्यवहारमोक्षमार्ग शब्द से अभिहित किया है[3] और प० जयचन्द्र जी ने सम्यग्दर्शन (जो लब्धिरूप निश्चयधर्म का अविनाभावी है) की प्राप्ति के लिये जिनवचनो के श्रवण, जिनबिम्बदर्शन, जिनगुरु की भक्ति, सत्संग आदि को आवश्यक बतलाया है और उसे व्यवहारमार्ग कहा है।[4] इन आर्ष प्रमाणो से सिद्ध है कि लब्धिरूप निश्चयधर्म के पूर्व की वह सम्पूर्ण साधना जो उक्त निश्चयधर्म की प्राप्ति मे सहायक होती है, व्यवहारधर्म कहलाती है। अत निश्चयधर्म के पूर्व भी व्यवहारधर्म होता है।

यह सत्य है कि जिस गुणस्थान का लब्धिरूप निश्चयधर्म प्रकट न हुआ हो, उस गुणस्थान का बाह्यधर्म धारण करना निरर्थक है। उसे व्यवहारधर्म नही कहा जा सकता, क्योंकि यह शुद्धोपयोग का साधक नही हो सकता। इसलिये आगम मे भावलिग (लब्धिरूप निश्चयधर्म) प्रकट हुये बिना जो अट्ठाईस मूलगुणरूप द्रव्यलिग (बाह्यधर्म) धारण किया जाता है, उसकी निन्दा की गयी है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि चतुर्थ गुणस्थान के पूर्व की साधना (जिनवचनश्रवण,

---

१ मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ७/पृ० २५७

२ (क) समयसार, गाथा १२

(ख) जैन अध्यात्म मे आध्यात्मिक विकास के चौदह स्तर माने गये हैं, उन्हे गुणस्थान कहते हैं। क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी ने प्रथम सात गुणस्थानो को अपरमभाव कहा है। जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश/भाग २/पृ० ५६४

३ पञ्चास्तिकाय/तत्त्वप्रदीपिका/गाथा १७२

४ समयसार/भावार्थ/गाथा १२

जिनबिम्बदर्शन आदि) जो उस गुणस्थान की प्राप्ति में सहायक होती है, निन्दनीय है या व्यवहारधर्म नही कहला सकती। प० टोडरमलजी के पूर्वोद्धृत वचनों[1] से स्पष्ट है कि यदि उस साधना को इस प्रकार साधा जाय कि वह चतुर्थ गुणस्थान या सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मे हेतु बन सके, तो वह अवश्य ही व्यवहारधर्म सज्ञा की पात्र होगी।

पूर्वनिर्दिष्ट विद्वज्जन यह तो मानते हैं कि चतुर्थगुणस्थान के लब्धिरूप निश्चयधर्म के पूर्व शुभक्रिया (शुभोपयोग) अनिवार्यत: होती है, क्योंकि उन्हे यह स्वीकार्य है कि निश्चयधर्म इसी क्रम से प्रकट होता है, किन्तु उनका कहना है कि उस समय निश्चयधर्म का अभाव होता है, अत· उसके अभाव में वह क्रिया सम्यक् नही होती, इसलिये व्यवहारधर्म सज्ञा की पात्रता नही रखती। फलस्वरूप निश्चयधर्म के पूर्व व्यवहारधर्म होता ही नही है।[2] हाँ निश्चयधर्म प्रकट हो जाने पर वही क्रिया सम्यक् हो जाती है और व्यवहारधर्म सज्ञा प्राप्त करती है। अत: निश्चयधर्म होने पर ही व्यवहारधर्म होता है।[3] इससे उक्त विद्वान् यह फलित करना चाहते हैं कि जब निश्चयधर्म के पूर्व व्यवहारधर्म होता ही नही है तो वह निश्चयधर्म का साधक कैसे हो सकता है ?

किन्तु यह मत सम्यक् नही है। यह सत्य है कि चतुर्थ गुणस्थान के पूर्व की शुभक्रिया सम्यग्दर्शन के अभाव मे मिथ्या मानी जाती है, किन्तु इससे यह सिद्ध नही होता है कि वह उक्त गुणस्थान के लब्धिरूप निश्चयधर्म की साधक नहीं है। इसका प्रमाण यह है कि यद्यपि सम्यग्दर्शन के पूर्व का तत्त्वज्ञान मिथ्या कहलाता है और सम्यक्त्व प्रकट होने पर ही वह सम्यग्ज्ञान नाम पाता है, तथापि वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का हेतु है, यह आगम से प्रमाणित है।[4] इसी प्रकार चतुर्थ गुणस्थान के लब्धिरूप निश्चयधर्म के पूर्व की शुभप्रवृत्ति भले ही सम्यक् न कहलाये, किन्तु वह उसकी साधक होती है और साधक होना ही व्यवहारधर्म कहलाने का हेतु है यह पूर्व मे निर्णीत हो चुका है। तथा वह कथचित् सम्यक् भी है, क्योंकि वह निश्चयसापेक्ष होती है अर्थात् आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से की जाती है। इसीलिये तो वह उक्त धर्म की साधक बन पाती है। निश्चयनिरपेक्ष शुभक्रिया निश्चयधर्म की साधक नही होती। आगम मे निश्चयसापेक्ष शुभप्रवृत्ति सम्यक् मानी गयी है, इसीलिये

---

१ मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ७/पृ० २५७

२ जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग १/पृ० १५७; १२२/भाग २/पृ० ५८९

३ वही, २/५८९

४. "स्वपरभेदविज्ञानमागमत: सिद्ध्यति।" प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति १/९०

उसे परम्परया मोक्ष का कारण कहा गया है।[1] अत· जहाँ सम्यग्दर्शन के अभाव मे चतुर्थ गुणस्थान के पूर्व की शुभक्रिया मिथ्या होती है, वही निश्चयसापेक्ष होने से सम्यक् भी है। इस प्रकार सिद्ध है कि निश्चयधर्म के पूर्व व्यवहारधर्म होता है।

चर्चित विद्वज्जन कहते हैं — "प्रथम गुणस्थान मे इस जीव के परद्रव्यभावो से भिन्न आत्मस्वभाव के सम्मुख होने पर जो विशुद्धि उत्पन्न होती है वह विशुद्धि ही असख्यातगुणी निर्जरा आदि का कारण है, परद्रव्यभावो मे प्रवृत्त हुआ शुभोपयोग-परिणाम नही। यह जीव जब कि मिथ्यादृष्टि है ऐसी अवस्था मे उसके शुद्धोपयोग के समान शुभोपयोग कहना भी उपयुक्त नही है, फिर भी वहाँ पर जो भी विशेषता देखी जाती है, वह आत्मस्वभाव-सन्मुख हुये परिणाम का फल है।"[2]

यह सत्य है, किन्तु प्रश्न है कि आत्मस्वभाव-सन्मुख होने मे आत्मा की पहचान आवश्यक है या नही ? उसके लिए मोह की मन्दता अनिवार्य है या नही ? और इसमे तत्त्वचिन्तन, जिनबिम्बदर्शन तथा अहिसादि शुभप्रवृत्तियो का योग रहता है या नही ? इसका निषेध नही किया जा सकता, क्योंकि आचार्य अमृतचन्द्र ने स्पष्ट कहा है कि प्राथमिक जन भिन्न साधनो का अवलम्बन कर सुखपूर्वक धर्ममार्ग मे अवतरित होते है और धीरे-धीरे मोह का उन्मूलन करते है।[3] इसका निर्देश पूर्व मे किया जा चुका है। मोक्षमार्गप्रकाशककार का भी कथन है कि शुभोपयोग से कर्म के स्थिति-अनुभाग घटते हैं, मोह मन्द होता है और सम्यक्त्व-प्राप्ति का पथ प्रशस्त होता है।[4]

निष्कर्ष यह कि आत्माभिमुख-परिणाम होने मे शुभप्रवृत्ति की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अत: वह चतुर्गुणस्थान के लब्धिरूप निश्चयधर्म की परम्परया साधक है। इसी कारण वह व्यवहारधर्म कहलाती है, जिससे सिद्ध होता है कि निश्चयधर्म के पूर्व व्यवहारधर्म होता है। फलस्वरूप दोनो मे साध्यसाधकभाव है और साध्य-साधकभाव होने से परस्पर सापेक्षता है।

निमित्तनैमित्तिक का समकालयोग अनिवार्य नहीं

उक्त विचारक निश्चयधर्म की पूर्ववर्ती साधना को निश्चयधर्म का निमित्त न मानने मे एक तर्क यह देते हैं कि दोनो का योग एक काल मे नहीं होता। वे कहते

१. "यदि निजशुद्धात्मैवोपादेय इति मत्वा तत्साधकत्वेन तदनुकूल तपश्चरण करोति, तत्परिज्ञानसाधक च पठति तदा परम्परया मोक्षसाधक भवति, नो चेत् पुण्यबन्धकारण-मेवेति।" परमात्मप्रकाश/ब्रह्मदेवटीका २/१९१

२ जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग १, पृ० १२२

३ पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा १७२

४. मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ७/पृ० २०५

हैं — "निमित्तनैमित्तिकयोग एक काल मे होता है। पहले निमित्त था, बाद मे नैमित्तिक हुआ, ऐसा कार्यकारणभाव नही है।"[१]

यह तर्क नितान्त एकान्तवादी है। व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का परम्परया निमित्त है, साक्षात् निमित्त नही। पारम्परिक निमित्त का नैमित्तिक के काल मे रहना अनिवार्य नही है। किसी कार्य की उत्पत्ति मे निमित्तो की एक लम्बी परम्परा होती है। ये सभी निमित्त उस कार्य की उत्पत्ति के काल मे विद्यमान नही रहते, तथापि उसके निमित्त होते हैं। उच्चतम कक्षा उत्तीर्ण करने मे प्राथमिक कक्षा का ज्ञान निमित्तभूत है, किन्तु क्या दोनो कक्षाओ के पाठ्यक्रम का अध्ययन एक ही काल मे होता है ?

परमात्मप्रकाश के टीकाकार श्रीब्रह्मदेव सूरि ने स्पष्ट शब्दो में कहा है कि व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग का भूतनैगमनय से परम्परया साधक होता है।[२] तात्पर्य यह कि पारम्परिक निमित्त का नैमित्तिक के काल मे सद्भाव आवश्यक नही है। वह भूतनैगमनय की अपेक्षा परम्परा से नैमित्तिक के काल मे उपस्थित माना जाता है। इस प्रकार उसे साधक कहना सगत होता है। पञ्चास्तिकाय, गाथा १७० की टीका मे आचार्य जयसेन ने यह अच्छी तरह दर्शाया है कि पूर्वभव की शुभोपयोग-साधना भवान्तर मे किस प्रकार परम्परया मोक्ष की साधक होती है। अत· उक्त विद्वज्जनो की यह धारणा समीचीन नही है कि निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म का समकालयोग न होने से उनमे साध्य-साधकभाव नही है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समकालयोग न होने पर भी उनमे साध्य-साधकभाव है। अतएव वे परस्पर सापेक्ष है।

यहाँ तक पूर्वोक्त विद्वज्जनो के उन भ्रान्तिपूर्ण तर्कों का खण्डन किया गया है जो उन्होने निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म मे निमित्तनैमित्तिकात्मक (कार्यकारणरूप) साध्य-साधकभाव को असिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये हैं। अब उक्त विद्वानो ने उपर्युक्त उद्देश्य से ही साध्यसाधकभाव की जो अन्यथा व्याख्याएँ की हैं उनका निराकरण किया जा रहा है।

सहचर-व्यवहारधर्म शुद्धोपयोगसाधक

निर्दिष्ट विद्वानो का कथन है कि आगम मे व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म

---

१ जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग १/पृ० १५७

२. "अत्राह शिष्य: —निश्चयमोक्षमार्गो निर्विकल्प तत्काले सविकल्पमोक्षमार्गो नास्ति कथ साधको भवतीति ? अत्र परिहारमाह — भूतनैगमनयेन परम्परया भवति।"
परमात्मप्रकाश/ब्रह्मदेवटीका २/१४

का साधक इसलिये नहीं कहा गया है कि वह निश्चयधर्म की सिद्धि मे सहायक है, अपितु "चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सविकल्पदशा मे व्यवहारधर्म निश्चयधर्म के साथ रहता है, इसलिए सहचर होने के कारण साधक (निमित्त) कहा गया है।"[१]

यह व्याख्या भ्रान्तिपूर्ण है। यद्यपि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सविकल्प दशा मे लब्धिरूप निश्चयधर्म के साथ व्यवहारधर्म अनिवार्यत· रहता है तथापि सहचरतामात्र से वह निश्चयधर्म का साधक नही कहलाता, अपितु वह शुद्धोपयोग सम्भव न होने की अवस्था मे मोहजनित विषय-कषायरूप दुर्ध्यान का निरोध कर शुद्धोपयोग की भूमिका का निर्माण करता है, इस कारण साधक कहलाता है। इसीलिये ब्रह्मदेवसूरि ने कहा है कि चतुर्थ, पञ्चम तथा षष्ठ गुणस्थानो मे परम्परया शुद्धोपयोग का साधक शुभोपयोग उत्तरोत्तर अधिक मात्रा मे रहता है।[२]

यदि मात्र सहचरता से व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म का साधक माना जाय तो साहचर्य तो चतुर्थ और पञ्चम गुणस्थानो मे विषयकषायभावो का भी रहता है तथा उच्चतर गुणस्थानो मे सूक्ष्म रागादिभावो का रहता है, क्या उन्हें भी निश्चयधर्म का साधक माना जा सकता है ? इसके अतिरिक्त जैसे व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म का साधक कहा जाता है, वैसे सहचर भाव के कारण क्या निश्चयधर्म को व्यवहारधर्म का तथा गुणस्थानानुसार रागादि भावो का साधक कहा जा सकता है ? यदि नही, तो क्या कारण है कि व्यवहारधर्म को ही सहचरभाव के कारण निश्चयधर्म का साधक कहा जाता है ? स्पष्ट है कि वह वास्तव मे शुद्धोपयोगरूप निश्चयधर्म का साधक है, इसीलिये साधक कहा जाता है।

अबाधकत्व साधकत्व नहीं है

चर्चित तत्त्वज्ञानियो ने निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म के साध्य-साधकभाव की दूसरी व्याख्या यह की है कि सम्यग्दर्शन हो जाने पर ज्ञान और वैराग्यशक्ति के कारण शुभभाव आत्मविशुद्धि तथा उसकी वृद्धि मे बाधक नहीं बन पाते। इसलिये उन्हें परम्परया मोक्ष का हेतु कहा गया है, वे आत्मविशुद्धि को उत्पन्न करते हैं, इसलिये नही।[३]

यह व्याख्या अद्भुत है। 'बाधक न बनने वाले तत्त्व को हेतु (साधक)

---

१ जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग १/पृष्ठ १२९

२. "ततोऽप्यसंयतसम्यग्दृष्टिश्रावकप्रमत्तसयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोगसाधक उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोगो वर्तते।" बृहद्द्रव्यसग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा ३४

३. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ७८०

कहते हैं —', हेतु की यह परिभाषा प्रथम बार सुनने मे आई है। समस्त शास्त्र इस बात के प्रमाण हैं कि कार्य में किसी भी प्रकार सहायता पहुँचाने वाले तत्त्व को ही हेतु कहते हैं। कोई वस्तु भले ही बाधा न पहुँचाये, किन्तु यदि वह कार्योत्पत्ति मे कोई योगदान नहीं करती, तो उसे हेतु (साधक) नही कहा जा सकता। जो शत्रु न हो उसे मित्र नही कहते, जिसमे मित्र के गुण होते हैं, उसे ही मित्र कहते हैं। क्या ऐसा व्यक्ति चिकित्सक कहलाता है जो रोगी की नीरोगता मे बाधा न डाले अथवा रोगी के रोग को दूर करने वाला व्यक्ति चिकित्सक कहलाता है ? यदि पहली बात सत्य हो, तो संसार के सभी मनुष्य किसी भी रोगी के चिकित्सक कहलाने लगेंगे, क्योंकि वे उसकी नीरोगता मे बाधा पहुँचाने नही जाते।

वस्तुत अबाधक तत्त्व को साधक नहीं कहते, अपितु जो बाधा दूर करता है उसे साधक (हेतु) कहते है। आचार्य विद्यानन्दी ने स्पष्ट कहा है कि यदि सहकारी कारण, कार्य की उत्पत्ति मे उपादान की असामर्थ्य का खण्डन न कर अकिञ्चित्कर बना रहता है, तो वह सहकारी कारण कैसे कहला सकता है ?[१] इससे प्रमाणित है कि जो तत्त्व उपस्थित बाधाओ को दूर करते हुए कार्य की सिद्धि में सहयोग देता है उसे ही आगम मे साधक या हेतु कहा गया है। अत· इसी दृष्टि से सर्वज्ञ ने शुभोपयोग को शुद्धोपयोग का हेतु कहा है। शुभपरिणाम विषयकषाय-जन्य दुर्ध्यान का निरोध कर शुद्धोपयोग की भूमिका का निर्माण करता है, इसलिए वह मात्र अबाधकता के कारण नही, अपितु बाधा दूरकर शुद्धोपयोग की सिद्धि मे सहायक बनने के कारण उसका साधक कहा गया है। यह आचार्यों के अनेक वक्तव्यो से प्रमाणित है।[२]

दूसरा प्रश्न यह है कि यदि शुभपरिणाम आत्मविशुद्धि मे अबाधक होने मात्र से परम्परया मोक्ष का साधक कहा जाता है, तो सम्यग्दृष्टि का भोग भी आत्मशुद्धि मे बाधक नही होता है (इसे उक्त विद्वान स्वय स्वीकार करते हैं)[३], उसे परम्परया

---

१. "तदसामर्थ्यमखण्डयदकिञ्चित्कर कि सहकारिकारण स्यात् ?"
अष्टसहस्री/पृष्ठ १०५ (जैनतत्त्वमीमासा की मीमासा, पृष्ठ २४७)

२. (क) "व्यवहारप्रतिक्रमण तु यदि शुद्धात्मानमुपादेय कृत्वा तस्यैव निश्चयप्रतिक्रमणस्य साधकभावेन विषयकषायवञ्चनार्थं करोति तदपि परम्परया मोक्षकारणं भवति।"
समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ३०६-३०७

(ख) "कोऽपि सम्यग्दृष्टिर्जीवो निर्विकल्पसमाधेरभावाद् अशक्यानुष्ठानेन विषयकषाय-वञ्चनार्थं यद्यपि व्रतशीलदानपूजादिशुभकर्मानुष्ठान करोति ··· ···।"
वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा २२४-२२७

३. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ७८०

मोक्ष का साधक क्यो नही कहा गया ? व्यवहारचारित्र मे विषयभोग का विधान क्यो नही किया गया ? सयम का ही विधान क्यो किया गया ? आचार्यों ने विषय-भोग को व्यवहारधर्म सज्ञा क्यो नही दी और निश्चयधर्म तथा विषयभोग मे साध्य-साधकभाव प्रतिपादित क्यो नही किया ? उन्होने व्रत-शील-सयमादि को ही व्यवहार-धर्म नाम क्यो दिया और उन्हे ही निश्चयधर्म का साधक क्यो बतलाया ? इसका एकमात्र समाधान यही है कि अबाधक होने मात्र से कोई वस्तु साधक नही कहलाती, अपितु कार्यसिद्धि मे बाधक तत्त्वो को दूरकर उसकी सिद्धि की प्रक्रिया को सुकर बनाने से साधक कहलाती है। शुभोपयोग उपर्युक्त प्रकार से शुद्धोपयोग के मार्ग की बाधा दूरकर उसका पथ प्रशस्त करता है, इसलिए उसे उसका साधक कहा गया है। विषयभोग ऐसा नही करता, इसलिए आचार्यों ने उसे शुद्धोपयोग का साधक नही कहा। अत चर्चित विद्वज्जनो का यह मत समीचीन नही है कि आत्म-विशुद्धि मे अबाधक होने से ही शुभोपयोग को शुद्धोपयोग या मोक्ष का साधक कहा गया है। तथ्य यह है कि यह शुद्धोपयोग के मार्ग की बाधा का निवारक है, इसलिए इसे साधक कहा गया है।

अवरोधनिवारकत्व के कारण ही नियतपूर्वभाव

कथित विद्वज्जनो ने साध्य-साधकभाव की एक व्याख्या यह की है कि शुद्धोपयोग के पूर्व शुभोपयोग होने का नियम है। मात्र इस क्रम के कारण व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म का साधक कहा गया है।[1] अर्थात् वे मानते हैं कि व्यवहारधर्म निश्चयधर्म की प्राप्ति मे अवरोधनिवारकरूप से कोई योगदान नही करता, बस निश्चय-धर्म के पूर्व उसके होने का नियममात्र रहता है।

यहाँ प्रश्न है कि जब वह निश्चयधर्म की प्राप्ति मे कोई योगदान नही करता, तो उसके पूर्व मे होने का नियम क्यो है ? जब वह अजागलस्तन के समान सर्वथा निरर्थक है, तो इससे सिद्ध है कि वह न होवे तो भी निश्चयधर्म की प्राप्ति हो सकती है, अर्थात् साधक अशुभोपयोग से सीधे शुद्धोपयोग का अवलम्बन कर सकता है। किन्तु, यह आगमविरुद्ध एव अनुभवविरुद्ध है। साधक के शुभोपयोग की अवस्था मे आए बिना शुद्धोपयोग सम्भव नहीं है, क्योंकि अशुभोपयोग की दशा शुद्धोपयोग के सर्वथा प्रतिकूल है। शुभोपयोग शुद्धोपयोग के अनुकूल भूमिका का निर्माण करता है, इसलिए उसका पूर्व मे आना निरर्थक न होकर सोद्देश्य होता है। अत: पूर्व मे आने मात्र से नही, अपितु शुद्धोपयोग मे सहायक होने से ही व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म का साधक कहा गया है।

---

१. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ५८९

ज्ञापकत्व साधकत्व नहीं है

निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म मे साध्य-साधकभाव की चर्चित विद्वानो ने जो व्याख्याये की हैं, उनमे एक यह है कि अन्तरग मे निश्चयधर्म (लब्धिरूप) प्रकट होने पर बाहर जो व्यवहारधर्म फलित होता है, उससे अन्तरग निश्चयधर्म (लब्धिरूप) ज्ञापित होता है। इस तरह व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का ज्ञापक है और निश्चयधर्म ज्ञाप्य। इस ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव को ही साध्य-साधकभाव कहा गया है।[1]

आगमवचनो की इससे अधिक भ्रान्त व्याख्या और कोई नहीं हो सकती। आचार्यों के वक्तव्य इसमे प्रमाण हैं कि निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म मे ज्ञाप्यज्ञापकभाव के कारण साध्य-साधकभाव नही कहा गया है, अपितु जैसे स्वर्ण की शुद्धि मे अग्नि बहिरग साधक होती है, मलिन वस्त्र के स्वच्छ होने मे जल साधक होता है तथा धान्य की उत्पत्ति मे भूमि, जल, उर्वरक आदि साधक होते है, वैसे ही निश्चयधर्म की सिद्धि मे व्यवहारधर्म साधक है, इसलिए उनमे साध्य-साधकभाव कहा गया है। आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है कि जैसे खान से निकले हुए अशुद्ध स्वर्ण मे अर्पित अग्नि शुद्ध स्वर्ण की साधक होती है, वैसे ही व्यवहारमोक्षमार्ग अशुद्धजीव को क्रमश· शुद्धभूमिकाओ (गुणस्थानो) मे प्रतिष्ठित करता हुआ शुद्धात्मानुभूतिरूप निश्चयमोक्षमार्ग का साधक होता है।[2]

तात्पर्य यह कि यद्यपि स्वर्णपाषाण स्वय शुद्ध स्वर्णरूप मे परिणत होता है, तथापि अग्नि बहिरग सहायक होती है, वैसे ही यद्यपि निश्चयनय से जीव स्वय शुद्धोपयोगरूप निश्चयमोक्षमार्ग मे परिणत होता है, तथापि व्यवहारमोक्षमार्ग उसमे बहिरग साधक होता है। यही बात आचार्य जयसेन ने सक्षेप मे निम्नलिखित शब्दो मे कही है –

"अय व्यवहारमोक्षमार्ग ··· ··· स्वर्णपाषाणस्याग्निरिव निश्चयमोक्षमार्गस्य बहिरङ्गसाधको भवति।"[3]

धान्य और बीजादि के समान साध्य-साधकभाव का वर्णन करते हुए प० आशाधर जी कहते हैं –

व्यवहारपराचीनो निश्चय यश्चिकीर्षति ।
बीजादिना विना मूढः स सस्यानि सिसृक्षति ।।[4]

---

१ जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ७९५

२. पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा १६० तथा १७२

३ वही/तात्पर्यवृत्ति/१६०

४. अनगारधर्मामृत १/१००

—जो व्यक्ति व्यवहारमोक्षमार्ग से विमुख होकर निश्चयमोक्षमार्ग प्राप्त करना चाहता है वह बीज, भूमि, जल, उर्वरक आदि के बिना धान्य उगाना चाहता है।

आचार्यों के ये वचन स्पष्ट करते हैं कि निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म मे साध्यसाधकभाव से क्या अभिप्राय है ? यदि उससे ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव अभिप्रेत होता, तो आचार्यगण ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव शब्द का ही प्रयोग करते और सर्वत्र यह कहते कि निश्चयधर्म को जानने के लिए व्यवहारधर्म को जानो, यह न कहते कि निश्चयधर्म की सिद्धि के लिए व्यवहारधर्म का अनुष्ठान करो।[1] आचार्यों ने यह कही नही कहा है कि जो निश्चयधर्म को जानने के लिए व्रत-तप आदि को जानता है वह परम्परया मोक्ष प्राप्त करता है। सर्वत्र यही कहा है कि जो निश्चयधर्म की साधना के लिए व्रत-तप आदि करता है वह परम्परया मोक्ष पाता है।[2]

अत चर्चित विद्वज्जनो की यह व्याख्या अत्यन्त हास्यास्पद है कि निश्चय-धर्म और व्यवहार धर्म मे जो ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव है उसे ही साध्य-साधकभाव कहा गया है। उपर्युक्त प्रमाणो से सिद्ध है कि अग्नि और सुवर्णपाषाण अथवा मलिन वस्त्र और जल मे जैसा कार्यकारणात्मक (निमित्त-नैमित्तिकभावरूप) साध्य-साधक-भाव है, वैसा ही साध्य-साधकभाव आचार्यों ने निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म में बतलाया है। ब्रह्मदेवसूरि ने उसे उदाहरणपूर्वक निम्नलिखित कथन मे स्पष्ट कर दिया है —

"प्राथमिकाना चित्तस्थिरीकरणार्थ विषयकषायदुर्ध्यानवञ्चनार्थं च परम्परया मुक्तिकारणमर्हदादिपरद्रव्य ध्येय पश्चात् चित्ते स्थिरीभूते साक्षान्मुक्तिकारण स्वशुद्धात्म-तत्त्वमेव ध्येयं नास्त्येकान्त । एव साध्य-साधकभाव ज्ञात्वा ध्येयविषये विवादो न कर्त्तव्य:।"[3]

—प्राथमिक अवस्था मे चित्त स्थिर करने तथा विषयकषायरूप दुर्ध्यान को रोकन के लिए परम्परया मुक्ति के कारणभूत अरहन्तादि पञ्चपरमेष्ठी ध्येय हैं। पश्चात् चित्त स्थिर हो जाने पर साक्षात् मुक्ति का हेतुभूत निजशुद्धात्मतत्त्व ही ध्येय है। इनमे से कोई एक ही सर्वथा ध्येय नही है। इस प्रकार दोनो ध्येयविषयो मे साध्य-साधकभाव जानकर ध्येय के विषय मे विवाद नही करना चाहिए (पञ्चपरमेष्ठी का ध्यान व्यवहारधर्म है तथा स्वशुद्धात्मा का ध्यान निश्चयधर्म।)।

---

१. "गृहस्थेनाभेदरत्नत्रयस्वरूपमुपादेय कृत्वा भेदरत्नत्रयात्मक श्रावकधर्म कर्त्तव्य।"
परमात्मप्रकाश/ब्रह्मदेवटीका २/१३३

२. "यस्तु शुद्धात्मभावनासाधनार्थं बहिरङ्गव्रततपश्चरणदानादिकं करोति स परम्परया मोक्ष लभते।" समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १४६

३. परमात्मप्रकाश/ब्रह्मदेवटीका २/३३

सूरिजी के इन वचनो से सम्यग्रूपेण अवगत हो जाता है कि निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म में जो कार्य-कारण भाव है, उसे ही आगम मे साध्य-साधकभाव कहा गया है, ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव को नही।

'सुद्धो सुद्धादेसो' गाथा का तात्पर्य

निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म मे ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव को ही साध्य-साधकभाव मानने के कारण निर्दिष्ट विद्वानो ने निम्नलिखित गाथा की भ्रान्तिपूर्ण व्याख्या की है —

सुद्धो सुद्धादेसो णयव्वो परमभावदरसीहि ।
ववहारदेसिदो पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ।।[1]

— परमभावदर्शियो को शुद्धात्मा का कथन करनेवाला शुद्धनय (निश्चय-नय) जानने योग्य है तथा जो अपरमभाव में स्थित हैं वे व्यवहार द्वारा उपदेश के योग्य हैं।

आचार्य जयसेन के अनुसार इसका तात्पर्य यह है कि जो साधक शुद्धोपयोग मे समर्थ हो गये हैं, उनके लिए शुद्धोपयोगरूप निश्चयधर्म ही उपयोगी है, किन्तु जो उसमे समर्थ नही हुए हैं, उनके लिए विषयकषायरूप दुर्ध्यान का निरोध करने हेतु शुभोपयोगरूप व्यवहारधर्म भी उपयोगी है।[2]

किन्तु, पूर्वोक्त विद्वान मानते हैं कि इस गाथा मे आचार्य कुन्दकुन्द ने यह कहा है कि शुद्धात्मभावदर्शी (शुद्धात्मा का अनुभव करनेवाले) जीव शुद्धात्मा का ही अनुभव करते हैं, किन्तु जो सविकल्पावस्था मे स्थित हैं उनके लिए अशुद्धात्मा का ज्ञान प्रयोजनवान है। प्रस्तुत गाथा का यह अभिप्राय ग्रहणकर उक्त विद्वज्जन कहते हैं कि इस प्रकार आचार्यों ने व्यवहारनय का विषय जानने के लिए तो प्रयोजनवान बतलाया है, पर आदर करने योग्य नही बतलाया।[3]

विद्वज्जनो द्वारा ग्रहण किया गया यह अभिप्राय नितान्त असमीचीन है। इसके निम्नलिखित कारण है —

प्रथम तो 'जो अपरमभाव मे स्थित हैं वे व्यवहारनय द्वारा उपदेश के योग्य

---

१. समयसार/गाथा, १२
२. "अत्र तु न केवल भूतार्थो निश्चयनयो निर्विकल्पसमाधिरताना प्रयोजनवान् भवति किन्तु निर्विकल्पसमाधिरहितानां पुनः ···· ···· केषाचित् प्राथमिकाना कदाचित् सविकल्पा-वस्थाया मिथ्यात्वविषयकषायदुर्ध्यानवञ्चनार्थं व्यवहारनयोऽपि प्रयोजनवान् भवतीति प्रतिपादयति।" वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १२
३. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग १/पृ० १५४

हैं' आचार्य कुन्दकुन्द के इस कथन का 'अपरमभाव (सविकल्पावस्था) मे स्थित जीवो के लिए अशुद्धात्मा का ज्ञान प्रयोजनवान है', यह अर्थ लेने का कोई आधार नही हैं, क्योकि व्यवहारनय का विषय केवल अशुद्धात्मा नही है, अपितु सम्पूर्ण व्यवहारनयात्मक उपदेश है, जिसमे व्यवहारमोक्षमार्ग भी समाविष्ट है और व्यवहार-मोक्षमार्ग का मात्र ज्ञान कर लेना कार्यकारी नही है, अपितु ज्ञान करके उसका अवलम्बन करना कार्यकारी है। ज्ञान आचरण के लिए ही आवश्यक होता है।

दूसरे, अपरमभाव मे स्थित जीवो के लिए अशुद्धात्मा का ही ज्ञान क्यो प्रयोजनवान है, शुद्धात्मा का ज्ञान क्यो प्रयोजनवान नही है ? इसका कोई समाधान नही है। ज्ञान तो प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आत्मा के शुद्ध-अशुद्ध दोनो रूपो का आवश्यक है। तभी तो आत्मा के पूर्ण (अनेकान्त) स्वरूप का बोध होगा और ज्ञाता की मोक्षमार्ग मे प्रवृत्ति हो सकेगी। केवल अशुद्धात्मा के ज्ञान से तो वह अशुद्धात्मा को ही शुद्धात्मा समझ बैठेगा, जिससे महान् अनर्थ होगा। प्राथमिक साधको को तो सर्वप्रथम शुद्धात्मा का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि वे अनादि से अपने अशुद्धस्वरूप को शुद्धस्वरूप समझते आ रहे हैं, इसीलिए कुन्दकुन्द ने समयसार के आरम्भ मे ऐसे जीवो को आत्मा का शुद्धस्वरूप दर्शाने की प्रतिज्ञा की है।[१] मात्र अशुद्धात्मा का ज्ञान किसी के लिए कैसे प्रयोजनवान हो सकता है ? यह समझ के बाहर है। अत आचार्य कुन्दकुन्द की उक्त गाथा का यह अर्थ निकालना कि अपरमभाव मे स्थित जीवो के लिए अशुद्धात्मा का ज्ञान प्रयोजनवान है, नितान्त विपरीत व्याख्या है।

वस्तुत: ज्ञान के विषय का तो ऐसा विभाजन हो ही नही सकता कि किसी को केवल निश्चयनय के विषय का ज्ञान प्रयोजनवान हो और किसी को केवल व्यवहारनय का, क्योकि इससे वस्तु के अनेकान्तस्वरूप का ज्ञान सम्भव नही है। इससे तो एकान्तवाद ही फलित होगा, जो जैनसिद्धान्त के विपरीत है और मिथ्यात्व का कारण है। हाँ, साधना के विषय का ऐसा विभाजन हो सकता है कि किसी के लिए निश्चयसापेक्ष व्यवहारनयात्मक साधना ही उपयोगी हो और किसी के लिए व्यवहारसापेक्ष निश्चयनयात्मक साधना ही, क्योंकि इसमे वस्तुस्वरूप को जानने का प्रश्न नही होता, अपितु मोक्षमार्ग के अवलम्बन का प्रश्न होता है जो साधक की क्षमता पर निर्भर है। क्षमतानुसार उक्त द्विविध साधनाओ का अवलम्बन भिन्न-भिन्न काल मे ही सम्भव है, एक ही काल मे नही। अत: साधना का पात्र के अनुसार विभाजन हो सकता है।

---

१ "त एयत्तविहत्तं दाएह अप्पणो सविहवेण।" समयसार/गाथा, ५

उक्त गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द ने साधना का ही पात्र के अनुसार निश्चय और व्यवहार दृष्टियों से विभाजन किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि जो शुद्धोपयोग मे समर्थ हो गये हैं उनके लिए शुद्धोपयोगरूप निश्चयनयात्मक साधना ही उपयोगी है तथा जो उसमे असमर्थ हैं, उनके लिए शुभोपयोगरूप व्यवहारनयात्मक साधना कार्यकारी है। यह आचार्य जयसेन के पूर्वोद्धृत वचनो से समर्थित है, जो उन्होने निर्दिष्ट गाथा की टीका मे कहे हैं। उसमे उन्होने विषयकषायरूप दुर्ध्यान का निरोध करने के लिए व्यवहारनय को प्रयोजनवान बतलाया है। उक्त दुर्ध्यान का निरोध व्यवहारनय अथवा अशुद्धात्मा को जानने से नही, अपितु व्यवहारनय के विषयभूत मोक्षमार्ग को अपनाने से सम्भव है। अत: सिद्ध है कि उपर्युक्त गाथा मे आचार्य कुन्दकुन्द ने अपरमभाव मे स्थित जीवो के लिए न तो अशुद्धात्मा को जानना प्रयोजनवान बतलाया है, न व्यवहारमोक्षमार्ग की मात्र जानकारी करना, अपितु व्यवहारमोक्षमार्ग को जानकर उसका अवलम्बन करने को प्रयोजनवान बतलाया है। अत: उक्त गाथा से यह फलित करना भी सर्वथा असमीचीन है कि व्यवहारनय का विषय जानने के लिए तो प्रयोजनवान बतलाया गया है, पर आदर करने योग्य नही बतलाया गया। दशम अध्याय मे स्पष्ट किया गया है कि व्यवहारनय का विषय-भूत साधनामार्ग कथचित् आदर करने योग्य (उपादेय) भी है। इस प्रकार प्रस्तुत गाथा से भी यही सिद्ध होता है कि निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म मे कार्यकारणात्मक साध्य-साधकभाव है जिससे निश्चय और व्यवहार नय परस्पर सापेक्ष हैं।

व्यवहार के ज्ञानमात्र से तीर्थप्रवृत्ति सम्भव नही

प्राथमिक भूमिका मे मोक्ष की साधना के लिए व्यवहारधर्म के अवलम्बन का उपदेश देनेवाली उक्त गाथा[1] के समर्थन मे आचार्य अमृतचन्द्र ने निम्नलिखित प्राचीन गाथा का उल्लेख किया है —

जइ जिणमय पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह ।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थ अण्णेण उण तच्च ।।[2]

— यदि तुम चाहते हो कि जिनमत चलता रहे तो निश्चय और व्यवहार इन दोनो मे से किसी को मत छोड़ो, क्योंकि एक के बिना तीर्थ नष्ट हो जायेगा और दूसरे के बिना तत्त्व।

तात्पर्य यह कि व्यवहारनय का उपदेश ग्रहण न करने पर मोक्षमार्ग मे प्रवृत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि उसके बिना जीव को अपनी अशुद्ध अवस्था तथा

---

१ समयसार/गाथा १२
२ वही/आत्मख्याति टीका मे उद्धृत/गाथा १२

व्यवहारमोक्षमार्ग का बोध नही हो सकता, जिससे न तो उसे मोक्ष की आवश्यकता प्रतीत हो सकती है और न वह व्यवहारमोक्षमार्ग मे स्थित होकर निश्चयमोक्षमार्ग के अवलम्बन की सामर्थ्य अर्जित कर सकता है। इसी प्रकार निश्चयनय का उपदेश ग्रहण न करने पर आत्मा के परमार्थ स्वरूप तथा परमार्थ मोक्षमार्ग का ज्ञान सम्भव नही है। इसके अभाव मे व्यक्ति अपने अशुद्ध स्वरूप को ही शुद्ध स्वरूप तथा व्यवहार मोक्षमार्ग को ही परमार्थ मोक्षमार्ग समझता रहेगा, जिससे मोक्ष न हो पायेगा। अत: दोनो नयो के अवलम्बन से ही जिनमत की प्रवृत्ति होती है, इसलिए दोनो नयो मे से किसी को भी नही छोड़ना चाहिए।

इस प्रकार यह गाथा भी तीर्थप्रवृत्ति (मोक्षमार्ग मे प्रवृत्त होने) के लिए व्यवहारधर्म के अवलम्बन का प्रतिपादन करती है। किन्तु पूर्वचर्चित विद्वज्जन कहते हैं कि इस गाथा मे व्यवहारनय को तीर्थप्रवृत्ति का हेतु इसलिए कहा गया है कि उसके (व्यवहारनय) द्वारा प्रतिपादित गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि जीव के व्यावहारिक भेदो को जाने या स्वीकार किये बिना मोक्षमार्ग मे प्रवृत्ति नही हो सकती। अभिप्राय यह कि मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति के लिए व्यवहारनय के विषय को मात्र जान लेना या स्वीकार कर लेना पर्याप्त है, उसका आश्रय लेने की आवश्यकता नही है।[1]

किन्तु, यह व्याख्या आगमसम्मत नही है। व्यवहारनय के विषयो मे व्यवहारधर्म भी सम्मिलित है। मोक्षमार्ग मे प्रवृत्ति के लिए व्यवहारधर्म को मात्र जान लेना पर्याप्त नही है, अपितु उसका अनुसरण करना भी आवश्यक है, क्योकि उससे शनै.-शनै निश्चयमोक्षमार्ग के अवलम्बन की क्षमता आविर्भूत होती है। अतएव वह निश्चयमोक्षमार्ग का साधक है। इसी दृष्टि से उक्त गाथा मे जिनमत के प्रवर्तन के लिए व्यवहारनय का अवलम्बन आवश्यक बतलाते हुए उसका परित्याग न करने के लिए कहा गया है। आचार्य जयसेन के निम्नलिखित वचनो से प्रमाणित है कि उपरिनिर्दिष्ट गाथा मे निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग मे सुवर्ण-पाषाण और अग्नि के समान साध्य-साधकभाव प्रतिपादित किया गया है —

"निश्चय व्याख्याय पुनरपि किमर्थं व्यवहानयव्याख्यानम् ? इति चेन्नैवम्, अग्निसुवर्णपाषाणयोरिव निश्चयव्यवहारनयो· परस्परसाध्यसाधकभावदर्शनार्थमिति।" तथा चोक्त —

जइ जिणसमइ पउजह ता मा ववहारणिच्छए मुवह ।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थ अण्णेण पुण तच्च ।।[2]

---

१ जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग १/पृ० १५४-१५५

२ समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा २३६

ये वचन आचार्य जयसेन ने समयसार की २३६वी गाथा की व्याख्या मे कहे हैं। वे कहते हैं कि यहाँ मैंने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि निश्चय और व्यवहार नयो मे सुवर्णपाषाण और अग्नि के समान साध्य-साधकभाव है जैसा कि 'जइ जिणसमइ' इत्यादि गाथा मे बतलाया गया है।

इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत गाथा का आशय यह नही है कि व्यवहारनय के विषय को मात्र जान लेने या उसकी सत्ता स्वीकार कर लेने से मोक्षमार्ग मे प्रवृत्ति सम्भव होती है, अपितु आशय यह है कि व्यवहारनय द्वारा प्रतिपादित धर्म का आचरण करने से मोक्षमार्ग मे प्रवृत्ति हो पाती है। अत· चर्चित विद्वज्जनो ने उक्त गाथा का जो यह आशय बतलाया है कि व्यवहारनय के विषय को जानने मात्र से जीव मे शुद्धोपयोगरूप निश्चयमोक्षमार्ग को ग्रहण करने की सामर्थ्य आ जाती है, वह आगमविरुद्ध है। उपर्युक्त गाथा यही सिद्ध करती है कि निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म मे कार्यकारणभावरूप साध्य-साधकभाव है, अत: निश्चय और व्यवहारनय परस्परसापेक्ष है।

साध्य-साधकभाव की मनोवैज्ञानिकता

निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म का साध्य-साधकभाव मनोवैज्ञानिक है। इसमे आत्मा से परमात्मा बनने की सामर्थ्य के क्रमिक विकास का स्वाभाविक सिद्धान्त अन्तर्निहित है। अनादिकाल से दुर्निवार विषयकषायो के वेग से अभिभूत जीव सहसा वीतरागभावरूप निश्चयमोक्षमार्ग मे स्थित नही हो सकता। यह विषयकषायो के वेग को धीरे-धीरे कम करने की विधि से ही सम्भव है। व्यवहारमोक्षमार्ग इसी का साधन है। इसमे स्थित होने से जब विषय-कषायो के वेग पर नियत्रण प्राप्त कर लिया जाता है, तब वीतरागभावरूप निश्चयधर्म मे स्थित होने की क्षमता उत्पन्न होती है। इस प्रकार निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म का साध्य-साधकभाव मनोवैज्ञानिक भित्ति पर आधारित है। अत उसका किसी भी प्रकार सर्वथा निषेध नही किया जा सकता। उसके सर्वथा निषेध या गर्हा का एकमात्र फल मोक्ष को असम्भव बना देना है।

इस तरह स्पष्ट होता है कि निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग मे साध्य-साधकभाव का निषेध करने के लिए कुछ विद्वज्जनो ने जो तर्क प्रस्तुत किये है तथा साध्य-साधकभाव की जो अन्यथा व्याख्याएँ की हैं, वे निराधार एव आगम-विरुद्ध हैं।

निश्चयधर्म एव व्यवहारधर्म में सुवर्णपाषाण और अग्नि के समान ही कार्यकारणात्मक साध्य-साधकभाव है, अर्थात् जैसे अग्नि के सयोग से सुवर्णपाषाण का मैल दूर हो जाता है और वह शुद्ध स्वर्ण बन जाता है, वैसे ही व्यवहारधर्म

के अवलम्बन से मिथ्यात्व और कषाय का उपशम-क्षयोपशम हो जाता है और जीव इतनी निर्मलता प्राप्त कर लेता है कि उसमे निश्चयधर्म के अवलम्बन की सामर्थ्य आ जाती है।[1]

सापेक्षता की भ्रान्तिपूर्ण व्याख्या

निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग मे कार्य-कारणात्मक साध्य-साधक-भाव होने से परस्परसापेक्षता सिद्ध होती है, किन्तु पूर्वोक्त विद्वद्वर्ग को व्यवहारधर्म का निश्चयधर्मसाधक होना स्वीकार्य नही है और सकट यह है कि परस्परसापेक्षता का वे अपलाप भी नही कर सकते, क्योंकि इससे निश्चयनय के मिथ्या होने का प्रसंग आता है। इसलिए उन्होने सापेक्षत्व को तो स्वीकार कर लिया, किन्तु उसकी एक नई व्याख्या कर डाली, जो नितान्त भ्रान्तिपूर्ण है। अपनी व्याख्या को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं —

"प्रत्येक नय सापेक्ष होता है, इसका तो हमने कही निषेध किया ही नही।[2] परन्तु यहाँ पर 'सापेक्ष' का अर्थ क्या है इसे जान लेना आवश्यक है। ·· निरपेक्षत्व का अर्थ है प्रत्यनीक (विरुद्ध) धर्म का निराकरण तथा सापेक्षत्व का अर्थ है उपेक्षा।[3] आचार्यों का यहाँ यही कहना है कि यह जितना भी पर्यायाश्रित व्यवहार है वह रागमूलक होने से मोक्षमार्ग मे ऐसे व्यवहार को छुड़ाया गया है। 'छुड़ाया गया है' इसका अर्थ है 'उसमे उपेक्षा कराई गई है'। साधक व्यवहार को छोड़ता नही, किन्तु निश्चयप्राप्तिरूप मूल प्रयोजन को ध्यान मे रखकर उसे करता हुआ भी उसमे उपेक्षा रखता है और मात्र निश्चय के विषय को आश्रय करने योग्य स्वीकार कर निरन्तर अपने उपयोग को उस दिशा मे मोड़ने का प्रयत्न करता रहता है। ·· यदि मोक्ष की प्राप्ति होती है तो एकमात्र इसी मार्ग से होती है।"[4]

निष्कर्ष यह कि उक्त विद्वानो के अनुसार प्रतिपक्षी धर्म को 'छोड़ने योग्य' समझना ही उसके प्रति सापेक्षभाव रखना कहलाता है। इस व्याख्या के द्वारा उक्त

---

१ "अय व्यवहारमोक्षमार्ग सुवर्णपाषाणस्याग्निरिव निश्चयमोक्षमार्गस्य बहिरग-साधको भवति।" पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १६०

२ सप्तम अध्याय मे उनका सापेक्षता-विरोधी कथन उद्धृत किया जा चुका है।
जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ४३६

३ "निरपेक्षत्व प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृति. सापेक्षत्वमुपेक्षा, अन्यथा प्रमाणनयाविशेष-प्रसङ्गात्। धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्णयाना प्रकारान्तरासम्भवाच्च। प्रमाणात् तदतत्स्वभावप्रतिपत्तेस्तत्प्रतिपत्तेरन्यनिराकृतिश्चेति विश्वोपसंहृति·।"
अष्टशती/देवागमकारिका, १०८

४. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ८०२-८०३

विद्वानो ने यह प्रयास किया है कि निश्चय और व्यवहार में सापेक्षता भी सिद्ध हो जाय तथा व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का साधक भी सिद्ध न हो पाये। किन्तु, अष्टशती के 'सापेक्षत्वमुपेक्षा' (प्रतिपक्षी धर्म के प्रति उपेक्षाभाव रखना सापेक्षत्व है) इस वचन की यह व्याख्या अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण एवं हास्यास्पद है। 'निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः सापेक्षत्वमुपेक्षा'[१] (अर्थात् प्रतिपक्षी धर्म का निषेध करना निरपेक्षत्व है और उसके प्रति उपेक्षाभाव रखना सापेक्षत्व है) इस सम्पूर्ण वाक्य पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि उपेक्षा का अर्थ प्रतिपक्षी धर्म को 'छोड़ने योग्य' समझना नही है, अपितु उसके प्रति तटस्थ रहना है। तटस्थ रहने का अभिप्राय है न निषेध करना, न ग्रहण करना। क्योंकि नय एक ही धर्म को लेकर वस्तु की व्याख्या करता है, इसलिए प्रतिपक्षी धर्म से उसे प्रयोजन नही रहता, किन्तु वह उसके अस्तित्व का निषेध नही करता, अपितु प्रतिपक्षी नय का विषय मानकर उसके विषय मे मौन हो जाता है। इस प्रकार प्रतिपक्षी धर्म की मौन स्वीकृति का नाम ही उपेक्षा या सापेक्षत्व है।

'छोड़ने योग्य मानने' का अर्थ तो यहाँ घटित ही नही होता, क्योंकि इससे बड़े हास्यास्पद अर्थ निकलते हैं। जैसे 'नित्यत्व धर्म अनित्यत्व-सापेक्ष है' इसका अर्थ यह निकलेगा कि अनित्यत्व उपेक्षा करने योग्य है, अर्थात् छोड़ने योग्य है। तथा 'अनित्यत्व नित्यत्वसापेक्ष है' इससे यह अर्थ फलित होगा कि नित्यत्व छोड़ने योग्य है। अब ये धर्म कैसे छोड़े जा सकेंगे, यह समझ के बाहर है। इसी प्रकार व्यवहारनय निश्चय-सापेक्ष होता है। अब यदि 'सापेक्ष' शब्द से 'उपेक्षा करने योग्य' अर्थात् 'छोड़ने योग्य' अर्थ ग्रहण किया जाय तो निश्चयनय का विषयभूत शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्ग भी छोड़ने योग्य सिद्ध होगा। इस प्रकार सापेक्षत्व अथवा उपेक्षा शब्द की उक्त विद्वानो द्वारा की गई यह व्याख्या केवली भगवान् के उपदेश को उलट-पुलट देनेवाली है, अतः भ्रान्तिपूर्ण एव अग्राह्य है।

आचार्य जयसेन ने स्पष्ट किया है कि निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहार-मोक्षमार्ग को साध्य-साधकरूप मे स्वीकार करते हुए प्राथमिक भूमिका मे व्यवहार-मोक्षमार्ग का आश्रय लेकर निश्चयमोक्षमार्ग के अवलम्बन की सामर्थ्य अर्जित करना, तत्पश्चात् व्यवहारमोक्षमार्ग को छोड़कर निश्चयमोक्षमार्ग का अवलम्बन करना ही दोनो को परस्परसापेक्षरूप से ग्रहण करना है। इसी प्रकार ग्रहण करने से जीव मोक्ष प्राप्त करने मे समर्थ होता है, अन्यथा नही।[२]

---

१ अष्टशती/देवागमकारिका, १०८

२. "तच्च वीतरागत्वं निश्चयव्यवहारनयाभ्या साध्य-साधकरूपेण परस्परसापेक्षाभ्यामेव भवति मुक्तिसिद्धये न च पुनर्निरपेक्षाभ्यामिति वार्तिकम्। तद्यथा ये केचन विशुद्ध-

निश्चय-व्यवहार की सापेक्ष उपादेयता

यत: निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग परस्पर सापेक्ष हैं, अत: अपेक्षा-भेद से दोनों उपादेय हैं। मोक्ष का परमार्थमार्ग होने से निश्चयमोक्षमार्ग उपादेय है। निश्चयमोक्षमार्ग का साधक होने से व्यवहारमोक्षमार्ग उपादेय है।[1] किसी एक को सर्वथा उपादेय मानने से ससारभ्रमण और पापबन्ध ही फलित होता है। अत: जो विद्वान् यह मानते हैं कि वस्तु-व्यवस्था समझने के लिए दोनो नय कार्यकारी हैं, किन्तु साधना के लिए एक निश्चयनय ही उपादेय है[2], उनकी यह मान्यता भ्रान्तिपूर्ण है।

●

ज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयमोक्षमार्गनिरपेक्ष केवल-शुभानुष्ठानरूप व्यवहारनयमेव मोक्षमार्गं मन्यन्ते तेन तु सुरलोकादिक्लेशपरम्परया ससार परिभ्रमन्तीति। यदि पुन: शुद्धात्मानुभूतिलक्षण निश्चयमोक्षमार्गं मन्यन्ते निश्चय-मोक्षमार्गानुष्ठानशक्त्यभावान्निश्चयसाधक शुभानुष्ठान च कुर्वन्ति तर्हि सरागसम्यग्दृष्टयो भवन्ति परम्परया मोक्षं लभन्ते इति · ।"

पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १७२

१ (क) "चिदानन्दैकस्वभावो निजशुद्धात्मैव शुद्धनिश्चयनयेनोपादेय भेदरत्नत्रयस्वरूप तु उपादेयमभेदरत्नत्रयसाधकत्वाद्व्यवहारेणोपादेयमिति।"

समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ११६-१२०

(ख) "व्यवहारमोक्षमार्गो निश्चयरत्नत्रयस्योपादेयभूतस्य कारणभूत्वादुपादेय· परम्परया जीवस्य पवित्रताकारणत्वात् पवित्र: ··· ।"

वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १६१-१६३

२ मोक्षमार्ग प्रकट करने का उपाय · तत्त्वनिर्णय/पृ० २७-२८

दशम अध्याय

मोक्षमार्ग की अनेकान्तात्मकता

निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग मे साध्य-साधकभाव है, इसलिए वे परस्पर सापेक्ष हैं। वे एक-दूसरे को ठुकराकर मोक्ष उपलब्ध कराने मे समर्थ नही होते, क्योंकि व्यवहारमोक्षमार्ग का साधन मिले बिना निश्चयमोक्षमार्ग की सिद्धि असम्भव है और निश्चयमोक्षमार्ग के बिना मोक्षप्राप्ति सम्भव नही है। व्यवहारमोक्षमार्ग स्वय मोक्ष प्राप्त नही करा सकता। इसलिए जैसे निश्चयमोक्षमार्ग स्वय की सिद्धि के लिए व्यवहारमोक्षमार्ग की अपेक्षा रखता है, वैसे ही व्यवहारमोक्षमार्ग को मोक्ष की सिद्धि के लिए निश्चयमोक्षमार्ग की अपेक्षा होती है। अत: आवश्यकतानुसार दोनो का अवलम्बन अनिवार्य होता है। कारण यह है कि जीवो मे आरम्भ से ही उच्च आचरण की योग्यता नही होती। शक्ति के अनुसार आचरण करते हुए योग्यता को क्रमश विकसित किया जाता है, तब उच्चाचरण की सामर्थ्य आ पाती है। प्राथमिक अवस्था मे मिथ्यात्व और विषयकषायो की इतनी प्रचुरता एव प्रबलता होती है कि वहाँ निश्चयमोक्षमार्ग का अवलम्बन सम्भव नही होता, वहाँ व्यवहारमोक्षमार्ग का ही अवलम्बन कार्यकारी होता है। जब व्यवहारमोक्षमार्ग पर चलकर मिथ्यात्वकषायो का उपशम-क्षयोपशम करते हुए जीव उस अवस्था को प्राप्त कर लेता है, जहाँ निश्चय-मोक्षमार्ग का अवलम्बन सम्भव होता है, वहाँ केवल निश्चयमोक्षमार्ग ही अवलम्बनीय होता है, वहाँ व्यवहारमोक्षमार्ग की उपयोगिता समाप्त हो जाती है, फलस्वरूप वह त्याज्य हो जाता है।[1]

अवस्थानुरूप उपाय ही कार्यकारी

व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग तो उपाय है। उपायो का प्रयोग परिस्थिति के अनुसार होता है। जहाँ जिस उपाय के प्रयोग-योग्य परिस्थिति होती है, उसी के प्रयोग से लक्ष्य की सिद्धि हो सकती है। जिस उपाय के प्रयोगयोग्य परिस्थिति नही है, उसके प्रयोग से न केवल वह विफल हो जाता है, अपितु विपरीत परिणाम भी उत्पन्न करता है। जैसे सभी ओषधियाँ किसी न किसी रोग को दूर करने का

---

१. "कि च निर्विकल्पसमाधिरूपे निश्चये स्थित्वा व्यवहारस्त्याज्य:, कि तु तस्या त्रिगुप्तावस्थाया व्यवहार: स्वयमेव नास्तीति तात्पर्यार्थ:। एवं निश्चयनयेन व्यवहार प्रतिषिद्ध इति।" समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा २७६-२७७

साधन हैं, किन्तु रोगी को हर ओषधि नही दी जा सकती। रोग के अनुसार ही औषध देने से वह नीरोग हो सकता है तथा यदि उसे अनेक रोग हो तो उसे उस रोग की दवा पहले देनी होगी, जिसकी प्रबलता है और जिसकी चिकित्सा हो जाने पर ही अन्य रोगों की चिकित्सा सम्भव है। उसके बाद अन्य रोगों की दवा दी जा सकती है। जैसे किसी को ज्वर और निर्बलता दोनो हैं, तो उसके ज्वर की चिकित्सा पहले करनी होगी। अनन्तर निर्बलता को दूर करने के लिए पुष्टिकारी ओषधियाँ देनी होगी। इसी क्रम से वह पूर्ण स्वस्थ हो सकता है। इसमे व्यतिक्रम कर दिया तो रोग तो न मिटेगा, रोगी मिट जायेगा।

मोक्ष की साधना भी इसी प्रकार है। इसमे राग नामक रोग को मिटाने का लक्ष्य है, क्योंकि राग का मिटना ही मोक्ष का मार्ग है। इसीलिए आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है – "स्वस्ति साक्षान्मोक्षमार्गसारत्वेन शास्त्रतात्पर्यभूताय वीतरागत्वायेति।"[१] तथा आचार्य जयसेन का कथन है — "आगमः सर्वोऽपि रागपरिहारार्थम्।"[२] अर्थात् राग का अभाव होना ही मोक्षमार्ग का सार है और सम्पूर्ण आगम मे रागपरिहार का ही उपदेश है। राग दो प्रकार का होता है – अशुभ और शुभ। इनको मिटाने की दो ओषधियाँ हैं – व्यवहारमोक्षमार्ग और निश्चयमोक्षमार्ग। प्राथमिक अवस्था मे जब अशुभराग की प्रबलता होती है तब व्यवहारमोक्षमार्ग नामक ओषधि का प्रयोग किया जाता है। इस अवस्था मे यही दवा कार्यकारी होती है। इस रोग मे रोगी निश्चयमोक्षमार्ग की औषध सेवन करने लायक नही होता, जैसे ज्वर की अवस्था मे व्यक्ति पुष्टिकारक पाकादि औषधियाँ सेवन करने योग्य नही होता। पडित टोडरमलजी कहते हैं –

"पाकादिक औषधियाँ पुष्टिकारी हैं, परन्तु ज्वरवान् उन्हे ग्रहण करे तो अत्यधिक हानि होगी। इसी प्रकार ऊँचा धर्म बहुत भला है, परन्तु अपने विकारभाव दूर न हुए हो और उसे ग्रहण किया जाय तो महान् अनर्थ होगा। जैसे अपना अशुभ विकार तो छूटा न हो और निर्विकल्प दशा अंगीकार की जाय तो विकार की ही वृद्धि होगी। इसी प्रकार भोजनादि विषयो मे आसक्ति हो और कोई आरम्भ-त्यागादि धर्म अपनाए तो हानि के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। ऐसे ही व्यापारादि करने का विकार छूटा न हो और त्यागभेषरूप धर्मधारण किया जाय तो दोष की ही उत्पत्ति होगी।"[३]

अत अशुभराग की अवस्था मे व्यवहारमोक्षमार्गरूप औषध ही कार्यकारी

---

१. पञ्चास्तिकाय/तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति/गाथा, १७२

२ प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति, ३/६७

३ मोक्षमार्गप्रकाशक/आठवाँ अधिकार/पृ० ३०१

है। इसी प्रकार जब अशुभराग छूट जाता है, किन्तु साधक शुभराग मे ही उलझ कर रह जाता है, तब निश्चयमोक्षमार्गरूप ओषधि का प्रयोग आवश्यक होता है, क्योंकि शुभरागरूप रोग का उन्मूलन इसी दवा से सम्भव है। शुभराग को शुभराग द्वारा समाप्त नही किया जा सकता। इस प्रकार व्यवहारमोक्षमार्ग एव निश्चय-मोक्षमार्गरूप उपायो का प्रयोग साधक की स्थिति पर आश्रित है। उनमे से कोई भी निरपेक्षरूप से अर्थात् साधक की स्थिति का विचार किये बिना, हर अवस्था मे प्रयोग के योग्य नही है। अत: स्पष्ट है कि मोक्ष की साधना एकान्तरूप नही है, अनेकान्तात्मक है। श्री ब्रह्मदेवसूरि का यह कथन पूर्व मे उद्धृत किया जा चुका है —

"प्राथमिकानां चित्तस्थिरीकरणार्थं विषयकषायदुर्ध्यानवञ्चनार्थं च परम्परया मुक्तिकारणमर्हदादिपरद्रव्य ध्येय पश्चात् चित्ते स्थिरीभूते साक्षान्मुक्तिकारणं स्वशुद्धात्म-तत्त्वमेव ध्येयं, नास्त्येकान्त:। एव साध्यसाधकभाव ज्ञात्वा ध्येयविषये विवादो न कर्त्तव्य·।"[१]

—प्राथमिक अवस्था मे चित्त को स्थिर करने तथा विषयकषायजन्य दुर्ध्यान को रोकने के लिए परम्परया मुक्ति के कारणभूत अरहन्तादि पञ्चपरमेष्ठी ध्येय हैं। पश्चात् चित्त स्थिर हो जाने पर साक्षात् मुक्ति का हेतुभूत निज शुद्धात्मतत्त्व ही ध्येय है इनमे से किसी एक के ही ध्येय होने का एकान्त नही है। इस प्रकार दोनो ध्येयविषयो मे साध्य-साधकभाव जानकर ध्येय के विषय मे विवाद नही करना चाहिए।

यहाँ सूरिजी ने 'नास्त्येकान्त.' वचन द्वारा मोक्षसाधना मे एकान्तात्मकता का स्पष्ट शब्दो मे निषेध कर उसके अनेकान्तात्मक होने का प्रतिपादन किया है।

आगम में पात्र-सापेक्ष उपदेश

पूर्व मे निरूपित किया गया है कि मोक्ष की सिद्धि के लिए आगम मे भिन्न-भिन्न भूमिका मे स्थित साधको को भिन्न-भिन्न साधनाओ के उपदेश दिए गए हैं। वे तीन हैं — केवल व्यवहारधर्म, निश्चयसहित व्यवहारधर्म तथा निश्चयधर्म। इन पर प्रकाश डालते हुए पडित टोडरमल जी कहते हैं — "जिन जीवो को निश्चय का ज्ञान नही है व उपदेश देने पर भी नही हो सकता, उन मिथ्यादृष्टि जीवो को कुछ धर्म- सन्मुख होने पर श्रीगुरु व्यवहार ही का उपदेश देते हैं। तथा जिन्हे निश्चय-व्यवहार का ज्ञान है और उपदेश देने पर हो सकता है ऐसे सम्यग्दृष्टि एव सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टि जीवो को निश्चयसहित व्यवहार का उपदेश देते हैं,

---

१. परमात्मप्रकाश/ब्रह्मदेवटीका २/३३

क्योंकि श्रीगुरु सभी जीवो का उपकार करना चाहते हैं। किसी जीव को विशेष धर्म का साधन न होता जानकर एक आखड़ी आदि का ही उपदेश देते हैं, जैसे भील को कौए का मांस छोड़ने का उपदेश दिया, ग्वाले को नमस्कारमंत्र जपने का उपदेश दिया। किसी किसी को तीव्र कषाय का कार्य छुड़ाकर पूजाप्रभावनादि मन्दकषाय का कार्य करने का उपदेश दिया जाता है। यद्यपि कषाय करना बुरा ही है, तथापि सम्पूर्ण कषाय न छूटते देखकर जितनी छूटे उतना ही भला होगा, ऐसी दृष्टि यहाँ रहती है। कभी-कभी नरक का भय और स्वर्ग का लोभ (जो कि कषाएँ हैं) उत्पन्न करके भी पाप छुड़ाते हैं और धर्म मे लगाते हैं। इस प्रकार जैसा जीव हो वैसा उपदेश देते हैं।''[1]

इस पात्रानुसार उपदेश का औचित्य सिद्ध करते हुए पडित जी कहते हैं —

''रोग तो शीताग भी है और ज्वर भी है, किन्तु शीताग से मरण होता देखकर वैद्य रोगी को ज्वर होने का उपाय करता है और ज्वर होने के पश्चात् उसके जीने की आशा हो तो बाद मे ज्वर को भी दूर करने का उपाय करता है। इसी प्रकार कषाये भी सभी हेय हैं, किन्तु किन्ही जीवो की उनसे पाप मे प्रवृत्ति सम्भावित देखकर श्रीगुरु उनमे पुण्यप्रेरक कषाय जगाते है। पश्चात् उनमे सच्ची धर्मबुद्धि दिखाई देती है, तो उस कषाय को भी मिटाने का प्रयत्न करते है।''[2]

जो केवल व्यवहारधर्म मे ही मग्न रहते हैं और आत्मानुभव का प्रयत्न नही करते उनके लिए गुरु निश्चयधर्म का उपदेश देते हैं। पडित जी का कथन है कि ''जिनमत मे तो एक रागादि मिटाने का प्रयोजन है। इसलिए कही तीव्र रागादि छुड़ाकर मन्दरागादि कराने के प्रयोजन का पोषण किया गया है, कही सर्वरागादि मिटाने के प्रयोजन की पुष्टि की गई है, परन्तु रागादि बढ़ाने का प्रयोजन कही नही हैं।''[3]

स्वयोग्य धर्मग्रहण करने का उपदेश

आगम मे साधक की योग्यता के अनुसार धर्मोपदेश दिया गया है और साधक को भी सोच-विचार कर स्वयोग्य धर्म ही ग्रहण करने के लिए सावधान किया गया है। इस विषय मे पडित टोडरमल जी का निम्न वक्तव्य ध्यान देने योग्य है —

''आगम मे जो उपदेश दिये गये हैं उन्हे सम्यग्रूप से पहचान कर जो

---

१ मोक्षमार्गप्रकाशक/आठवाँ अधिकार/पृ० २७८-२८०

२ वही, पृ० २८१

३ वही, पृ० ३०३

अपने योग्य हो, उसे ही अंगीकार करना चाहिए। जैसे वैद्यकशास्त्रों मे अनेक ओषधियाँ बतलाई गयी हैं, उन्हे जानना तो चाहिए, किन्तु ग्रहण उसे ही करना चाहिए जिससे अपना रोग दूर हो। यदि अपने को शीत का रोग हो तो उष्ण ओषधि ग्रहण की जाय, शीतल ओषधि ग्रहण न की जाय। यह ओषधि दूसरों को लाभकारी है ऐसा समझना चाहिए। इसी प्रकार जैनशास्त्रो मे अनेक उपदेश हैं, उन्हे जानना चाहिए, किन्तु ग्रहण उसे ही करना चाहिए जिससे अपना विकार दूर हो। विकार का पोषण करनेवाला उपदेश ग्रहण नही करना चाहिए, वह दूसरो के लिए हितकर है ऐसा समझना चाहिए। जैसे शास्त्रो मे कही निश्चयपोषक उपदेश है, कहीं व्यवहारपोषक। अब यदि अपने मे व्यवहार की अधिकता (एकान्त व्यवहार) हो तो निश्चयपोषक उपदेश अगीकार कर सम्यग्रूप से प्रवर्तन करना चाहिए। यदि निश्चय की अधिकता (एकान्तनिश्चय) हो तो व्यवहारपोषक उपदेश ग्रहण कर समीचीन मार्ग अपनाना चाहिए।''[१]

''विपरीत उपदेश ग्रहण करने पर हानि ही होगी। उदाहरणार्थ, कोई व्यवहारश्रद्धान (एकान्तव्यवहार के श्रद्धान) के कारण आत्मज्ञान से भ्रष्ट हो रहा हो और व्यवहार के उपदेश को ही प्रधानता देकर आत्मज्ञान का उद्यम न करे, तो ससार मे ही भटकता रहेगा। इसी प्रकार कोई निश्चयश्रद्धान (एकान्तनिश्चय के श्रद्धान) के कारण वैराग्य से भ्रष्ट होकर स्वच्छन्द आचरण कर रहा हो और निश्चय के उपदेश को ही ग्रहण कर विषयकषाय का पोषण करे तो अनर्थ ही होगा।''[२] अत स्वयोग्य धर्म के उपदेश को ग्रहण करने से ही हित होता है।

इसी तरह जब तक ऊँचा धर्म ग्रहण करने की सामर्थ्य उत्पन्न न हुई हो, तब तक उसे ग्रहण न करने के लिए भी आगम में सावधान किया गया है। इस विषय में पंडित टोडरमल जी के वचन पूर्व मे उद्धृत किये जा चुके हैं। स्वयोग्य धर्म ग्रहण करने का यह उपदेश साधनापद्धति की एकान्तात्मकता का निषेध करता है।

भिन्न-भिन्न भूमिका में भिन्न-भिन्न धर्म ग्राह्य

पडित जी का कथन है — ''जैसे कोई ओषधि गुणकारी है, परन्तु अपने को जब तक उससे लाभ हो, तभी तक ग्राह्य है। उसके बाद वह हानिकर होती है। उदाहरणार्थ, शीत मिट जाने पर भी कोई उष्ण ओषधि सेवन करता रहे, तो उलटकर उष्णरोग हो जायेगा। इसी प्रकार भले ही कोई क्रिया धार्मिक हो, किन्तु

---

१ मोक्षमार्गप्रकाशक/आठवाँ अधिकार/पृ० २९८-२९९

२ वही, पृ० २९९

जब तक उससे हित हो तभी तक ग्रहण करने योग्य है। यदि उच्च भूमिका मे पहुँचने पर भी कोई निम्न भूमिका का धर्म सेवन करता रहे, तो हानि होगी। जैसे पाप मिटाने के लिए प्रतिक्रमणादि धर्मकार्यों का उपदेश दिया गया है, किन्तु आत्मानुभव होने पर उनका विकल्प किया जाय तो दोष होता है। इसीलिए समयसार मे प्रतिक्रमणादि को विष कहा है। इसी प्रकार अव्रती के लिए विहित धर्मकार्यों को व्रती करे तो पापबन्ध होगा।"[१]

यह कथन इस तथ्य पर प्रकाश डालता है कि आगम मे भिन्न-भिन्न भूमिका में भिन्न-भिन्न धर्मग्रहण करने का उपदेश दिया गया है, क्योंकि साधक के लिए कोई एक ही साधना सभी भूमिकाओ मे उपयुक्त नही है। निम्न भूमिका मे निश्चयसाधना उपयुक्त नही है, उच्च भूमिका मे व्यवहारसाधना उपयुक्त नही है। भिन्न-भिन्न भूमिका मे भिन्न-भिन्न साधना उपयुक्त है। इससे सिद्ध है कि मोक्ष की साधना एकान्तात्मक नही है, अपितु अनेकान्तात्मक है।

व्यवहार की हेयोपादेयता भूमिकानुसार

आगम मे व्यवहारधर्म को सभी अवस्थाओ मे हेय नहीं बतलाया गया है, अपितु जब साधक निश्चयधर्म की साधना के योग्य बन जाता है, तब हेय बतलाया गया है। परमात्मप्रकाश की टीका मे योगीन्दुदेव एव उनके शिष्य प्रभाकरभट्ट के प्रश्नोत्तर द्वारा इस तथ्य को अच्छी तरह प्रकाशित किया गया है। योगीन्दुदेव कहते हैं — "जो निश्चयनय से पाप-पुण्य को समान नही मानता वह ससार में भटकता हैं।" तब शिष्य प्रभाकरभट्ट प्रश्न करता है — "यदि ऐसी बात है, तो जो पुण्य-पाप को समान मानकर बैठ जाते हैं, उन्हे आप दोष क्यो देते हैं ?" इस पर गुरुदेव उत्तर देते हैं — "यदि वे शुद्धात्मानुभूतिरूप निर्विकल्प परमसमाधि प्राप्त करके ऐसा करते हैं तो उचित ही है, किन्तु यदि उस अवस्था को प्राप्त किये बिना ही गृहस्थावस्था मे दान-पूजादि त्याग देते हैं, और मुनि-अवस्था मे षडावश्यकादि, तो वे न श्रावक रहते है, न साधु। तब तो दोष देने योग्य ही है।"[२]

जयसेनाचार्य ने भी पञ्चास्तिकाय, गाथा १७२ की टीका मे ऐसा ही कहा

---

१ मोक्षमार्गप्रकाशक/आठवाँ अधिकार/पृ० ३००-३०१

२ "तर्हि ये केचन पुण्यपापद्वय समान कृत्वा तिष्ठन्ति तेषा किमिति दूषण दीयते भवद्भिरिति ? भगवानाह यदि शुद्धात्मानुभूतिलक्षण त्रिगुप्तिगुप्तवीतरागनिर्विकल्पपरम-समाधि लब्ध्वा तिष्ठन्ति तदा सम्मतमेव। यदि पुनस्तथाविधामवस्थामलभमाना अपि सन्तो गृहस्थावस्थाया दानपूजादिक त्यजन्ति तपोधनावस्थाया षडावश्यकादिक च त्यक्त्वोभयभ्रष्टा· सन्त· तिष्ठन्ति तदा दूषणमेवेति तात्पर्यम्।"

परमात्मप्रकाश/ब्रह्मदेवटीका, २/५५

है। मोक्षमार्गप्रकाशक मे पडित टोडरमल जी ने भी इस तथ्य पर प्रकाश डाला है। वे कहते हैं —

"द्रव्यानुयोग मे निश्चय अध्यात्म-उपदेश की प्रधानता है। वहाँ व्यवहारधर्म का भी निषेध करते हैं। जो जीव आत्मानुभव का उपाय नही करते और बाह्य क्रियाकाण्ड मे मग्न हैं, उनको वहाँ से उदास करके आत्मानुभवनादि मे लगाने हेतु व्रतशीलसंयमादिक को हीन बतलाते हैं।"[१]

इसी ग्रन्थ में पडित जी ने अन्यत्र कहा है — "जहाँ शुद्धोपयोग होता जाने वहाँ तो शुभकार्य का निषेध ही है और जहाँ अशुभोपयोग होता जाने वहाँ प्रयत्नपूर्वक शुभ को अगीकार करना चाहिए।"[२]

श्री माइल्ल धवल का कथन है कि स्वभाव की आराधना (स्वभाव मे लीन होने अर्थात् शुद्धोपयोग) के समय व्यवहार को गौण करना चाहिए। उन्होने स्पष्ट किया है कि जैसे सरागदशा के जघन्य (निम्न), मध्यम और उत्कृष्ट भेद होते हैं, वैसे ही वीतरागदशा के भी जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद होते हैं। जघन्य दशा सातवे गुणस्थान मे होती है, उससे ऊपर मध्यम और उत्कृष्ट दशा है। पञ्चमकाल मे सात गुणस्थान तो हो ही सकते हैं। अत: सप्तम गुणास्थान मे स्वभाव की आराधना सम्भव होने से वहाँ व्यवहार को गौण किया जा सकता है।[३] श्री माइल्लधवल के भाव को सिद्धान्तचार्य प० कैलाशचन्द्र जी ने निम्नलिखित शब्दो मे स्पष्ट किया है —

"पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थान मे उत्तरोत्तर मन्दरूप से अशुभोपयोग होता है। चौथे, पाँचवे और छठे गुणस्थान मे उत्तरोत्तर अधिकरूप मे परम्परया शुद्धोपयोग का साधक शुभोपयोग होता है। सातवे से बारहवे गुणस्थान मे जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से एकदेशशुद्धनयरूप शुद्धोपयोग होता है। अत: सातवे गुणस्थान मे जघन्य वीतराग दशा है। इसलिए उस अवस्था मे व्यवहार को गौण करने का उपदेश दिया गया है।"[४]

इन विवेचनो से स्पष्ट होता है कि व्यवहारधर्म सभी अवस्थाओ मे हेय नही है, अपितु जब निश्चयधर्म के अवलम्बन की सामर्थ्य आ जाती है तब हेय है। इससे यह स्वयमेव फलित होता है कि मोक्ष की साधना एकान्तात्मक नही है।

---

१ मोक्षमार्गप्रकाशक/आठवाँ अधिकार/पृ० २८४
२. वही/सप्तम अधिकार/पृ० २०६
३. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र/गाथा ३४२, ३४४
४. वही/विशेषार्थ

निश्चय-व्यवहार के एकान्त अवलम्बन का निषेध

मोक्षसाधना की अनेकान्तात्मकता का अत्यन्त स्पष्ट प्रमाण यह है कि आगम मे निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गों के एकान्त अवलम्बन का निषेध किया गया है और उनके परस्परसापेक्ष अर्थात् अनेकान्तात्मक अवलम्बन से ही मोक्ष की सिद्धि बतलाई गई है। यह आचार्य अमृतचन्द्र के निम्नलिखित निरूपण पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है —

"वीतरागभाव ही साक्षात् मोक्ष का हेतु है। वह निश्चय और व्यवहार का अविरोधकपूर्वक (दोनो का आवश्यकतानुसार) आश्रय लेने से ही सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ, प्राथमिक जनो की बुद्धि मे धर्म का स्थूल (बाह्य) रूप ही समझ मे आता है और उसी के द्वारा उनकी धर्ममार्ग मे प्रवृत्ति सम्भव होती है। अत. उनके लिए व्यवहारनयात्मक भिन्नसाध्य-साधनभाव[1] (स्वात्मा से भिन्न जीवादि तत्त्वो का श्रद्धान-ज्ञान एव व्रतादि साधना) का आश्रय लेकर मोक्षमार्ग मे अवतरित होना सुकर होता है।[2] जैसे यह श्रद्धेय है, यह अश्रद्धेय है, यह श्रद्धान कहलाता है, यह अश्रद्धान, इसे ज्ञान कहते हैं, इसे अज्ञान, यह आचरणीय है, यह अनाचरणीय, यह चारित्र है, यह अचारित्र — इस रूप मे जब वे कर्तव्य-अकर्त्तव्य, कारण-कार्य आदि का भेद जान लेते हैं, तब उनमे मोक्ष का उत्साह उत्पन्न होता है और व्यवहार-नयात्मक साधना (जीवादि तत्त्वो का श्रद्धान-ज्ञान एव व्रतादि साधना) द्वारा धीरे-धीरे मोहरूपी मल्ल का उन्मूलन करते हैं। जब कभी अज्ञानजन्य प्रमाद के वशीभूत होकर आत्मधर्म शिथिल हो जाता है, तो अपने को सन्मार्ग पर लाने के लिए कठोर दण्डनीति अपनाते हैं। दोष के अनुसार बार-बार प्रायश्चित्त करते हैं और सतत उद्यमशील रहकर आत्मभिन्न जीवादि तत्त्वो के श्रद्धान, ज्ञान एव व्रतादि क्रियाओ द्वारा आत्मा का सस्कार करते हुए उसमे थोड़ी-थोड़ी विशुद्धि लाते हैं, जैसे रजक मैले वस्त्र को शिलातल पर पछाड़कर तथा विमल जल मे धोकर भिन्न-साध्य-साधनभाव द्वारा शुद्ध करता है।"[3]

---

१ साध्य और साधन का भिन्न-भिन्न होना भिन्न साध्य-साधनभाव कहलाता है। दोनो का अभिन्न होना अभिन्न साध्य-साधनभाव कहलाता है।

२. (क) "· साक्षान्मोक्षकारणभूतपरमवीतरागत्वविश्रान्तसमस्तहृदयस्य । तदिद वीतरागत्व व्यवहारनिश्चयाबिरोधेनैवानुगम्यमान भवति समीहितसिद्धये, न पुन-रन्यथा। व्यवहारनयेन भिन्नसाध्य-साधनभावमवलम्ब्यानादिभेदवासितबुद्धय· सुखेनैवावतरन्ति तीर्थं प्राथमिका ।" पञ्चास्तिकाय/तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति, १७२

(ख) मोक्षमार्गप्रकाशक/आठवाँ अधिकार/पृ० २७७-२७८

३ "· तस्यैवात्मनो भिन्नविषय-श्रद्धानज्ञानचारित्रैरधिरोप्यमाणसस्कारस्य भिन्नसाध्य-साधनभावस्य रजकशिलातल-स्फाल्यमान-विमलसलिलाप्लुत-विहिताध्व-परिष्वङ्ग-

"तदनन्तर वे निश्चयनय का आश्रय लेकर भिन्नसाध्य-साधनभाव का अवलम्बन छोड़ देते हैं और स्वात्मा के दर्शन, ज्ञान और अनुभव में समाहित होकर क्रमशः परम समरसता का आस्वादन करते हुए परम वीतरागभाव को प्राप्त हो साक्षात् मोक्ष का अनुभव करते हैं।"[१]

व्यवहारैकान्त से संसार-भ्रमण — "जो निश्चयमोक्षमार्ग से निरपेक्ष होकर मात्र व्यवहारमोक्षमार्ग का अवलम्बन करते हैं, वे आत्मानुभूति के अभाव मे मोक्ष प्राप्त नही कर पाते, पुण्यों के फलस्वरूप मात्र स्वर्गादि के क्लेश भोगते हुए संसार में ही भटकते रहते हैं।"[२]

निश्चयैकान्त से केवल पापबन्ध — "जो केवल निश्चयनय का आश्रय लेते हैं, वे समस्त शुभप्रवृत्तिरूप कर्मकाण्ड को आडम्बर मानकर उससे विरक्त हो जाते है और नेत्रों को अर्धनिमीलित कर सुख से बैठ जाते हैं तथा ऐसा समझते हैं कि हम आत्मध्यान कर रहे हैं। वे भिन्नसाध्य-साधनभाव को हेय समझकर छोड़ देते है तथा अभिन्नसाध्य-साधनभाव (स्वात्मा का श्रद्धान-ज्ञान एव अनुभवरूप साधना) को उपलब्ध नही कर पाते, अत· बीच मे ही प्रमादरूपी (विषयकषायरूपी) मदिरा के मद से उनका चित्त निष्क्रिय हो जाता है, जिससे उनकी दशा उन्मत्त, मूर्च्छित अथवा विक्षिप्त व्यक्तियो के समान हो जाती है। वे मुनिपद की ओर ले जाने वाली शुभप्रवृत्ति का पुण्यबन्ध के भय से अवलम्बन नही करते और वीतरागभावरूप शुद्धात्मस्वरूप मे स्थिरता प्राप्त हुई नही होती है, अत: प्रकट-अप्रकट प्रमाद के वशीभूत हो अशुभोपयोग के द्वारा केवल पापबन्ध ही करते हैं।[३]

मध्यस्थ होने से ही मोक्ष — निश्चय और व्यवहार दोनों मे से किसी एक का ही अवलम्बन न कर दोनो में अत्यन्त मध्यस्थ होने (आवश्यकतानुसार दोनो का अवलम्बन करने) से ही मोक्ष की सिद्धि होती है। मध्यस्थभाव का उदाहरण

मलिनवासस इव मनाङ्मनाग्विशुद्धिमधिगम्य· ·।"

पञ्चास्तिकाय/तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति/गाथा १७२

१ पञ्चास्तिकाय/तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति/गाथा १७२

२ "अथ ये तु केवलव्यवहारावलम्बिनस्ते ··· सुरलोक-क्लेशादिपरम्परया सुचिर ससार-सागरे भ्रमन्तीति।" वही

३ "येऽत्र केवलनिश्चयावलम्बिन· सकलक्रियाकर्मकाण्डाडम्बरविरक्तबुद्धयोऽर्धमीलित-विलोचनपुटा· किमपि स्वबुद्धयावलोक्य यथासुखमासते, ते खल्ववधीरितभिन्नसाध्य-साधनभावा अभिन्नसाध्यसाधनभावमलभमाना अन्तराल एव प्रमादकादम्बरीमदभरालस-चेतसो मत्ता इव, मूर्च्छिता इव · · केवल पापमेव बध्नन्ति।"

पञ्चास्तिकाय/तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति/गाथा १७२

देते हुए आचार्य अमृचन्द्र कहते हैं — "जो साधक आत्मस्वरूप मे स्थिरता प्राप्त करने में सदा तत्पर रहते हैं, किन्तु जब प्रमाद का उदय होता है तब शास्त्रविहित क्रियाकाण्ड (शुभप्रवृत्ति) द्वारा उसका निरोध करते है और पुन: आत्मस्वरूप मे लीन हो जाते हैं, वे ही शाश्वत मोक्षपद के भोक्ता होते हैं।"[१]

आचार्य अमृतचन्द्र जी के इस निरूपण से अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि आगम मे निश्चय और व्यवहार के एकान्त अवलम्बन का निषेध करते हुए उनके परस्परसापेक्ष या अनेकान्तरूप से (आवश्यकतानुसार दोनो के) अवलम्बन द्वारा ही मोक्ष की सिद्धि बतलाई गई है। आचार्य जयसेन ने भी ऐसा ही निरूपण किया है।[२]

सर्वथानुगम्य: स्याद्वाद:

आगम मे उत्सर्ग और अपवाद के एकान्त आश्रय का निषेध करके भी साधना की अनेकान्तात्मकता प्रतिपादित की गई है। उनके एकान्त आश्रय के निषेध का निरूपण आचार्य अमृतचन्द्र जी ने प्रवचनसार की टीका[३] मे किया है। उसका सार इस प्रकार है —

बाल, वृद्ध, तप:श्रान्त तथा रुग्ण मुनि के लिए भी शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत सयम की रक्षा हेतु यथाशक्ति कठोर आचरण ही पालनीय है, यह उत्सर्ग (सामान्य नियम) है। संयम के साधनभूत शरीर की रक्षा के लिए यथाशक्ति मृदु आचरण ही आचरणीय है, यह अपवाद (विशेष नियम) है। परस्पर निरपेक्षरूप में ये दोनो ही अहितकर हैं।

शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत सयम की रक्षा के लिए यथाशक्ति कठोर आचरण करते हुए संयम के साधनभूत शरीर की रक्षा के लिए यथाशक्ति मृदु आचरण भी आचरणीय है, यह अपवादसहित उत्सर्ग है। तथा सयम के साधनभूत शरीर की रक्षा के लिए यथाशक्ति मृदु आचरण करते हुए शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत सयम की रक्षा के लिए यथाशक्ति कठोर आचरण भी आचरणीय है, यह उत्सर्गसापेक्ष अपवाद है।

---

१. "ये तु निश्चयव्यवहारयोरन्यतरानवलम्बनेनात्यन्तमध्यस्थीभूता: शुद्धचैतन्यरूपात्मतत्त्वविश्रान्तिविरचनोन्मुखा प्रमादोदयानुवृत्तिनिर्वर्तिका क्रियां क्रियाकाण्ड परिणति-माहात्म्यान्निवारयन्तोऽत्यन्तमुदासीना यथाशक्त्यात्मानमात्मनात्मनि सञ्चेतयमाना नित्योपयुक्ता निवसन्ति ते खलु शब्दब्रह्मफलस्य शाश्वतस्य भोक्तारो भवन्ति।"
पञ्चास्तिकाय/तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति/गाथा १७२

२. वही/तात्पर्यवृत्ति

३. प्रवचनसार, ३/३०-३१

इन अपवादसापेक्ष उत्सर्ग तथा उत्सर्गसापेक्ष अपवाद से ही चारित्र की रक्षा होती है। क्योंकि मृदु आचरण द्वारा थोड़ा बहुत दोष तो लगता ही है, इस भय से शरीर की चिन्ता किये बिना कठोर आचरण ही किया गया, तो शरीर के नष्ट हो जाने पर पूर्वकृत् पुण्यो से स्वर्ग प्राप्त होगा। वहाँ संयम सम्भव न होने से और भी अधिक दोष लगेगा। अतः अधिक दोष की अपेक्षा अल्पदोष वाला अपवादसापेक्ष उत्सर्ग ही श्रेयस्कर है।[1] तथा मृदु आचरण द्वारा अल्पदोष ही तो लगता है, ऐसा सोचकर स्वच्छन्दरूप से मृदु आचरण किया गया, तो इस लोक मे ही सयम का विनाश हो जायेगा, जिससे महान् दोष लगेगा। अतः उत्सर्गसापेक्ष अपवाद ही श्रेयस्कर है। फलस्वरूप उत्सर्ग और अपवाद के परस्परविरोध (एकान्त अनुगमन) से होने वाली चारित्र की हानि का निवारण करना चाहिए। इसी हेतु उत्सर्ग और अपवाद की परस्परसापेक्षता से सिद्ध स्याद्वाद सर्वथा अनुगम्य है —

"अतः सर्वथोत्सर्गापवादविरोधदौस्थित्यमाचरणस्य प्रतिषेध्य तदर्थमेव सर्वथानुगम्यश्च परस्परसापेक्षोत्सर्गापवादविजृम्भितवृत्तिः स्याद्वादः।"[2]

तात्पर्य यह है कि साधना मे स्याद्वाद या अनेकान्त का अनुसरण करने से ही चारित्र की रक्षा होती है।[3]

उभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तना[4]

"सर्वज्ञ वीतराग द्वारा उपदिष्ट मोक्षमार्ग की सिद्धि निश्चय और व्यवहार इन दोनो नयो के अधीन है" आचार्य अमृतचन्द्र जी के ये वचन उच्चस्वर मे साधना की अनेकान्तात्मकता का उद्घोष करते हैं।

कुछ विद्वानो की मान्यता है कि मोक्ष की साधना अनेकान्तात्मक नही है, वह केवल निश्चयनयाश्रित है, व्यवहारनय तो साधना की अपेक्षा सर्वत्र हेय ही है। यह मान्यता कितनी आगमविरुद्ध है, यह उपर्युक्त विवेचन से प्रमाणित हो जाता है। "सर्वथानुगम्य स्याद्वाद", "उभयनयायत्ता तीर्थप्रवर्तना" तथा "नास्त्येकान्त"[5] इन तीन आप्तवचनो से ही यह मान्यता असत् सिद्ध हो जाती है।

पंडित टोडरमल जी का कथन है — "सर्व जिनमत का चिह्न स्याद्वाद है

---

१ "अल्पलेप बहुलाभमपवादसापेक्षमुत्सर्गं स्वीकरोति।" प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति ३/३१

२ वही/तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति ३/३१

३ "अथ निश्चयव्यवहारसञ्ज्ञयोरुत्सर्गापवादयो· कथचित्परस्परसापेक्षभाव स्थापयन् चारित्रस्य रक्षा दर्शयति।" वही/तात्पर्यवृत्ति ३/३१

४ पञ्चास्तिकाय/तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति/गाथा १५९

५. परमात्मप्रकाश/ब्रह्मदेवटीका २/३३

और स्यात् पद का अर्थ 'कथचित्' है। इसलिए जो उपदेश दिया गया हो उसे सर्वथा नही जान लेना चाहिए। उपदेश के अर्थ को जानकर यह विचार करना चाहिए कि यह उपदेश किस प्रकार है, किस प्रयोजनसहित है, किस जीव को कार्यकारी है ? यह सब विचार करके उसका यथार्थ अर्थ ग्रहण किया जाय, पश्चात् अपनी दशा देखकर जो उपदेश जिस प्रकार अपने को कार्यकारी हो, उसे उसी प्रकार अगीकार किया जाय और जो उपदेश जानने योग्य हो, उसे यथार्थ जान लिया जाय। इस प्रकार उपदेश के फल को प्राप्त करना चाहिए।[१] स्यात्पद की सापेक्षता-सहित सम्यग्ज्ञान द्वारा जो जीव जिन वचनो मे रमते हैं, वे जीव शीघ्र ही शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त होते हैं।''[२]

समयसार के सुप्रसिद्ध व्याख्याकार पंडित जयचन्द्र जी कहते है —

''व्यवहारनय को कथंचित् असत्यार्थ कहा गया है। इससे यदि कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोड़ दे, तो वह शुभोपयोगरूप व्यवहार छोड़ देगा और चूँकि शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति हुई नही है, इसलिए उल्टा अशुभोपयोग मे ही आकर भ्रष्ट होगा। इससे वह स्वच्छन्द प्रवृत्ति करेगा, तब नरकादि गति तथा परम्परा से निगोद को प्राप्त होकर ससार मे ही भटकेगा, इसलिये साक्षात् शुद्धनय का विषय जो शुद्ध आत्मा है उसकी प्राप्ति जब तक न हो, तब तक व्यवहार भी प्रयोजनवान् है, ऐसा स्याद्वादमत मे श्रीगुरुओ का उपदेश है।''[३]

इन वक्तव्यो से स्पष्ट होता है कि साधना के विषय मे भगवान् का उपदेश एकान्तात्मक नही है, अपितु स्याद्वादात्मक या अनेकान्तात्मक है। जब साधना का उपदेश ही अनेकान्तात्मक है, तब साधना अनेकान्तात्मक कैसे न होगी ?

दोनों नयों की सापेक्ष उपादेयता का कथन

यह मान्यता समीचीन नही है कि साधना की दृष्टि से व्यवहारनय सर्वत्र हेय है, क्योंकि आगम मे उसे साधना की दृष्टि से कथचित् उपादेय बतलाया गया है। आचार्य जयसेन कहते हैं –

''चिदानन्दैकस्वभावो निजशुद्धात्मैव शुद्धनिश्चयनयेनोपादेय भेदरत्नत्रय-स्वरूप तु उपादेयमभेदरत्नत्रयसाधकत्वाद् व्यवहारेणोपादेयमिति।''[४]

– चिदानन्दैकस्वभाव निज शुद्धात्मा ही शुद्धनिश्चयनय से उपादेय है।

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक/आठवाँ अधिकार/पृ० ३०१
२ वही, पृ० ३०५
३ समयसार/भावार्थ/गाथा १२
४ वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ११६-१२०

भेदरत्नत्रय भी उपादेय है, किन्तु अभेदरत्नत्रय का साधक होने से व्यवहारनय से उपादेय है।

"व्यवहारमोक्षमार्गो निश्चयरत्नत्रयस्योपादेयभूतस्य कारणभूतत्वादुपादेयः परम्परया जीवस्य पवित्रताकारणत्वात् पवित्रः····।"[१]

— उपादेयभूत निश्चयरत्नत्रय का कारण होने से व्यवहारमोक्षमार्ग उपादेय है तथा परम्परया जीव की पवित्रता का कारण होने से पवित्र है।

यहाँ स्पष्ट शब्दो मे निश्चयमोक्षमार्ग को निश्चयनय से तथा व्यवहारमोक्षमार्ग को व्यवहारनय से उपादेय निरूपित किया गया है। इस विषय मे यहाँ सिद्धान्ताचार्य पडित कैलाशचन्द्र जी का निम्न वक्तव्य उल्लेखनीय है —

"यदि शुभोपयोग सर्वथा हेय होता तो आचार्य अमृतचन्द्र श्रावकाचार की रचना न करते और न उसे पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नाम देते। श्रावक का आचार भी पुरुषार्थ (मोक्ष) की सिद्धि का उपाय है, अन्यथा धर्म के श्रावकधर्म और मुनिधर्म दो भेद नही होते।"[२]

ये शब्द अत्यन्त मार्मिकता से व्यवहारनय की आपेक्षिक उपादेयता को अनावृत करते है। यह बात गम्भीरता से विचारणीय है कि व्यवहारमोक्षमार्ग का उपदेश वीतराग सर्वज्ञ ने दिया है, किसी साधारण मनुष्य ने नही। यदि वह सर्वथा हेय (छोड़ने योग्य) होता, तो तीर्थङ्कर परमदेव उसे निश्चयमोक्षमार्ग का साधक बतलाकर विशेष परिस्थितियो मे उपादेय (ग्रहण करने योग्य) न बतलाते। आगम मे निश्चय और व्यवहार दोनो की इस सापेक्ष उपादेयता के वर्णन से मोक्षसाधना की अनेकान्तात्मकता सूचित होती है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन का सार यह है कि यद्यपि निश्चयधर्म ही मोक्ष का मार्ग है, क्योंकि उसमें शुभाशुभ दोनो प्रकार की राग-प्रवृत्ति का अभाव होता है, जो शुभाशुभ दोनो प्रकार के कर्मों के सवर और निर्जरा का कारण है, तथापि उसका एकान्तरूप से अवलम्बन सम्भव नही है। कारण यह है कि विषयकषायो की तीव्रता से युक्त प्राथमिक भूमिका मे जीव शुभ और अशुभ दोनो रागो से निवृत्त होकर निर्विकल्पसमाधि में स्थित नही हो सकता। इस अवस्था मे शुभप्रवृत्ति अर्थात् व्यवहारधर्म के आश्रय द्वारा केवल अशुभराग की निवृत्ति की जा सकती है, जिससे साधक मे निश्चयधर्म की साधना के योग्य क्षमता का आविर्भाव होता है। उसके आविर्भूत होने पर निश्चयधर्म के अवलम्बन द्वारा शुभराग की भी निवृत्ति सम्भव

---

१. समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १६१-१६३

२. द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र/प्रस्तावना/पृ० ४०

होती है। इस निश्चयधर्म की उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए जीव समस्त कर्मों से मो
प्राप्त कर लेता है। निश्चयधर्म के अवलम्बन की सामर्थ्य आ जाने पर व्यवहारध
कार्यकारी नहीं होता। इस तरह निम्न भूमिका मे निश्चयधर्म अवलम्बनयोग्य न
होता और उच्च भूमिका मे व्यवहारधर्म अवलम्बनीय नही है। निम्न भूमिका
निश्चयसापेक्ष व्यवहारधर्म तथा उच्च भूमिका मे व्यवहारसापेक्ष निश्चयधर्म
अवलम्बन से ही मोक्ष की सिद्धि होती है। अत· मोक्ष की साधना अनेकान्तात्म
है।

अनेकान्तात्मकता की मनोवैज्ञानिक भित्ति

साधना की अनेकान्तात्मकता मनोवैज्ञानिक भित्ति पर आश्रित है। वह भि
है साधक की सामर्थ्य। मोक्षमार्ग पर अग्रसर होने के लिए साधक मे जिस सम
जितनी साधनासामर्थ्य होती है, उतनी ही साधना का विधान जिनेन्द्रदेव ने कि
है। इस कारण उसमे दो मार्ग बन गए हैं : व्यवहार और निश्चय। यही उसव
अनेकान्तात्मकता का हेतु है। इस अनेकान्तात्मकता का उल्लघन नही किया ज
सकता। उल्लघन का तात्पर्य है मोक्ष को असम्भव बना देना। इस विषय मे आचा
अमृतचन्द्र के ये वचन स्मरणीय हैं —

मग्ना· कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञान न जानान्ति ये
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः ।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सतत ज्ञान भवन्तः स्वय
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वश यान्ति प्रमादस्य च ।।[१]

— आत्मानुभूति (शुद्धोपयोग) से विमुख होकर जो केवल कर्मकाण
को ही मोक्षमार्ग समझते है और उसमे उलझे रहते है, वे भी भवसागर मे ड
जाते है और जो एकमात्र आत्मानुभूति को ही उपादेय समझकर उसे प्राप्त कि
बिना ही बाह्य कर्मकाण्ड को त्याग देते है और स्वच्छन्द होकर प्रमादी बन जा
हैं, वे भी डूब जाते है। भवसागर के ऊपर वही तैरते है, जो आत्मानुभूति के योग
बनकर, उसमे स्थित होकर कर्मकाण्ड से विरत होते हैं तथा आत्मानुभूति के अभा
मे उसका अवलम्बन लेकर प्रमाद के वशीभूत नही होते।

इस कलश का भावार्थ पूज्य आचार्य विद्यासागर जी ने निम्नलिखित प
मे बड़े सुन्दर शब्दो मे निबद्ध किया है —

ज्ञान बिना रट निश्चय-निश्चय निश्चयवादी भी डूबे,
क्रियाकलापी भी ये डूबे, डूबे संयम से ऊबे ।

---

१ समयसार/कलश १११

प्रमत्त बन के कर्म न करते अकम्प निश्चय शैल रहे,
आत्मज्ञान मे लीन किन्तु मुनि तीन लोक पै तैर रहे ।।[१]

अर्थात् साधना मे अनेकान्त के उल्लघन से एकान्तव्यवहारावलम्बी भी भवसागर मे ही गोते लगाते रहते हैं और एकान्तनिश्चयावलम्बी भी। निश्चय और व्यवहार दोनों का अनेकान्तरूप से (आवश्यकतानुसार) अवलम्बन करने पर ही साधक भवसागर से पार होता है।

सक्षेप मे, निश्चयमोक्षमार्ग मोक्ष का साधक है और व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग का साधक है। निश्चयमोक्षमार्ग के बिना मोक्ष की सिद्धि नही हो सकती और व्यवहारमोक्षगर्ग के बिना निश्चयमोक्षमार्ग की सिद्धि असम्भव है। अत. दोनो ही मोक्षसिद्धि के उपाय हैं।

●

---

१ निजामृतपान, १२/१११

एकादश अध्याय

उपादाननिमित्तविषयक मिथ्याधारणाएँ

पूर्वचर्चित पण्डितवर्ग ने निश्चय और व्यवहार के स्वरूप को या तो सम्यग्रूप से ग्रहण नही किया अथवा उसे जानबूझकर तोड़ा-मरोड़ा है और उसे ही समीचीन बतलाते हुए अनेक विषयो की आगमविरुद्ध व्याख्याएँ की हैं। उनमे से एक है — उपादान और निमित्त।

जैसा कि पूर्व मे निर्देश किया गया है, जो वस्तु स्वय कार्यरूप मे परिणत होती है वह उपादान कहलाती है और जो उसके परिणमन मे बाह्यत सहायक होती है वह निमित्त। जैसे मिट्टी स्वय घटरूप मे परिणत होती है इसलिए वह घट का उपादान कारण है और कुम्भकार उसके घटरूप-परिणमन मे बाह्यत सहायक होता है, अत· घट का निमित्त कारण है।

इस प्रकार निमित्त एक वास्तविकता है, किन्तु कथित पण्डितवर्ग ने उसके विषय मे अनेक मिथ्या धारणाएँ प्रचलित की है। उनके मिथ्यात्व का प्रदर्शन इस अध्याय का विषय है।

पहली मिथ्या धारणा यह फैलाई गई है कि कोई भी वस्तु अन्य वस्तु के कार्य का वास्तव मे निमित्त नही होती, अपितु उसे उपचार से निमित्त कहा जाता है। वे कहते है —

"एक वस्तु के कार्य का दूसरी वस्तु को निमित्तकर्ता कहना मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहने के समान उपचरितवचन ही है।"[१]

"एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य मे सहायतारूप व्यापार करता है, यह कथन-मात्र है। प्रत्येक द्रव्य अपना-अपना व्यापार स्वय करता है, पर उनके एक साथ होने का नियम है। मात्र इसलिए वहाँ उपादान से भिन्न दूसरे द्रव्य के कार्य मे निमित्त-व्यवहार किया जाता है।"[२]

यह धारणा कितनी मिथ्या है, इसका बोध निम्नलिखित युक्तियो और आर्ष-वचनो से भलीभाँति हो जाता है।

---

१ जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग १/पृ० ८३८

२. वही/भाग २/पृ० ८३५

आरोप वास्तविक धर्म का ही किया जाता है

एक वस्तु पर दूसरी वस्तु के धर्म का आरोप उपचार कहलाता है। उपचार के नियम के अनुसार किसी वस्तु पर उसी धर्म का आरोप किया जा सकता है जो अन्यत्र प्रसिद्ध हो, अर्थात् जिसकी किसी न किसी वस्तु मे वास्तव मे सत्ता पायी जाय। जिस धर्म की लोक मे सत्ता ही न हो उसका आरोप उपचार नही कहलाता, जैसा कि भट्ट अकलकदेव का कथन है —

"सति मुख्ये लोके उपचारो दृश्यते, यथा सति सिंहे ... अन्यत्र क्रौर्यशौर्यादिगुणसाधर्म्यात् सिहोपचार. क्रियते। न च तथेह मुख्य प्रमाणमस्ति। तदभावात् फले प्रमाणोपचारो न युज्यते।"[1]

— लोक मे मुख्य वस्तु के होने पर ही उसका अन्यत्र उपचार देखा जाता है, जैसे सिह वास्तव मे होता है, इसीलिए क्रौर्यशौर्यादिगुणो की समानता के कारण किसी बालक मे सिहत्व का उपचार किया जाता है। किन्तु यहाँ तो मुख्यवस्तुभूत प्रमाण की ही सत्ता नही है, इसलिए उसके फल मे प्रमाणत्व का उपचार उपपन्न नही होता।

धवलाकार ने भी कहा है, "ण चोवयारेण दसणावरणणिद्देसो, मुहियस्सा-भावे उवयाराणुववत्तीदो"[2] अर्थात् (दर्शन गुण को अस्वीकार करने पर) यह भी नही कहा जा सकता कि दर्शनावरण का निर्देश केवल उपचार से किया गया है, क्योंकि मुख्य वस्तु के अभाव मे उपचार की उपपत्ति नही होती (अर्थात् यदि दर्शनावरण वास्तव मे न हो तो उसका अन्यत्र उपचार सम्भव नही है)।

उक्त पडितजन स्वय स्वीकार करते है कि "जो धर्म लोक मे पाया जाता है, उसी का एक द्रव्य के आश्रय से दूसरे द्रव्य पर आरोप किया जा सकता है। जिस धर्म का सर्वथा अभाव होता है, उसका किसी पर आरोप करना भी नही बनता। उदाहरणार्थ, लोक मे बन्ध्यासुत या आकाशकुसुम नही पाये जाते, अत उनका किसी पर आरोप भी नही किया जा सकता।"[3]

उपचार के इस नियम से सिद्ध है कि यदि एक वस्तु को दूसरी वस्तु के कार्य का उपचार से निमित्त कहा जाता है, तो लोक मे कही न कही एक वस्तु दूसरी वस्तु के कार्य का निमित्त वास्तव मे होती है, तभी तो उसके निमित्तरूप धर्म का कही और उपचार करना सम्भव होता है। लोक मे निमित्त की मुख्यरूप से सत्ता

---

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक/अध्याय १/सूत्र १२

२. धवला/पुस्तक ७/खण्ड २/भाग १/सूत्र ५६

३ जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ४९७

न हो, तो उसका अन्यत्र उपचार भी उपपन्न न होगा। घृत की मुख्यरूप से (वास्तव मे) सत्ता होती है, तभी तो उसका मिट्टी पर आरोप कर मृत्कुम्भ को घृतकुम्भ कहा जाता है। यदि लोक मे घी का अस्तित्व न हो, तो क्या किसी घड़े को घी का घड़ा कहा जा सकता है ?

इस प्रकार उक्त पण्डितजन उपचार के इस नियम को स्वीकार कर स्वय ही निमित्त को सर्वथा असत्य मानने की अपनी धारणा मिथ्या सिद्ध कर देते हैं।

निमित्त के उपचार का कोई प्रयोजन नहीं

उपचार का दूसरा नियम यह है कि वह किसी प्रयोजन से किया जाता है। प्रयोजन के अभाव मे उपचार की प्रवृत्ति नही होती। अब प्रश्न है कि जो वस्तु निमित्त नही है, उसे उपचार से निमित्त कहने का क्या प्रयोजन है ? उक्त पडितवर्ग का कथन है कि मात्र एक साथ होने के नियम के कारण उपादान से भिन्न पदार्थ को उपचार से निमित्त कहा जाता है। यहॉ प्रश्न है कि जो पदार्थ केवल साथ रहता है, कुछ सहायता नही करता उसे सहचर कहा जाना चाहिए, उसमे कारणवाचक 'निमित्त' सज्ञा का उपचार किस प्रयोजन से किया जाता है ? विचार करने पर कोई भी प्रयोजन प्रतीत नही होता। इसलिए पडितजनो का यह कथन अयुक्तिसगत ठहरता है कि मात्र एक साथ होने के नियम के कारण उपादान से भिन्न पदार्थ मे निमित्त-भाव का उपचार किया जाता है।

आगम मे कही भी किसी पदार्थ को उपचार से निमित्त नही कहा गया है, जो मुख्यत निमित्त है उसी के लिए 'निमित्त' शब्द का प्रयोग हुआ है, क्योंकि अनिमित्त को निमित्त कहने का कोई प्रयोजन ही नही है।

यहॉ प्रश्न उठ सकता है कि यदि ऐसा है तो आगम मे 'कुम्भकार व्यवहारनय से घट का निमित्त है' अथवा 'धर्मद्रव्य व्यवहारनय से जीव और पुद्गल की गति का निमित्त है'[१] ऐसा क्यो कहा गया है ? समाधान यह है कि निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध भिन्न वस्तुओ मे होता है, अत· भिन्नवस्तुसम्बन्ध की दिशा से अवलोकन करनेवाले व्यवहारनय से ही वह अनुभव मे आता है। यही दर्शाने के लिए कुम्भकारादि को व्यवहारनय से घटादि का निमित्त कहा गया है, अनिमित्त मे निमित्त का उपचार करने के कारण नही। व्यवहारनय का विषय होने से यह नही समझ लेना चाहिए कि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का कथन उपचार से किया जाता है, अत· असत्य है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक मे कहा गया है —

---

१. "न तौ तयोर्मुख्यहेतू, किन्तु व्यवहारनयव्यवस्थापितौ उदासीनौ।"
पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा ८९

"तदेव व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठ: सम्बन्ध: सयोग-समवायादिवत् प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव न पुन: कल्पनारोपित: सर्वथाप्य-नवद्यत्वात्।"[1]

— व्यवहारनय के आश्रय से परामर्श करने पर दो पदार्थों मे रहनेवाला कार्यकारणसम्बन्ध (निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध) सयोग, समवाय आदि सम्बन्धों के समान अनुभव मे आता है। अत: अनुभवसिद्ध होने से पारमार्थिक ही है, कल्पना-रोपित नही।

प्रयोजनवश कर्तृकर्मत्व का उपचार

सार यह है कि आगम मे जहॉ-जहॉ भिन्न पदार्थों मे निमित्तनैमित्तिक भाव बतलाया गया है, वहॉ-वहॉ मुख्यरूप से होने के कारण ही बतलाया गया है, उपचार नही किया गया है। हॉ, निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध के कारण निमित्त-नैमित्तिकभूत पदार्थो मे प्रयोजनवश कर्त्ता-कर्मभाव का उपचार किया गया है, जैसा कि आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है —

"एवमनयोरात्मप्रकृत्यो: कर्तृकर्मभावाभावेऽप्यन्योन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन द्वयोरपि बन्धो दृष्ट । तत· ससार तत एव च तयो. कर्तृकर्मव्यवहार:।"[2]

—यद्यपि आत्मा और कर्म मे कर्तृकर्मभाव नही है, तथापि निमित्तनैमित्तिक-भाव होने से दोनो का परस्पर बन्ध होता है, जो ससार का कारण है। इसीलिए उनमे कर्त्ता-कर्म का व्यवहार (उपचार) होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्थित होता है कि 'निमित्त' सज्ञा औपचारिक नही है, यथार्थ है। हॉ निमित्तभूत पदार्थ के लिए 'कर्त्ता' सज्ञा औपचारिक है।

निमित्तभाव स्वभावगत

द्रव्य के स्वभाव का अथवा उसके कार्य (व्यापार) के स्वभाव का अन्य द्रव्य की कार्योत्पत्ति सम्भव हो सकने के अनुकूल होना ही निमित्तभाव है, जैसे कुम्भकार के घटोत्पत्ति के अनुकूल होनेवाले शारीरिक और मानसिक व्यापार मे घट के प्रति निमित्तभाव है।[3] अत: निमित्तभाव द्रव्य के स्वभाव मे अथवा उसके कार्य के स्वभाव मे विद्यमान होता है। धर्मद्रव्य के स्वभाव मे जीव और पुद्गल की गति के प्रति निमित्तभाव विद्यमान है, अधर्मद्रव्य के स्वभाव मे उनकी स्थिति के प्रति निमित्तभाव है, आकाशद्रव्य के स्वभाव मे समस्त द्रव्यो का अवगाहनहेतुत्व मौजूद

---

१ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक/अध्याय १/सूत्र ७/पृ० १५१

२. समयसार/आत्मख्याति/गाथा ३१२-३१३

३ "कलशसम्भवानुकूल व्यापार कुर्वाण· ' ' ।" वही/आत्मख्याति/गाथा ८४

है। ज्ञानावरण कर्म के उदय मे जीव का ज्ञान आवृत होने का निमित्तभाव है, दर्शनावरण के उदय मे दर्शन के आवृत होने का, दर्शनमोहनीय के उदय मे श्रद्धा के विपरीत दिशा मे जाने का और चारित्रमोहनीय के उदय मे चारित्र के मोहित होने का निमित्तभाव है। जीव के शुभाशुभभावो मे पुद्गल के कर्मरूप से परिणमित होने के अनुकूल स्वभाव है तथा शुद्धभाव मे कर्मो के सवर, निर्जरा और मोक्षरूप से परिणमित होने के अनुकूल स्वभाव की सत्ता है।

जब (जिस काल मे) किसी द्रव्य को अपनी कार्योत्पत्ति के अनुकूल स्वभाववाले द्रव्य का सम्पर्क प्राप्त होता है, तब वह स्वकार्यरूप मे परिणमित होता है। अत: पूर्वोक्त विद्वज्जनो का यह कथन ठीक है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य मे सहायतारूप व्यापार नही करता। इसकी आवश्यकता ही नही है। पदार्थों के स्वभाव मे निमित्तभाव रहने के कारण अनुकूल पदार्थ का सयोग होने पर यह अपने आप होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा भी है —

"जीव के परिणामो का हेतु मिलने पर पुद्गल द्रव्य (स्वयमेव) कर्मरूप से परिणमित हो जाता है और पुद्गलकर्मो का निमित्त प्राप्त होने पर जीव भी स्वत. शुभाशुभभावरूप से परिणमन करने लगता है।"[१]

यदि निमित्तभूत पदार्थ का स्वभाव ऐसा न हो कि उससे उपादान की कार्यसामर्थ्य का अवरोध दूर हो सके, तो उसे निमित्त ही नही कहा जा सकता। मात्र रस्म-अदायगी के लिए तो किसी को निमित्त नाम दिया नही जाता है। अष्टसहस्री मे कहा गया है —

"तदसामर्थ्यमखण्डयदकिञ्चित्कर कि सहकारिकारण स्यात्।"[२]

आशय यह है कि कार्योत्पादन-क्षमता होते हुए भी, यदि अनुकूल परिस्थिति का अभाव हो तो उपादान कार्योत्पत्ति मे असमर्थ रहता है। उस असामर्थ्य को दूर न करते हुए यदि सहकारी कारण (निमित्त) अकिञ्चित्कर बना रहता है, तो क्या वह सहकारी कारण कहला सकता है ?

इस कथन से यही बात पुष्ट होती है कि निमित्तभूत पदार्थ के स्वभाव मे ही वह धर्म होता है, जिससे उपादान की कार्य-परिणति मे बाधक तत्त्व समाप्त हो जाता है और अनुकूल परिस्थिति निर्मित हो जाती है।

---

१ जीवपरिणामहेदु कम्मत्त पुग्गला परिणमति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ।। समयसार/गाथा ८०

२ अष्टसहस्री, पृ० १०५

निमित्त के बिना कार्य असम्भव

धर्मद्रव्य के बिना जीव और पुद्गल की गति-परिणति असम्भव है, अधर्म-द्रव्य के बिना स्थिति-परिणाम असम्भव है, आकाश के बिना द्रव्यो का अवगाहन सम्भव नही है, काल के अभाव मे वर्तना नही हो सकती, कर्मोदय के अभाव मे जीव के मोहरागादि परिणाम असम्भव हैं। मिथ्यात्वकषाय के अभाव मे कर्मबन्ध सम्भव नही है। शुद्धोपयोग न होने पर सवर-निर्जरा-मोक्ष असम्भव हैं। कुम्भकार के घटसम्भवानुकूल योगोपयोग के बिना घटोत्पत्ति का अभाव निश्चित है।

भट्ट अकलंकदेव ने निम्नलिखित व्याख्यान मे जोर देकर कहा है कि निमित्त के अभाव मे कार्य की उत्पत्ति नही हो सकती —

"इस लोक मे कोई भी कार्य अनेक कारणो से सिद्ध होने योग्य देखा जाता है। जैसे मिट्टी का पिण्ड घटकार्यरूप परिणमन करने मे आभ्यन्तर सामर्थ्य रखते हुए भी कुम्हार, दण्ड, चक्र, सूत्र, जल, आकाश आदि अनेक बाह्य उपकरणो की अपेक्षा रखता है और उनके होने पर ही घटपर्याय के रूप मे आविर्भूत होता है। कुम्हार आदि बाह्य साधनो के सन्निधान के बिना अकेला मृत्पिण्ड घटरूप से उत्पन्न होने मे समर्थ नही है।"[१]

"आत्मात्मना रागादीनामकारक एव। .... परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभाव-निमित्तमस्तु"[२]— आत्मा स्वय तो रागादि भावो का अकर्त्ता ही है। परद्रव्य ही रागादिभावो की उत्पत्ति का निमित्त है। यह कथन भी इस तथ्य को रेखाकित करता है कि पुद्गलकर्मरूप निमित्त के अभाव मे रागादिरूप कार्य की उत्पत्ति असम्भव है।

अन्वयव्यतिरेक की अपेक्षा 'निमित्त' संज्ञा

यत· निमित्त के बिना कार्य की उत्पत्ति असम्भव है, इसलिए निमित्त उसे कहते हैं, जिसके सद्भाव मे कार्य का सद्भाव होता है और अभाव मे कार्य का अभाव। 'निमित्त' शब्द कारण का पर्यावाची है[३] और श्री वीरसेनाचार्य ने प्रत्याख्यानावरणादि

---

१ "इह लोके कार्यमनेकोपकरणसाध्य दृष्टं, यथा मृत्पिण्डो घटकार्यपरिणामप्राप्ति प्रति गृहीताभ्यन्तरसामर्थ्य , बाह्यकुलालदण्डचक्रसूत्रोदक-कालाकाशाद्यनेकोपकरणापेक्ष घटपर्यायेणाविर्भवति। नैक एव मृत्पिण्ड कुलालादिबाह्यसाधनसन्निधानेन विना घटात्मनाविर्भवितु समर्थ.।" तत्त्वार्थवार्तिक/अध्याय ५/सूत्र १७

२. समयसार/आत्मख्याति/गाथा २८३-२८५

३ "को भव: ? आयुर्नामकर्मोदयनिमित्त आत्मन: पर्यायो भव:। प्रत्यय: कारण निमित्त-मित्यनार्थन्तरम्।" सर्वार्थसिद्धि/अध्याय १/सूत्र २१

कषायो के बन्धप्रत्यय का निर्णय करते हुए कारण (प्रत्यय, निमित्त) का यही लक्षण बतलाया है —

"जस्सण्णय-वदिरेगेहि जस्सण्णयवदिरेगा होंति तं तस्स कज्जमियर च कारणं।"[१]

— जिसके अन्वय और व्यतिरेक के साथ जिसका अन्वय और व्यतिरेक होता है, वह उसका कार्य होता है और दूसरा कारण।

जैसे प्रत्याख्यानावरण कषाय का बन्ध स्वय के उदय मे ही होता है और स्वयं के उदयाभाव मे बन्ध का अभाव देखा जाता है, इसलिए प्रत्याख्यानवरण कषाय का उदय ही अपने बन्ध का कारण सिद्ध होता है।[२] इसी प्रकार कुम्भकार के योगोपयोग के सद्भाव मे ही मिट्टी घटरूप से परिणमित होती है और अभाव मे नही होती, इस कारण कुम्भकार घट का निमित्त ठहरता है। तथा कर्मोदय के सद्भाव मे ही रागादिभावो का सद्भाव होता है और अभाव मे रागादि का अभाव। अत: सिद्ध होता है कि कर्मोदय ही रागादिभावो की उत्पत्ति का निमित्त है।

इसलिए पूर्वचर्चित विद्वानो का यह कथन समीचीन नही है कि कार्योत्पत्ति के काल मे उपादान के साथ रहने का नियम होने मात्र से सहचर द्रव्य को निमित्त सज्ञा दी जाती है।[३] वास्तविकता यह है कि सहचर द्रव्य के अन्वय-व्यतिरेक के साथ कार्योत्पत्ति का अन्वय-व्यतिरेक होता है, इस कारण उसे निमित्त सज्ञा दी जाती है।

कालप्रत्यासत्ति का अभिप्राय

न्यायग्रन्थों मे सहकारी कारण (निमित्त) और कार्य की कालप्रत्यासत्ति को अर्थात् पूर्वापरतारूप कालात्मक निकटता को उनमे कारणकार्यभाव घटित होने का हेतु बतलाया गया है। किन्तु पूर्व चर्चित विद्वानो ने दो द्रव्यो के एक साथ होने के नियम को कालप्रत्यासत्ति कहकर मात्र साथ रहने के कारण उपादानेतर पदार्थ को निमित्त शब्द से अभिहित किया जाना बतलाया है। कालप्रत्यासत्ति का यह अभिप्राय कितना गलत है, यह आचार्य विद्यानन्द स्वामी के निम्नलिखित वचन से स्पष्ट हो जाता है —

"सहकारिकारणेन कार्यस्य कथ तत् (कार्यकारणत्वम्) स्यादेकद्रव्य-

---

१ धवला/पुस्तक ८/सूत्र २०/पृ० ५१

२ "ण चेद पच्चक्खाणोदय मुच्चा अण्णत्यत्थि तम्हा पच्चक्खाणोदओ चेव पच्चओ त्ति सिद्ध।" वही

३ जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ८३५

प्रत्यासत्तेरभावादिति चेत् कालप्रत्यासत्तिविशेषात् तत्सिद्धिः। यदनन्तर हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत् कार्यमिति प्रतीतम् ।"[१]

—कोई यह प्रश्न करे कि सहकारी कारण (निमित्त) और कार्य मे एक-द्रव्यप्रत्यासत्ति (द्रव्यात्मक अभेदरूप निकटता) नही है, तब उनमें कारणकार्यभाव कैसे घटित हो सकता है ? तो इसका समाधान यह है कि उनमे कालप्रत्यासत्ति होती है, उससे घटित होता है। यह सर्वमान्य तथ्य है कि जिसके पश्चात् जो अवश्य होता है वह उसका सहकारी कारण होता है और दूसरा कार्य।

यहाँ कारण और कार्य की नियमित पूर्वापरता को ही कालप्रत्यासत्ति कहा गया है। इसी से अन्वय-व्यतिरेक घटित होता है, क्योंकि जहाँ कारण-कार्य की नियमित पूर्वापरता होती है, वहाँ कारण के सद्भाव मे ही कार्य का सद्भाव होता है और कारण के अभाव मे कार्य का अभाव। अत: सहकारी कारण और कार्य का अन्वय-व्यतिरेक ही निमित्त-नैमित्तिक सज्ञा का हेतु है।

अन्य वस्तु में कोई धर्म उत्पन्न करना निमित्त का लक्षण नहीं

कथित विद्वान् निमित्त को असत्य सिद्ध करने के लिए यह तर्क देते है कि क्या एक द्रव्य दूसरे द्रव्य मे कोई धर्म उत्पन्न कर सकता है ? यदि नही तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का निमित्त कैसे बन सकता है ? इस बात को वे दूसरे शब्दो मे इस प्रकार कहते है – "क्या एक वस्तु के कार्य का कारण-धर्म दूसरी वस्तु मे रह सकता है ?"[२]

ऐसा कहते हुए उक्त विद्वान् यह भूल जाते है कि दूसरे द्रव्य मे अपने भीतर से कोई धर्म उत्पन्न करना निमित्त का लक्षण नही है, अपितु दूसरे द्रव्य से स्वत: उत्पन्न होने वाले धर्म (कार्य) की उत्पत्ति मे बाह्य सहायक मात्र बनना निमित्त का लक्षण है। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट कहा है कि न तो जीव अपने मे से पुद्गल के धर्म को उत्पन्न करता है, न पुद्गल अपने मे से जीव के धर्म को, तथापि एक-दूसरे के निमित्त से ही वे अपना-अपना धर्म उत्पन्न करते हैं।[३] कारण यह है कि द्रव्य मे स्वकार्योत्पत्ति की शक्ति रहते हुए भी, यदि बाह्य स्थिति उसकी उत्पत्ति के अनुकूल होती है, तभी वह उत्पन्न हो पाता है। बाह्य स्थिति के

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक/अध्याय १/सूत्र ७/पृ० १५१

२ जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ८३८

३. (क) समयसार/गाथा ८०-८१

(ख) "निमित्तनैमित्तिकभावमात्रस्याप्रतिषिद्धत्वाद् इतरेतरनिमित्तमात्रीभवनेनैव द्वयोरपि परिणाम:।" वही/आत्मख्याति

प्रतिकूल होने पर उत्पत्ति असम्भव हो जाती है। यह अनुकूल या प्रतिकूल स्थिति अन्य द्रव्य के जिस परिणाम से उत्पन्न होती है, उसे ही निमित्त नाम दिया जाता है। जैसे आत्मा के सम्यग्दर्शन-धर्म की अभिव्यक्ति मे रोड़ा अटकाने वाली बाह्य-स्थिति दर्शन-मोहनीय कर्म के उदय द्वारा निर्मित होती है, और उस रोड़े को स्वपौरुष से हटाने मे सहायक बाह्य-स्थिति का निर्माण समीचीन देवशास्त्र-गुरु के उपदेश से होता है, अत: ये दोनो 'निमित्त' सज्ञा को प्राप्त होते है। इस प्रकार कोई द्रव्य अपने मे से दूसरे द्रव्य का धर्म उत्पन्न किये बिना, उस द्रव्य से ही उत्पन्न हो सकने वाले धर्म की उत्पत्ति मे साधक या बाधक स्थिति का हेतु बनता है। यही निमित्त का लक्षण है।

निश्चय से निषेध का अर्थ सर्वथा निषेध नहीं

निमित्त को अकिंचित्कर सिद्ध करने के लिए पूर्वोक्त पण्डितगण यह तर्क देते हैं कि आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने पर के साथ निश्चयनय से कारकात्मक सम्बन्ध का निषेध किया है।[१] किन्तु वे भूल जाते है कि निश्चयनय से निषेध का अर्थ सर्वथा निषेध नही है, उसमे कथंचित् (व्यवहारनय की अपेक्षा) अनिषेध भी गर्भित है। वास्तविकता यह है कि जैसे अभिन्न या स्वद्रव्याश्रित हेतु मुख्य हेतु है और भिन्न या परद्रव्याश्रित हेतु सहकारी या गौण[२], इसी प्रकार अभिन्नकारक मुख्यकारक है और भिन्नकारक सहकारी या गौण। निश्चयनय 'मुख्य' की दिशा से निर्णय करता है, इसलिए उसके द्वारा देखने पर मुख्य कारक का ही अस्तित्व दिखाई देता है, सहकारी कारक दृष्टि मे नही आता। इस कारण निश्चयनय की अपेक्षा परद्रव्याश्रित कारक के अस्तित्व का निषेध किया गया है। किन्तु, व्यवहारनय से देखने पर पर-द्रव्याश्रित अमुख्य कारक का अस्तित्व अनुभव मे आता है, इसलिए व्यवहारनय की अपेक्षा निषेध नही है।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वय कहते हैं कि निमित्त-नैमित्तिकभाव का निषेध नही है, इसलिए जीव और पुद्गल के परस्पर निमित्त बनने पर ही दोनो के परिणामो की उत्पत्ति होती है।[३] तथा उन्होने जोर देकर कहा है कि आत्मा के रागादिरूप परिणमन मे परद्रव्य का सग ही निमित्त है, क्योंकि जैसे सूर्यकान्तमणि स्वय अग्नि-रूप-परिणमित नही होता (सूर्य के निमित्त से ही परिणमित होता है), वैसे ही

---

१ जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ८३९ तथा प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका १/१६

२ "न तौ (धर्माधर्मौ) तयो (गतिस्थित्यो) मुख्यहेतू, किन्तु व्यवहारनयव्यवस्थापितौ उदासीनौ।" पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा ८९

३. "निमित्तनैमित्तिकभावमात्रस्याप्रतिषिद्धत्वादितरेतरनिमित्तमात्रीभवनेनैव द्वयोरपि परिणाम.।" समयसार/आत्मख्याति/सूत्र ८०-८१

आत्मा स्वय रागादिरूप-परिणमित नहीं होता। यह वस्तु का स्वभाव है।[1]

द्विक्रियाकारिता का प्रसंग नहीं

कथित पंडितजनो का मत है कि कार्योत्पत्ति मे निमित्त का प्रभाव मानने से द्विक्रियाकारिता (एक द्रव्य द्वारा दो द्रव्यो की क्रियाएँ किये जाने) का प्रसग आता है।[2] किन्तु यह उनकी भ्रान्ति है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार एक द्रव्य द्वारा उपादानरूप से दो द्रव्यों की क्रियाएँ किये जाने को द्विक्रियाकारिता कहते हैं।[3] स्वय की क्रिया को उपादानरूप से करने तथा अन्य द्रव्य की क्रिया मे निमित्तमात्र बनने को उन्होने द्विक्रियाकारिता नही कहा। जैसा कि कहा जा चुका है, आचार्य कुन्दकुन्द स्वय कहते है कि जीव और पुद्गल एक-दूसरे के निमित्त से अपने-अपने परिणाम को उत्पन्न करते हैं। पूर्व मे प्रतिपादित किया गया है कि किसी पदार्थ के स्वभाव मे ऐसी विशेषता होना, जिससे दूसरे पदार्थ के परिणमन का मार्ग प्रशस्त हो जाय, निमित्तभाव कहलाता है। इसलिए दूसरे के प्रति निमित्त बन सकने वाले अपने स्वभाव मे परिणत होना अपनी ही क्रिया है, परद्रव्य की नही। धर्मद्रव्य अपने ही स्वभाव मे परिणमित होता है, किन्तु उसका परिणमन जीव और पुद्गल की गति का निमित्त बन जाता है, तो क्या धर्मद्रव्य दो द्रव्यो की क्रियाएँ करता है ? सूर्य भी अपने ही प्रकाश-स्वभाव मे परिणमित होने की क्रिया करता है, वह क्रिया कमलो के विकास के अनुकूल होती है और उस अनुकूलता को पाकर कमल खिल जाते है, तो क्या सूर्य कमल की क्रिया भी करता है ? स्पष्ट है कि परद्रव्य के कार्य मे निमित्त बननेवाले अपने स्वभाव मे परिणत होना दो द्रव्यो की क्रियाएँ करना नही है।

निमित्त से स्वतन्त्रता बाधित नहीं होती

उक्त विद्वानो का मत है कि कुम्भकार को घटोत्पत्ति मे सहायक मानने से द्रव्य की स्वतन्त्रता बाधित होती है।[4] यह मत समीचीन नही है, क्योंकि कार्योत्पत्ति मे उपादान की ही प्रधानता है, वही कार्यरूप मे परिणत होता है, निमित्त तो मात्र

---

१ न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्त ।
तस्मिन्निमित्त परसङ्ग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ।। समयसार/कलश १७५

२ जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ८४३-८४४

३ "यथा व्याप्यव्यापकभावेन स्वपरिणाम करोति जीवस्तथा व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलकर्मापि कुर्यात् ततो, ···· स्वपरसमवेतक्रियाद्वयाव्यतिरिक्ताया प्रसजन्त्याम्।"
समयसार/आत्मख्याति/गाथा ८५

४. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ८४०

बाह्यत. सहकारी होता है, अत: उसका प्राधान्य नही है। इस कारण द्रव्य की स्वतन्त्रता बाधित नही होती। इस विषय मे भट्ट अकलकदेव के निम्नलिखित वचन प्रमाण हैं —

"ननु बाह्यद्रव्यादिनिमित्तवशात् परिणामिना परिणाम उपलभ्यते, स च स्वातन्त्र्ये सति विरुध्यत इति। नैष दोष:, बाह्यस्य निमित्तमात्रत्वात्।"[१]

— प्रश्न : यदि बाह्यद्रव्यादि के निमित्त से परिणमित होकर वस्तुएँ अपना परिणाम उत्पन्न करती है, तो इससे उनके स्वातन्त्र्य का विरोध होता है ?

समाधान : ऐसा नही है, क्योकि बाह्य पदार्थ निमित्तमात्र होते है।

यहाँ इस युक्ति से विचार किया जाय कि धर्मादि द्रव्यो के निमित्त से ही जीव और पुद्गल के गति-स्थिति परिणाम सम्भव होते है, तो क्या इससे उनका स्वातन्त्र्य बाधित होता है ? क्या जीव अपने मोक्ष-पुरुषार्थ मे असमर्थ हो जाता है ? यदि नही, तो निश्चित है कि कार्योत्पत्ति मे परद्रव्य के निमित्तमात्र होने से वस्तु-स्वातन्त्र्य पर आँच नही आती।

इन युक्तियों और प्रमाणो से सिद्ध है कि कथित विद्वानो का यह मत अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है कि 'एक वस्तु के कार्य का दूसरी वस्तु को निमित्तकर्त्ता कहना मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहने के समान उपचरित वचन ही है।' वस्तुत. यह उसी प्रकार का यथार्थ वचन है जैसे मिट्टी के घड़े को मिट्टी का घड़ा कहना। इसके यथार्थ वचन होने का प्रमाण आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य अमृतचन्द्र तथा आचार्य जयसेन के निम्नलिखित वचन हैं —

जीवो ण करेदि घड णेव पड णेव सेसगे दव्वे ।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसि हवदि कत्ता ।।[२]

— जीव न घट का कर्त्ता है, न पट का, न शेष द्रव्यो का। उसके योग (आत्मप्रदेशो का परिस्पन्द) तथा उपयोग (मानसिक व्यापार) उनके कर्त्ता (निमित्तकर्त्ता) हैं, जीव मात्र अपने योगोपयोग का कर्त्ता है।

"अनित्यौ योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्त्तारौ"[३] जीव के अनित्य योग और उपयोग ही घट-पटादि द्रव्यो के निमित्त कर्त्ता हैं।

"इति परम्परया निमित्तरूपेण घटादिविषये जीवस्य कर्तृत्व स्यात्"[४] इस

---

१ तत्त्वार्थराजवार्तिक/अध्याय ५/सूत्र १

२ समयसार/गाथा १००

३ वही/आत्मख्याति

४ वही/तात्पर्यवृत्ति

प्रकार परम्परया निमित्तरूप से घट-पट आदि के विषय मे जीव का कर्तृत्व होता है।

इन निरूपणो में जीव को घट-पटादि का कर्त्ता कहने के उपचारवचन का निषेध किया गया है और उसके योगोपयोग के ही घटादि का निमित्तकर्त्ता होने का प्रतिपादन किया गया है। यदि निमित्तकर्त्ता कहना भी उपचारवचन होता तो उसका भी निषेध किया जाता, किन्तु समस्त अध्यात्मग्रन्थों मे कही भी निषेध नही किया गया है, सर्वत्र प्रतिपादन ही किया गया है। इतना ही नही, 'ही' (एव) शब्द के प्रयोग द्वारा इसे ही यथार्थ मानने पर जोर दिया गया है। अत: इन आचार्यवचनो से प्रमाणित है कि एक वस्तु को दूसरो वस्तु के कार्य का निमित्तकर्त्ता कहना सर्वथा यथार्थवचन है।

निष्कर्ष यह है कि आगम मे किसी भी पदार्थ के लिए 'निमित्त' शब्द का प्रयोग उपचार से नही हुआ है, अपितु मुख्यत: ही किया गया है। निमित्त के अभाव मे कार्य असम्भव होता है, इसलिए कार्य की उत्पत्ति मे उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। उसे असत्य या अकिंचित्कर कहना आगम का अपलाप है।

जिस दूसरी मिथ्या धारणा का प्रसव किया गया है, वह यह है कि प्रत्येक कार्य उपादानप्रेरित ही होता है, निमित्तप्रेरित नही। दूसरे शब्दो मे, प्रत्येक कार्य का नियामक उपादान ही है, निमित्त नही, तथा कोई भी निमित्त प्रेरक नही होता, सभी उदासीन होते हैं।[1] इस धारणा को जन्म देनेवाले विद्वानो का कहना है कि कार्य को निमित्त-प्रेरित मानने पर प्रत्येक कार्य के प्रति उपादान की कोई नियामकता नही रहती।[2] अत: उपादान से वही कार्य उत्पन्न होता है, जिसे उत्पन्न करने की उस समय उसमे योग्यता होती है। कोई भी निमित्त उससे अन्य कार्य की उत्पत्ति नही करा सकता। वे इसके समर्थन मे स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा का यह वचन उद्धृत करते हैं कि "द्रव्य की पूर्वपर्याय उपादान कारण होती है और उत्तरपर्याय कार्य।[3] अत. अनन्तर (अव्यवहित) पूर्व समय मे जैसा उपादान होगा, अनन्तर उत्तरक्षण मे उसी प्रकार का कार्य उत्पन्न होगा। निमित्त उसे अन्यथा नही परिणमा सकता।"[4]

उदाहरणार्थ, खेत मे बोये हुए बीज से पहले अकुर ही उत्पन्न होगा, पत्र या पुष्प नही। जीव की अयोगकेवली अवस्था के अन्तिम क्षण से मुक्त अवस्था

---

१ जैनतत्त्वमीमासा/पृ० ५३-५८

२ वही/पृ० ५९

३ पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्व ।
उत्तरपरिणामजुदं त चिय कज्ज हवे णियमा ।। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २३०

४ जैनतत्त्वमीमासा/पृ० ५३

ही उत्पन्न होगी, अन्य नही।[1] इससे सिद्ध है कि द्रव्य की पूर्वपर्याय (उपादान) जैसी होती है वैसा ही कार्य उत्पन्न होता है, न कि जैसा निमित्त मिलता है वैसा। वस्तुत: निमित्त भी पूर्वपर्यायसदृश कार्योत्पत्ति के अनुरूप ही मिलता है और वह स्वयमेव उपस्थित होता है।[2]

इस धारणा की असमीचीनता आगे प्रस्तुत युक्तियो और प्रमाणो से स्पष्ट हो जाती है।

अशुद्धोपादानजन्य कार्य निमित्तप्रेरित

इसमे सन्देह नही कि द्रव्य से वही कार्य उत्पन्न हो सकता है जिसे उत्पन्न करने की उस समय उसमे योग्यता होती है। कोई भी अन्य द्रव्य उससे अन्य कार्य उत्पन्न नही करा सकता, अपितु उसी कार्य की उत्पत्ति मे सहायक बन सकता है। अर्थात् उसके उत्पन्न होने मे जो प्रतिकूल परिस्थितियाँ (बाधाएँ) होती है, वे ही उसके स्वभावविशेष से दूर हो सकती है।

निष्कर्ष यह कि कार्य के स्वरूप का नियामक उपादान ही होता है, निमित्त नही। किन्तु, यह शुद्ध उपादान के विषय मे तो सर्वथा सत्य है, पर अशुद्ध उपादान के विषय मे सर्वथा सत्य नही है, क्योंकि अशुद्धोपादान का निर्माण स्वय निमित्ताधीन है। उदाहरणार्थ, आत्मा जो अनादि से अशुद्धोपादान बना हुआ है, वह पुद्गलकर्मों के निमित्त से ही बना हुआ है। आचार्य जयसेन ने स्पष्ट कहा है कि कर्मोपाधियुक्त जीव ही अशुद्ध उपादान है।[3] ब्रह्मदेव सूरि का भी यही कथन है।[4] अत जब उपादान की अशुद्धता ही निमित्तप्रेरित है, तो उससे उत्पन्न होनेवाला अशुद्धकार्य निमित्तप्रेरित कैसे नही होगा ? उपादान का अशुद्ध होना स्वय एक कार्य है जो पूर्णत· निमित्त पर निर्भर है। कोई भी वस्तु स्वय अशुद्ध नही हो सकती। अत· स्पष्ट है कि अशुद्ध कार्य निमित्तप्रेरित होता है और वही कार्य उत्तरक्षण मे उत्पन्न होनेवाले कार्य का उपादान बन जाता है। अत: अशुद्धोपादान का निमित्तप्रेरित होना अथवा अशुद्धकार्य का निमित्तप्रेरित होना, दोनो का तात्पर्य एक ही है। अभिप्राय यह है कि जब उपादान की अशुद्धि का नियमन निमित्त के हाथ मे होता है, तब उससे उत्पन्न होनेवाले कार्य के स्वरूप का नियमन निमित्त के हाथ मे होगा ही। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी

१ जैनतत्त्वमीमासा/पृ० ४५

२ वही/पृ० १५४

३. "हे भगवन् ! रागादीनामशुद्धोपादानरूपेण कर्तृत्व भणित, तदुपादान शुद्धाशुद्धभेदेन कथ द्विधा भवतीति? तत्कथ्यते। औपाधिकमुपादानमशुद्ध तप्ताय·पिण्डवत्। निरुपाधि-रुपादान शुद्ध पीतत्वादिगुणाना सुवर्णवत् ।" समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १०२

४ बृहद्द्रव्यसग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा ८

कहा है —

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्ण मोहजुत्तस्स ।
मिच्छत्त अण्णाण अविरदिभावो य णायव्वो ।।
एएसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरजणो भावो ।
जं सो करेदि भाव उवओगो तस्स सो कत्ता ।।[१]

— मोहसयुक्त उपयोग (चैतन्यपरिणाम) के अनादि से तीन अशुद्ध परिणाम होते हैं — मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति। इन तीन अशुद्ध परिणामो के निमित्त से यह उपयोग, स्वभाव से शुद्ध और एकरूप होते हुए भी तीन प्रकार का होकर जिस भाव को करता है उस भाव का कर्त्ता होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द के इस कथन से स्पष्ट है कि शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा के जो मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति ये तीन अशुद्ध परिणाम होते हैं वे स्वभाव-जनित नही हैं, बल्कि अनादिसयुक्त मोहकर्म के निमित्त से होते है। इस तथ्य को कुन्दकुन्द ने निम्नलिखित गाथाओ मे और भी अच्छी तरह स्पष्ट किया है —

जह फलिहमणी सुद्धो ण सय परिणमइ रायमाईहि ।
रगिज्जदि अण्णेहि दु सो रत्तादीहि दव्वेहिं ।।
एव णाणी सुद्धो ण सय परिणमइ रायमाईहि ।
राइज्जदि अण्णेहि दु सो रागादीहि दोसेहि ।।[२]

— जैसे स्फटिक मणि स्वभाव से शुद्ध होने के कारण स्वय रक्तपीतादि रूप से परिणमित नही होता, अपितु रक्त-पीत वर्णवाले अन्य द्रव्यो के सयोग से परिणमित होता है, वैसे ही आत्मा स्वभाव से शुद्ध (रागादिरहित) होने के कारण स्वय रागादिरूप से परिणत नही होता, अपितु रागादिस्वभाववाले पुद्गलकर्मरूप परद्रव्य के सयोग से परिणत होता है।

यहाँ कुन्दकुन्ददेव ने स्फटिक मणि के दृष्टान्त से यह सम्यग्रूपेण स्पष्ट कर दिया है कि आत्मा मे उत्पन्न होने वाले रागादि अशुद्धभाव उपादानप्रेरित नही, अपितु निमित्तप्रेरित हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र ने भी कहा है — "आत्मात्मना रागादीनामकारक एव · ·परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु।"[३] अर्थात् आत्मा अपने आप रागादि-भावो को कर ही नही सकता। परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावो का निमित्त है।

---

१ समयसार/गाथा ८९-९०

२ वही/गाथा २७८-२७९

३ वही/आत्मख्याति/गाथा २८३-२८५

आचार्य जयसेन का भी कथन है — "कर्मोदयजनिता रागादयो न तु ज्ञानिजीवजनिता:।"[१]

— रागादि कर्मोदयजनित हैं, ज्ञानीजीवजनित नही हैं।

ये युक्तियाँ और आर्षवचन इस निष्कर्ष पर पहुँचाते हैं कि जीव या पुद्गल से उत्पन्न होनेवाले अशुद्धभाव वस्तुत· निमित्तप्रेरित ही होते हैं, किन्तु जब निमित्त को उपादान मे अन्तर्भूत कर उपादान को अशुद्ध उपादान के रूप मे ग्रहण कर लेते है, तब यह कहना भी सगत होता है कि अशुद्धकार्य उपादान से ही प्रेरित होता है या प्रत्येक कार्य का नियमन उपादान करता है। आचार्य जयसेन के निम्न-लिखित वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है कि जो निमित्त उपादान मे अन्तर्भूत होता है उसके द्वारा प्रेरित अशुद्धभाव ही अशुद्धोपादानजन्य कहलाते है —

"जीवपुद्गलसयोगेनोत्पन्ना मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चय-नयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसम्बद्धा ।"[२]

—जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न मिथ्यात्वरागादि भावप्रत्यय अशुद्ध निश्चयनय से अशुद्धोपादानजनित होने के कारण चेतन है, अर्थात् आत्मा के है।

इस व्याख्यान मे आचार्यश्री ने 'जीव-पुद्गलसयोग से उत्पन्न' इन शब्दो के द्वारा यह निर्देश कर दिया है कि मिथ्यात्वरागादिभाव निमित्तप्रेरित है तथा 'अशुद्धोपादानजनित होने से चेतन है' इस वचन से यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इस प्रकार निमित्तप्रेरित भावो को ही अशुद्धोपादान द्वारा नियमित कहते है। अत अशुद्धोपादानजन्य कार्य निमित्तप्रेरित होते है या उनका नियमन अशुद्धोपादान करता है, इन दोनो कथनो का आशय एक ही है। इनमे केवल भाषा का अन्तर है, अर्थ का नही। अशुद्ध उपादान के भीतर निमित्त समाया हुआ है, अत: 'अशुद्ध कार्य का नियमन अशुद्धोपादान करता है' इस कथन से भी यही फलित होता है कि अशुद्धकार्य निमित्त-प्रेरित हैं।

कर्म प्रेरक निमित्त ही है

प्रत्येक कार्य को उपादान-प्रेरित सिद्ध करने के लिए चर्चित विद्वानो ने कर्मरूप निमित्त की प्रेरकता को ही अमान्य कर दिया। वे कहते हैं कि कर्म भी धर्मादि द्रव्यो के समान उदासीन निमित्त हैं, प्रेरक नही। उनके अनुसार जैसे धर्मादि द्रव्य जीव के गति आदि क्रिया मे स्वय प्रवृत्त होने पर सहायता मात्र करते है, वैसे ही जब जीव रागादिरूप से परिणत होने के लिए स्वय प्रवृत्त होता है, तब

---

१. समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा २७८-२७९

२. वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १०९-११२

पुद्गलकर्म उसमे सहायता मात्र करते हैं।[1] आगम मे जो पुद्गल कर्मों को प्रेरक कहा गया है, उसकी वे दूसरी ही व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं कि पुद्गलकर्म, नोकर्म, मेघ, बिजली, वायु आदि जड़ वस्तुएँ क्रियावान् (सक्रिय) हैं।[2] उनकी ईरण (गति) क्रिया की प्रकृष्टता अन्य द्रव्यो के क्रिया-व्यापार के समय उनके बलाधान मे निमित्त होती है। इस बात को ध्यान मे रखकर ही उन्हे प्रेरक कहा गया है।[3] बलाधान के विषय मे भी उनका मत है कि कार्योत्पत्ति के समय बल का आधान स्वय उपादान करता है, किन्तु उसमे निमित्त अन्य द्रव्य होता है।[4]

उनका आशय यही है कि पुद्गलकर्म जीव को रागादिरूप से परिणत होने के लिए प्रभावित नही करते, अपितु जब वह स्वय रागादिरूप से परिणत होने की चेष्टा करता है, तब वे उसमे सहायता कर देते हैं। 'सहायता कर देते हैं' यह कहना भी उचित नही है। वे (पुद्गलकर्मरूप निमित्त) वहाँ मात्र उपस्थित रहते हैं, यह कहना ही उचित है।

यह मत समीचीन नही है। आत्मा के साथ सयुक्त पुद्गलकर्म धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा गुरु आदि निमित्तो से भिन्न हैं। इनके समान वे जीव के स्वत परिणमन मे उदासीनरूप से सहायता मात्र नही करते, बल्कि उसे इस प्रकार प्रभावित करते है कि वह स्वाभाविक क्रिया छोड़कर स्वभाव से विपरीत क्रिया करने लगता है। कर्म इसलिए प्रेरक नही कहलाते कि उनकी ईरण (गति) क्रिया की प्रकृष्टता जीव के रागादिरूप परिणमन-व्यापार मे सहायता मात्र करती है, बल्कि इसलिए कहलाते है कि वे अपनी ओर से ऐसा प्रभाव उत्पन्न करते हैं, जिससे जीव स्वभाव से विपरीत रागादिरूपपरिणमन करने लगता है। यद्यपि परिणमनशक्ति जीव मे ही है, तथापि कर्मजनित प्रभाव के बिना जीव के परिणमन मे रागादि विकार नही आ सकता। वह कर्मोदय के प्रभाव से ही सम्भव है।

धर्मादि द्रव्य एव गुरु आदि निमित्त, उपादान के उसी गुण के परिणमन मे सहायता करते हैं जो उसमें स्वभावत: है। उसमे न कोई बाधा पहुँचाते हैं, न किसी अस्वाभाविक दशा की उत्पत्ति मे हेतु बनते हैं। किन्तु कर्म ठीक इसके विपरीत हैं। वे जीव के स्वभावभूत गुण के परिणमन में सहायता नही करते, अपितु बाधा

---

१. ''जो क्रियावान् निमित्त प्रेरक कहे जाते हैं वे भी उदासीन निमित्तो के समान कार्योत्पत्ति के समय सहायक मात्र होते हैं।'' जैनतत्त्वमीमासा/प्रथम सस्करण/पृ० ८३

२ जैनतत्त्वमीमासा/प्रथम संस्करण/पृ० ५३

३. वही, पृ० ८४, पृ० ९०

४. वही, पृ० ५४

पहुँचाते हैं तथा अस्वाभाविक दशा की उत्पत्ति मे हेतु बनते है।[१] इसीलिए उनके नाम ज्ञानावरण (ज्ञान को आवृत करनेवाला), दर्शनावरण (दर्शन को आवृत करनेवाला) मोहनीय (मोहित करनेवाला), अन्तराय (विघ्न उपस्थित करनेवाला) आदि हैं।[२]

ज्ञानावरण कर्म आत्मा के ज्ञानगुण को आवृत करने का ही काम करता है, तभी अज्ञान उत्पन्न होता है।[३] ऐसा नही है कि आत्मा मे स्वभाव से अज्ञान नामक गुण है और ज्ञानावरण कर्म केवल उसके परिणमन मे सहायता करता है। इसी प्रकार, मोहनीय कर्म आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान एव चारित्र गुणो के स्वाभाविक परिणमन मे बाधा डालकर उनके मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एव मिथ्याचारित्र के रूप मे परिणत होने का कारण बनता है। ऐसा नही है कि मिथ्यादर्शनादि आत्मा के स्वभावभूत धर्म है और आत्मा जब इन धर्मो के रूप मे स्वय परिणत होने के लिए उद्यत होता है, तब मोहनीय उसमे सहायता मात्र कर देता है।

धर्मादि द्रव्य जीव के स्वभाव का घात (आच्छादन, प्रतिबन्ध एव विपर्यय) नही करते, किन्तु पुद्गल कर्म करते हैं, इसीलिए ज्ञानावरणादि चार कर्मों को घाती कहा गया है।[४] इसके अतिरिक्त जीव के निष्क्रिय रहने पर धर्मादि द्रव्य उसे गति आदि क्रियाओ मे प्रवृत्त नही करते, किन्तु कर्म जीव के न चाहने पर भी उसे कषायरजित कर देते हैं। यहॉ तक कि वे उसे कषायप्रतिरोधी साधना मे लीन रहने पर भी रागादि के वशीभूत कर देते हैं, जिससे उच्च भूमिका मे स्थित साधक को भी समाधि से च्युत होने पर भक्ति आदि शुभराग मे लगना पड़ता है।[५] उनके उदय मे जीव ग्यारहवे गुणस्थान से नीचे गिर जाता है और निम्न भूमिका मे स्थित श्रावक यह जानते हुए भी कि विषयसुख हेय है, फलस्वरूप उससे बचने का प्रयत्न करते हुए भी कर्मोदय के वशीभूत हो विषयसेवन के लिए विवश होते

---

१ (क) "परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावात्।" समयसार/कलश ३

(ख) "दसण अत्तागमपयत्थेसु रुई सद्धा फोसणमिदि एयट्ठो। त मोहेदि विवरीय कुणदि त्ति दसणमोहणीय।" धवला/पुस्तक ६/पृ० ३८

२. णाणमवबोहो अवगमो परिच्छेदो इति एयट्ठो ।
तमावरेदि त्ति णाणावरणीय कम्म ।। धवला ६/१/९-१/५

३. कावि अउव्वा दीसदि पुग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती ।
केवलणाणसहावो विणासिदो जाइ जीवस्स ।। कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा/गाथा २११

४ "केवलणाण-दसण-सम्मत्त-चारित्त-वीरियाणमणेयभेयभिण्णाण जीवगुणाणं विरोहित्तणेण तेसिं घादिववदेसादो।" धवला ७/२/१/१५

५. पञ्चास्तिकाय/तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति/गाथा १३६

हैं।[1] ये तथ्य प्रमाणित करते हैं कि कर्म, धर्मादि द्रव्यो से भिन्न प्रकार के निमित्त हैं जिनका स्वरूप उदासीन-रूप से सहायक होना नही है, बल्कि जीव के स्वभाव का घात करना तथा उसे परतन्त्र बनाना है। इस अर्थ मे ही उन्हे प्रेरक कहा गया है।

आगम मे जो यह कहा गया है कि जीव कर्मोदय के निमित्त से स्वय रागादिरूप से परिणत होता है, कर्म उसे बलपूर्वक नही परिणमाते, यह जीव की कथचित् परिणामित्वशक्ति को दर्शाने के लिए कहा गया है, अर्थात् यह बतलाने के लिए कि जीव मे कर्मों की रागादि प्रकृति से प्रभावित होने की स्वाभाविक शक्ति है, इसलिए वह उससे प्रभावित होकर रागादिरूप से परिणत हो जाता है। यदि यह शक्ति न होती तो कर्म अपनी रागादिप्रकृति का प्रभाव बलपूर्वक उस पर न छोड़ पाते। जीव के इस परिणामित्वगुण की उपमा आचार्य कुन्दकुन्द ने स्फटिकमणि की प्रतिबिम्ब-ग्रहणशक्ति (स्वच्छता) से दी है।[2] इस शक्ति के होने के कारण ही जपापुष्पादि के ससर्ग से उनका रगबिरगा स्वरूप स्फटिकमणि मे प्रतिबिम्बित होता है। इसी प्रकार जिस योग्यता के कारण जीव आत्मसम्बद्ध कर्मों की रागादि-प्रकृति से प्रभावित होकर रागादिरूप हो जाता है, वह योग्यता ही जीव की परिणामित्वशक्ति है। इसी स्वभावभूत परिणमन शक्ति को दृष्टि मे रखकर जीव को रागादि भावो का उपादानकर्त्ता तथा कर्मोदय को निमित्तमात्र कहा जाता है।[3]

स्वपर-प्रत्ययपरिणमन

किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि रागादिभाव भी जीव के स्वभाव से ही उद्भूत होते है और कर्म उनकी उत्पत्ति मे धर्मादिद्रव्यो के समान उदासीनरूप से सहायता मात्र करते हैं। यदि ऐसा हो तो रागादिभाव जीव के स्वभाव सिद्ध होगे और उनकी उत्पत्ति के लिए कर्मरूप निमित्त की आवश्यकता सिद्ध न होगी, क्योंकि गत्यादिरूप परिणमन के लिए धर्मादिद्रव्यरूप निमित्त की तथा अन्य स्वाभाविक परिणमन के लिए केवल कालद्रव्यरूप निमित्त की आवश्यकता होती है। आत्मा का रागादिभावरूप परिणमन स्वपरप्रत्यय-परिणमन है, जो कुछ स्वत होता है, कुछ कर्मों के निमित्त से। इस दृष्टि से आत्मा और पुद्गल कथंचित् ही परिणामी है,

---

१. "यथा कोऽपि तस्करो यद्यपि मरण नेच्छति तथापि तलवरेण गृहीत सन् मरणमनुभवति तथा सम्यग्दृष्टि: यद्यप्यात्मोत्थसुखमुपादेय च जानाति विषयसुखं च हेय जानाति तथापि चारित्रमोहोदयतलवरेण गृहीत सन् तदनुभवति।" समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १९४

२. वही/आत्मख्याति/गाथा ८९

३ "तस्या परिणामशक्तौ स्थितायां स जीव: कर्त्ता यं परिणाममात्मन: करोति तस्य स एवोपादानकर्त्ता, द्रव्यकर्मस्तु निमित्तमात्रम्।" वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १२१-१२५

कथंचित् अपरिणामी भी हैं।[1] इसे आचार्य जयसेन ने निम्नलिखित विवेचन मे स्पष्ट किया है —

"यदि कहा जाय कि पुद्गलकर्मरूप द्रव्यक्रोध उदय मे आकर जीव को बलपूर्वक भावक्रोधरूप से परिणमा देता है तो प्रश्न है कि वह अपरिणामी जीव को परिणमाता है या परिणामी को ? अपरिणामी को तो परिणमा नही सकता, क्योंकि जो शक्ति वस्तु मे स्वत. नही है, उसे कोई दूसरा उत्पन्न नही कर सकता। जपापुष्पादि पदार्थ जिस प्रकार स्फटिक मे उपाधि उत्पन्न कर देते हैं, वैसे लकड़ी, खम्भे आदि मे नही कर सकते, क्योंकि वे स्वत परिणामी नही है। इसके विपरीत यदि कर्म एकान्तत· परिणामी जीव को परिणमाते हैं तो उदय मे आये हुए द्रव्यक्रोधरूप निमित्त के बिना भी वह भावक्रोधरूप परिणमित हो सकता है, क्योंकि वस्तु मे जो स्वभावभूत शक्तियाँ हैं वे पर की अपेक्षा नही करती (अर्थात् यदि रागादिभाव जीव मे ही शक्तिरूप मे विद्यमान हो तो कर्मरूप निमित्त की आवश्यकता नही होगी)। इस स्थिति मे मुक्तात्माओ मे भी भावक्रोधादि उत्पन्न होने लगेगे। किन्तु यह आगमविरुद्ध होने से मान्य नही है।"[2] अत सिद्ध है कि जीव मे स्वभावभूत कथचित्परिणामित्व शक्ति है।

यहाँ आचार्य जयसेन ने जीव को सर्वथा परिणामी न बतलाकर कथचित् परिणामी बतलाया है, जिसका फलितार्थ यह है कि वह कथचित् अपरिणामी भी है, और कथचित् अपरिणामी होने से (रागादि की शक्ति स्वय मे न होने से) ही रागादिरूप परिणमन के लिए कर्मोदयरूप निमित्त की आवश्यकता है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कर्मोदयरूप निमित्त कथंचित् अपरिणामी को परिणमाते हैं, अत: कर्म प्रेरक निमित्त हैं। धर्मादि द्रव्य कथंचित् अपरिणामी को नही परिणमाते, अपितु जो गत्यादि मे स्वय परिणत हो जाता है उसके ही गत्यादि परिणमन मे सहायता करते हैं, इसलिए वे उदासीन हैं।

मोहादिप्रकृतिक कर्म ही चिद्विकार के हेतु

तात्पर्य यह कि कर्मों के मोहरागात्मकस्वभाव से प्रभावित होकर मोह-रागात्मक हो जाना ही जीव का कथचित् परिणामी होना है। यह उसकी स्वभावभूत शक्ति है। यही स्वपरप्रत्ययपरिणमन है। इससे इस तथ्य की विज्ञप्ति होती है कि आत्मा के परिणामों मे जो रागादि विकार आते हैं वे कर्मप्रेरित ही हैं।

---

१ "यदुक्त पूर्वं पुण्यपापादिसप्तपदार्थजीवपुद्गलसयोगपरिणामनिवृत्तास्ते च जीवपुद्गलयो. कथञ्चित्परिणामत्वे सति घटन्ते।" समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १२१-१२५

२. वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १२१-१२५

कर्मों की प्रेरकता स्पष्ट करने के लिए ही आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा के रागादिरूप मे परिणत होने का दृष्टान्त स्फटिक के रागादिरूप मे परिणत होने से दिया है। स्फटिक स्वभाव से स्वच्छ होता है। उसमे जो लालिमा आदि अन्य वर्ण आते हैं वे उन वर्णोंवाले अन्य पदार्थो के सयोग से आते हैं, स्फटिक से प्रकट नही होते। इसी प्रकार आत्मा स्वभाव से शुद्ध (रागादिरहित) है। उसमे जो रागादि-भाव आते है वे रागादिप्रकृतिवाले कर्मों के सम्पर्क से आते हैं, आत्मा से प्रकट नही होते। इस तथ्य को आचार्य अमृचन्द्र ने निम्न शब्दो में स्पष्ट किया है —

"जैसे स्फटिक पाषाण यद्यपि परिणामस्वभावी है, तो भी स्वभाव से शुद्ध होने के कारण रक्तपीतादि अवस्था का निमित्त न बन पाने से स्वय रक्तपीतादिरूप से परिणमित नही होता, रक्तपीतादिप्रकृतिवाले (जपापुष्पादि) परद्रव्य का निमित्त प्राप्त होने पर ही अपने शुद्धस्वभाव से च्युत होकर रक्तपीतादि दशा को प्राप्त होता है, वैसे ही आत्मा यद्यपि परिणामस्वभावी है, तो भी स्वभाव से शुद्ध होने के कारण रागादिभावो का निमित्त न बन पाने से, स्वय रागादिरूप से परिणत नही होता, रागादि- स्वभाववाले पुद्गलकर्मों का निमित्त मिलने पर ही अपने शुद्धस्वभाव से च्युत होकर रागादिभाव को प्राप्त होता है, यह वस्तुस्वभाव है।"[१]

वे और भी स्पष्ट करते हुए कहते है — "आत्मा अपने आप तो रागादिभावो का कारक है ही नही। पर द्रव्य (पुद्गलकर्म) ही आत्मा के रागादिभावो का निमित्त है।"[२]

पूर्व मे निर्देश किया गया है कि कर्मों का निमित्तस्वरूप विशेष प्रकार का है, सामान्य प्रकार का नही। वे ऐसे निमित्त हैं, जिनके कारण आत्मा स्वाभाविक परिणमन छोड़कर विपरीत परिणमन करने लगता है। इसे आचार्य अमृतचन्द्र ने इस प्रकार समझाया है —

"जैसे नीले, हरे और पीले पदार्थों के सम्पर्क से स्फटिक पाषाण के स्वच्छ स्वरूप मे नील, हरित और पीत विकार आ जाते हैं, वैसे ही मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वभाववाले मोहकर्म के सयोग से आत्मा के निर्विकार परिणाम मे मिथ्यादर्शन,

---

१. " तथा केवल: किलात्मा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावाद् रागादिभिः स्वय न परिणमते, परद्रव्येणैव स्वय रागादिभावा-पन्नतया स्वयं रागादिनिमित्तभूतेन शुद्धस्वभावात् प्रच्यवमान एव रागादिभि· परिणम्येत, इति तावद्वस्तुस्वभाव.।" समयसार/आत्मख्याति/गाथा २७८-२७९

२. "आत्मात्मना रागादीनामकारक एव। तत· परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु।" वही/गाथा २८३-२८५

मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीन विकार उत्पन्न हो जाते हैं।[१]

इस प्रकार चूँकि रागादिप्रकृतिवाले कर्मों के सम्पर्क से ही शुद्ध आत्मा में रागादि विकार की उत्पत्ति होती है, अन्यथा स्वभाव से शुद्ध होने के कारण उसमे ये विकार उत्पन्न नहीं हो सकते, अत: सिद्ध है कि कर्म उदासीन निमित्त नही हैं, प्रेरक निमित्त है।

प्रेरक ही नही, आक्रामक और घातक

कर्म प्रेरक ही नही, आक्रामक और घातक हैं। 'प्रेरक' शब्द सिर्फ बलपूर्वक दिशाविशेष मे ले जाने का वाचक है। कर्म तो बलपूर्वक आत्मा पर आक्रमण कर उसकी शक्तियो का घात कर देते हैं। अनादिकाल से घाती कर्मों ने जीव की अनन्तचतुष्टयरूप शक्तियो को दबाकर उसे अज्ञानी, अशक्त, दीन और दु:खी बना रखा है।[२] वे आत्मा को परतन्त्रता की बेड़ियो मे जकड़ते हैं। इसीलिए विद्यानन्द स्वामी ने कर्मों का लक्षण बतलाते हुए कहा है — "जो जीव को परतत्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतन्त्र किया जाता है, उन्हे कर्म कहते हैं।"[३]

अज्ञानी ही नही, ज्ञानी भी कर्मो की अभिभावक शक्ति से परास्त हो जाते हैं, यह पूर्व मे बतलाया जा चुका है। पडित टोडरमल जी कहते हैं — "जब कर्मो का तीव्र उदय होता है तब पुरुषार्थ नही हो सकता, साधक ऊपर के गुणस्थानो से भी नीचे गिर जाता है।"[४]

पडित आशाधर जी का कथन है — "जिनेन्द्रदेव के उपदेश से विषयो को निरन्तर त्याज्य समझते हुए भी जो चारित्रमोह के उदय से उनका त्याग करने मे असमर्थ हैं, उन सम्यग्दृष्टि भव्य जीवो के लिए गृहस्थधर्म की अनुमति दी गई है।"[५]

यह कथन दर्शाता है कि कर्मोदय जीव की शक्ति का हरणकर उसे असमर्थ बना देता है, तभी वह विषयवासनाओ के वशीभूत होता है। कर्मों की अभिभावक-

---

१ समयसार/आत्मख्याति/गाथा ८९

२ "आत्मा हि ज्ञानदर्शनसुखस्वभाव. ससारावस्थायामनादिकर्मक्लेशसङ्कोचितात्मशक्ति·।"
पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा २९

३. "जीवं परतन्त्रीकुर्वन्ति स परतन्त्रीक्रियते वा यैस्तानि कर्माणि।"
आप्तपरीक्षा/टीका/श्लोक ११३

४. मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ९/पृ० ३१४

५. त्याज्यानजस्रं विषयान्पश्यतोऽपि जिनाज्ञया ।
मोहात्त्यक्तुमशक्तस्य गृहिधर्मोऽनुमन्यते ।। सागारधर्मामृत २/१

शक्ति कितनी भीषण है, यह आचार्य अमृतचन्द्र के निम्नलिखित वक्तव्य से प्रकट हो जाता है —

"इह सकलस्यापि जीवलोकस्य ससारचक्रक्रोडाधिरोपितस्य ····एकच्छत्रीकृतविश्वतया महता मोहग्रहेण गोरिव बाह्यमानस्य ···।"[१]

—अर्थात् ससाररूपी चक्र मे फँसे ये जीव समस्त विश्व पर एकछत्र शासन करनेवाले मोहरूप बलवान् पिशाच के द्वारा बैल के समान हाँके जाते हैं।

इस कथन मे 'समस्त विश्व पर एकछत्र शासन करनेवाला', 'बलवान् पिशाच' तथा 'जीवो को बैल के समान हाँकनेवाला' इन शब्दो से अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मों की शक्ति कितनी दुर्धर्ष है।

इस दुर्धर्ष एव जीवस्वभावघातक प्रकृति के कारण ही कर्मों को शत्रु की उपमा दी गई है और उनको जीत लेने के कारण ही आत्मा 'जिन' कहलाता है —

"अनेकभवगहनविषयव्यसनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयतीति जिन.।"[२]

कर्मों को शत्रु की उपमा दी गई है। शत्रु उदासीन नही होता, आक्रामक होता है, सहायक नही होता, बाधक होता है। उससे युद्ध होता है और उसे जीत लेने पर व्यक्ति विजेता या 'जिन' कहलाता है। धर्मादि द्रव्यो को शत्रु की संज्ञा नही दी गई, क्योंकि वे उदासीन होते हैं, आक्रामक नही, मित्रवत् सहायक होते है, शत्रुवत् बाधक नही।

'घाती', 'शत्रु' और 'परतत्र बनानेवाले' इन विशेषणो से कर्मों का निमित्त-स्वरूप स्पष्ट हो जाता है और धर्मादि द्रव्यो के निमित्तात्मक स्वरूप से उसकी विशेषता समझ मे आ जाती है। वह यह कि कर्म न केवल प्रेरक हैं, बल्कि आक्रामक, बाधक और घातक हैं। इन्ही अर्थों मे आगम मे उन्हे प्रेरक कहा गया है, अन्य किसी अर्थ मे नही। पूर्वोक्त विद्वानो ने कर्मों के प्रेरक होने का जो अर्थ बतलाया है, वह शब्दो के साथ कितना बड़ा छल-कपट है, यह उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है। "आत्मद्रव्य अपनी कार्योत्पत्ति मे जब बलाधान करता है तब पुद्गलकर्मों का उसमे निमित्त बनना ही उनका प्रेरक होना है", प्रेरकता की उक्त विद्वानो द्वारा की गई यह व्याख्या पुद्गलकर्मों के मोहरागादिस्वभावात्मक तथा आत्म के शुद्धचैतन्यस्वभावात्मक होने का अर्थ ही व्यर्थ कर देती है और आत्मा को स्वभाव से मोहरागादिरूप सिद्ध करती है। यह व्याख्या कर्मों की घातकता से भी अधिक घातक है।

---

१ समयसार/आत्मख्याति/गाथा ४

२ पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १

कर्म अजेय नहीं

कर्मोदय होने पर आत्मा का उससे प्रभावित होना अनिवार्य है। जिस समय जिस कर्मप्रकृति का उदय होता है उस समय उसके अनुरूप आत्मपरिणाम अवश्य होता है। क्रोधप्रकृति का उदय होने पर क्रोधपरिणाम होना अनिवार्य है, मानादि प्रकृतियो के उदय मे तदनुरूप परिणाम अवश्यम्भावी है। कर्मफल का अनुभव कराना ही उदय कहलाता है —'कर्मणामनुभवनमुदय:।'[1] उदयानुसार परिणाम अवश्य होता है। इसलिए बन्ध होना भी अनिवार्य है।

किन्तु कर्म अजेय नही हैं, उन्हे जीता जा सकता है, उनके उदय को रोका जा सकता है, क्षयोपशम किया जा सकता है, क्षय किया जा सकता है, उत्कर्षण, अपकर्षण और सक्रमण किया जा सकता है। उनकी प्रेरकता तभी तक कायम रहती है, जब तक जीव उन पर अकुश लगाने के लिए कमर नही कसता। शरीर मे विष का प्रसार तभी तक होता है, जब तक ओषधि का प्रयोग नही किया जाता। जैसे ओषधि के प्रयोग से विष का प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है, वैसे ही जब जीव सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की औषध का प्रयोग करता है तब कर्म मूर्च्छित हो जाते हैं, अशक्त हो जाते हैं, छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। गरुड़ के आगे सर्प का आतक कब तक कायम रह सकता है ?

कर्मशत्रुओ के हनन की विधि पर प्रकाश डालते हुए श्री ब्रह्मदेव सूरि लिखते हैं —

"ससारियो को निरन्तर कर्मबन्ध होता है, इसी प्रकार उदय भी होता है। शुद्धोपयोग के लिए अवकाश नही है, तब मोक्ष कैसे सम्भव है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि कर्मोदय की अवस्था सदा एक-सी नही रहती। उसमे प्रबलता और मन्दता आती रहती है। अत. जैसे शत्रु की क्षीण अवस्था देखकर मनुष्य पौरुष करके उसका विनाश कर देता है, वैसे ही जब कर्मोदय मन्द होता है, तब ज्ञानी जीव निर्मलभावनारूप विशिष्ट खड्ग से पौरुष करके कर्मशत्रुओ का हनन कर देता है।[2]

अत. जहाँ कर्मोदय के निमित्त से आत्मा की रागादिरूप परिणति अनिवार्य है, वही आत्मा के सम्यक्त्वसहित शुभ एव शुद्धपरिणामो से कर्मो का विनाश भी अवश्यम्भावी है। इसलिए कर्मों के प्रेरक होने से मोक्ष के असम्भव होने की शंका युक्तिसंगत नही है। निष्कर्ष यह कि कर्म प्रेरक निमित्त ही हैं।

---

१ प्राकृत पञ्चसग्रह/पृ० ६७६

२ बृहद्द्रव्यसग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा ३७

कर्मों के अतिरिक्त धर्मादि अन्य द्रव्य उदासीन निमित्त होते हैं, क्योंकि वे आत्मा की स्वभावभूत शक्ति के परिणमन मे ही सहयोग देते हैं, न तो उसके परिणमन मे बाधा डालते हैं, न उसके विपरीत परिणमन के हेतु बनते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शुद्धोपादानजन्य कार्य तो उपादानप्रेरित ही होते हैं, किन्तु अशुद्धोपादानजन्य कार्य उपादानप्रेरित नही होते, निमित्तप्रेरित ही होते हैं, अर्थात् उनका नियमन निमित्त ही करता है। क्योंकि जब उपादान की अशुद्धता स्वय निमित्तप्रेरित है, तब तज्जन्य कार्यों का निमित्तप्रेरित होना अनिवार्य है।

निष्कर्ष यह है कि किसी द्रव्य को उपचार से निमित्त नही कहा जाता, अपितु वह वास्तव मे (नियतस्वलक्षण के अनुसार) निमित्त होता है, इसलिए निमित्त कहा जाता है। निमित्त के बिना उपादान अपने कार्य की उत्पत्ति मे असमर्थ होता है। अत कार्योत्पत्ति मे निमित्त का उतना ही हाथ होता है जितना उपादान का। तथा पुद्गलकर्म धर्मादि द्रव्यो के समान उदासीन निमित्त नही हैं, अपितु प्रेरक निमित्त है, बल्कि प्रेरक ही नही, आक्रामक और घातक निमित्त हैं।

●

द्वादश अध्याय

निश्चयाभास एवं व्यवहाराभास

पूर्व मे इस तथ्य का अवलोकन किया गया है कि निश्चयनय और व्यवहारनय परस्परसापेक्ष हैं, अर्थात् दोनो मिलकर ही आत्मादि पदार्थों के अनेकान्त-स्वरूप का निरूपण करते हैं तथा दोनो नयो के द्वारा प्ररूपित साधनापद्धतियो का आवश्यकतानुसार आश्रय लेने से ही मोक्ष की सिद्धि होती है।

किन्तु निश्चय और व्यवहार नयो के स्वरूप को सम्यग्रूपेण हृदयगम न कर पाने से जैन सिद्धान्त के अनुयायी भी किसी एक ही नय के कथन को सर्वथा सत्य मानकर एकान्तवादी बन जाते हैं। यह एक विडम्बना ही है कि जो जैनसिद्धान्त अनेकान्तवादी है और स्याद्वाद के द्वारा विश्व के सभी युक्तिसंगत मतो का समन्वय करता है उसे भी लोग एकान्तवादी मान्यताओ से दूषित कर देते है।

आचार्यद्वय अमृतचन्द्र एव जयसेन ने पञ्चास्तिकाय/गाथा १७२ की टीकाओ मे दो प्रकार के जैनएकान्तवादियो का उल्लेख किया है केवलनिश्चया-वलम्बी और केवलव्यवहारालम्बी। तथा पडित टोडरमल जी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ मोक्षमार्गप्रकाशक मे तीन एकान्तवादो या नयाभासो का अवलम्बन करनेवाले जैन-मिथ्यादृष्टियो का विवरण दिया है। वे तीन एकान्तवाद निम्निलिखित हैं · निश्चयै-कान्त, व्यवहारैकान्त तथा उभयैकान्त। इन्हे क्रमश निश्चयाभास, व्यवहाराभास एव उभयाभास भी कहते हैं।

निश्चयाभास

व्यवहारनय के कथन को सर्वथा असत्य मानकर निश्चयनय के कथन को एकान्ततः सत्य स्वीकार करना निश्चयैकान्त या निश्चयाभास कहलाता है। इसके कुछ उदाहरण मोक्षमार्गप्रकाशक के आधार पर यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे है।

आगम मे ससारी जीव को निश्चयनय से अर्थात् द्रव्यदृष्टि से सिद्धो के समान शुद्ध कहा गया है और व्यवहारनय से अर्थात् पर्यायदृष्टि से अशुद्ध (रागादि-मय)। किन्तु व्यवहारनय को सर्वथा असत्य माननेवाले अपने को पर्याय की अपेक्षा अशुद्ध नही मानते और निश्चयनय के कथन को द्रव्य और पर्याय दोनो दृष्टियो से सत्य मानकर स्वय को सर्वथा (द्रव्य और पर्याय दोनो की अपेक्षा) शुद्ध (रागादि-भावरहित) समझते है।

जीवो मे केवलज्ञानी बनने की शक्ति है, अत: आगम मे सभी जीवो को निश्चयनय से अर्थात् द्रव्यदृष्टि से केवलज्ञानस्वभाववाला बतलाया गया है, पर्याय-प्रधान व्यवहारनय से केवलज्ञानरहित ही कहा गया है। किन्तु व्यवहारनय को अस्वीकार कर केवल निश्चयनय के कथन को ही द्रव्य और पर्याय दोनो अपेक्षाओ से सत्य माननेवाले निश्चयाभासी स्वय को वर्तमान पर्याय की अपेक्षा भी केवलज्ञानी मान लेते हैं।

रागादिभाव आत्मा के स्वाभाविक भाव नही है, औपाधिक भाव हैं। इस कारण सर्वज्ञ ने निश्चयनय की अपेक्षा आत्मा को रागादिशून्य बतलाया है और व्यवहारनय से अर्थात् पर्यायदृष्टि से रागादिभावमय। किन्तु व्यवहारनय के कथन मे श्रद्धा न रखने वाले एकान्तनिश्चयावलम्बी स्वयं को पर्याय की अपेक्षा रागादि-भावमय न मानकर सर्वथा रागादिशून्य समझते हैं।

कर्मों के साथ आत्मा का तादात्म्यसम्बन्ध अर्थात् एकद्रव्यात्मक सम्बन्ध नही है, इसलिए मौलिक भेद की अपेक्षा निश्चयनय से जीव को कर्मों से अबद्ध वर्णित किया गया है। किन्तु, जीव और पुद्गलकर्मों मे परस्पर सश्लेष और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हैं, इसलिए बाह्यसम्बन्ध की अपेक्षा व्यवहारनय से बद्ध बतलाया गया है। परन्तु, सिर्फ निश्चयनय के कथन को ही सर्वथा सत्य माननेवाले निश्चयै-कान्तवादी स्वय के सर्वथा अबद्ध होने की श्रद्धा करते हैं।

भगवान् ने निश्चयनय से शुद्धात्मानुभव को मोक्षमार्ग निरूपित किया है और उसका साधक होने से सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग को व्यवहारनय से मोक्षमार्ग नाम दिया है। किन्तु, एकान्तनिश्चयावलम्बी जीव व्यवहारनय के कथन को सर्वथा असत्य मानने के कारण सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग को निश्चयमोक्षमार्ग का साधक स्वीकार नही करते और शुद्धात्मानुभव की सामर्थ्य प्राप्त किये बिना ही 'मैं सिद्ध समान शुद्ध हूँ', 'केवलज्ञानादिसहित हूँ', 'द्रव्यकर्मादिरहित हूँ, इत्यादि काल्पनिक चिन्तन करते हैं और सोचते हैं कि वे शुद्ध आत्मा का अनुभव कर रहे हैं। इससे शुद्धात्मानुभव तो होता नही है, उलटे शुभप्रवृत्ति का अवलम्बन न करने से शुद्धात्मानुभव की सामर्थ्य भी प्राप्त नही हो पाती और अशुभ मे डूबकर केवल पाप का बन्ध करते हैं।

शुभोपयोग मोक्ष का साक्षात् मार्ग नही है, क्योंकि उससे पुण्यबन्ध होता है। इसलिए आगम में उसे निश्चयनय से हेय कहा गया है, पर अशुभ से बचाकर परम्परया मोक्ष का साधक होने से व्यवहारनय की अपेक्षा उपादेय भी बतलाया गया है, किन्तु निश्चयाभास से ग्रस्त मनुष्य उसे सर्वथा हेय मान बैठते हैं।

सम्यग्दृष्टि साधक को कर्मोदयजनित विषयभोग मे आसक्ति नही होती। इसलिए विषयभोग करते हुए भी जितने अश मे रागरहित होता है उतने अश मे उसे कर्मबन्ध नही होता, निर्जरा ही होती है। इस कारण भगवान् ने निश्चयनय की अपेक्षा यह कहा है कि सम्यग्दृष्टि को विषयभोग से बन्ध नही होता। किन्तु निश्चयाभासी जीव आत्मा की चर्चा करने मात्र से अपने को सम्यग्दृष्टि मान लेते हैं और बन्ध के भय से रहित होकर स्वच्छन्दतापूर्वक विषयभोग करते हैं।

उपादान कार्य का मुख्य हेतु है और निमित्त सहकारी हेतु। इसलिए आगम मे उपादान को निश्चयनय से और निमित्त को व्यवहारनय से कार्य का हेतु बतलाया गया है। किन्तु व्यवहारनय को सर्वथा असत्य माननेवाले एकान्तनिश्चयावलम्बी लोग किसी पदार्थ को निमित्त कहा जाना उपचारकथन मानते हैं, यथार्थ कथन नही। अत. निमित्त को असत्य और अकिंचित्कर कहकर मोक्षमार्ग के निमित्तभूत साधनो (व्यवहारमोक्षमार्ग) का अवलम्बन नही करते और पापप्रवृत्तियो मे सलग्न रहते हुए औपचारिक स्वाध्याय तथा काल्पनिक ध्यान का निष्फल कर्मकाण्ड करते रहते हैं।

इन उदाहरणो से निश्चयाभासी मान्यताओं का परिचय मिलता है।

व्यवहाराभास

निश्चयनय के कथन मे श्रद्धा न कर एकमात्र व्यवहारनय के कथन को सर्वथा सत्य मान लेना व्यवहारैकान्त या व्यवहाराभास कहलाता है। इसके उदाहरण इस प्रकार हैं —

व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग का साधक है, स्वय मोक्षमार्ग नही है, किन्तु एकान्तव्यवहारावलम्बी उसे ही मोक्षमार्ग मान लेते हैं और व्रतादि शुभ क्रियाएँ करते रहते हैं, जिससे पुण्यबन्ध द्वारा स्वर्गादि की प्राप्ति तो हो जाती है, मोक्ष प्राप्त नही हो पाता।

सर्वज्ञ ने व्यवहारनय से अशुभभाव की अपेक्षा शुभभाव को उपादेय बतलाया है, किन्तु मोक्ष की दृष्टि से निश्चयनय की अपेक्षा दोनो हेय कहे गये हैं। फिर भी केवल व्यवहार के पक्ष मे झुकनेवाले मिथ्यादृष्टि शुभभाव को ही मोक्ष का उपाय मानते हैं।

अनशनादि बाह्य तप शुद्धोपयोगरूप वास्तविक तप की वृद्धि का हेतु है, इसलिए आगम मे उसे व्यवहारनय से तप कहा गया है। व्यवहारनय के अभिप्राय को यथार्थत: न समझनेवाले व्यवहाराभासी उसे वास्तविक तप समझ लेते हैं और निर्जरा का कारण मानते हैं, जबकि बाह्यप्रवृत्ति निर्जरा का हेतु नही है।

व्यवहारसम्यग्दर्शन के आठ अंगो का अगीकार, पच्चीस दोषो का परिहार तथा संवेगादि गुणों का पालन निश्चयसम्यक्त्व के परम्परया हेतु हैं। इसलिए जिनेन्द्रदेव ने इन्हें व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन कहा है, किन्तु व्यवहाराभास से ग्रस्त मनुष्य इन्हे ही निश्चयसम्यग्दर्शन मानता है।

आगमज्ञान आत्मज्ञानरूप निश्चयसम्यग्ज्ञान का हेतु है, अत: उसे व्यवहार-नय से सम्यग्ज्ञान संज्ञा दी गई है, किन्तु व्यवहार को ही निश्चय समझनेवाले मिथ्यादृष्टि आगमज्ञान से ही अपने को सम्यग्ज्ञानी मान बैठते हैं।

स्त्री-पुत्र, शत्रु-मित्र, इन्द्रियविषय-धनसम्पत्ति आदि बाह्यपदार्थों के निमित्त से रागादि का उदय हो जाता है। इसलिए उन्हे व्यवहारनय से रागादि का हेतु कहा गया है। निश्चयनय से जीवकृत कर्म रागादि के मूल हैं। किन्तु व्यवहारपक्ष का ही अवलम्बन करनेवाला जीव बाह्य पदार्थ को परमार्थत: रागादि की उत्पत्ति का हेतु मानता है।

अरहन्त भगवान् के प्रति भक्तिरूप शुभपरिणाम से पुण्यबन्ध होता है, जिससे स्वर्गादि इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट का निवारण होता है। शुभपरिणामो मे अरहन्त निमित्त होते हैं, अत व्यवहारनय से उन्हे स्वर्गादि का दाता और अनिष्ट का निवारक कहा जाता है। किन्तु व्यवहार को निश्चयरूप से ग्रहण कर लेने वाले जीव की यह धारणा बन जाती है कि वे वास्तव मे स्वर्गमोक्ष के दाता तथा अनिष्ट के निवारक हैं।

आभ्यन्तर निर्ग्रन्थता (मोहरागादि के त्याग) को निश्चयनय से गुरु का लक्षण बतलाया गया है और बाह्य निर्ग्रन्थता (वस्त्रादि परिग्रह के त्याग) को व्यवहारनय से। किन्तु, व्यवहार को ही परमार्थ समझने वाला जीव मात्र बाह्य निर्ग्रन्थता को गुरु का वास्तविक लक्षण मान लेता है और केवल उसी को देखकर गुरु की पूजा करता है।

अनेकान्त वस्तुतत्त्व तथा निश्चय-व्यवहारमोक्षमार्ग शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। पर व्यवहाराभास से ग्रस्त मनुष्य शास्त्र के प्रति केवल इसलिए श्रद्धा रखता है कि उसमे व्रत-तप, दया, क्षमा, शील-सन्तोषादि व्यवहारधर्म का निरूपण हैं।

ये उदाहरण व्यवहाराभास का परिचय देते हैं।

उभयाभास

निश्चय और व्यवहार दोनो नयो के कथन को भिन्न-भिन्न अपेक्षा से सत्य न मानकर निश्चयकथन को भी सर्वथा सत्य मानना और व्यवहारकथन को भी सर्वथा सत्य स्वीकार करना उभयैकान्त या उभयाभास कहलाता है। उभयाभासियो की धारणा

होती है कि जिनमत मे दो नयों से उपदेश दिया गया है, अतः दोनो का उपदेश एक ही समान सत्य मानकर अगीकार करना चाहिए। वे इस तथ्य को हृदयंगम नही कर पाते कि निश्चय और व्यवहार नयो के कथन अलग-अलग अपेक्षा से सत्य होते है, एक ही अपेक्षा से नही। अलग-अलग अपेक्षा से सत्य होने पर दोनों नय परस्पर सापेक्ष होते है, अपेक्षाभेद न होने पर निरपेक्ष हो जाते हैं। सापेक्ष होने पर ही उनमे विरोध का अभाव होता है, निरपेक्ष होने पर वे विरोधी बन जाते हैं। इस तथ्य से अनभिज्ञ होने के कारण उभयाभासी जीव निश्चय और व्यवहार दोनो नयो को एक ही प्रकार से सत्य मानते है। मोक्षमार्गप्रकाशक[1] के अनुसार उभयाभास के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे है।

आगम मे वास्तविक मोक्षमार्ग को निश्चयमोक्षमार्ग तथा उसके साधक मार्ग को व्यवहारमोक्षमार्ग सज्ञा दी गई है। इस तरह निश्चयनय से मोक्षमार्ग एक ही है, दो नही। किन्तु उभयाभासी लोग निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग दोनो को निश्चयनय से मोक्षमार्ग मानते है और निश्चयाभासियो के समान काल्पनिक शुद्धात्मानुभव तथा व्यवहाराभासियो के समान निश्चयनिरपेक्ष व्रतादि कियाओ का एक साथ अभ्यास करते हैं। इससे न तो निश्चयमोक्षमार्ग सिद्ध हो पाता है, न व्यवहार-मोक्षमार्ग।

कुछ उभयाभासियो की यह धारणा होती है कि निश्चयमोक्षमार्ग तथा व्यवहार-मोक्षमार्ग दोनो वास्तविक मोक्षमार्ग है, किन्तु निश्चयमोक्षमार्ग केवल श्रद्धा मे उपादेय है और व्यवहारमोक्षमार्ग प्रवृत्ति मे। यह धारणा मिथ्या है। यदि निश्चयमोक्षमार्ग प्रवृत्ति मे उपादेय न हो, तो उसके लिए भगवान् ने मोक्षमार्ग शब्द का प्रयोग क्या मात्र दस्तूर निभाने के लिए किया है ?

आत्मा स्वभाव से शुद्धचैतन्यस्वरूप है,परन्तु कर्मोपाधि के निमित्त से मोहरागादिरूप मे परिणत होता है। इसलिए सर्वज्ञ ने उसे द्रव्यप्रधान निश्चयनय से शुद्धचैतन्यस्वरूप तथा पर्यायप्रधान व्यवहारनय से मोहरागादिरूप बतलाया है। किन्तु दोनो नयो के कथन को एक ही प्रकार से सत्य माननेवाले उभयाभासी आत्मा को स्वभाव से शुद्धचैतन्यस्वरूप भी मानते है और मोहरागादिस्वरूप भी, जो प्रकाश और अन्धकार के समान परस्पर विरोधी हैं।

इसी प्रकार मुनि जब शुभोपयोग को छोड़कर शुद्धोपयोग का प्रयत्न करता है, तब वह प्रयत्न की अवस्था शुद्धोपयोग का साक्षात् उपादान होती है। किन्तु यह प्रयत्न शुभोपयोग मे अभ्यस्त सम्यग्दृष्टि श्रमण ही कर सकता है। इसलिए

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ७/पृ० २४८-२५७

सम्यग्दृष्टि श्रमण का शुभोपयोग शुद्धोपयोग का परम्परया उपादान कारण है। इस अपेक्षा से आगम मे उसे व्यवहारनय से शुद्धोपयोग का कारण कहा गया है। किन्तु उभयैकान्तवादियो की दृष्टि मे निश्चय और व्यवहार मे 'अपेक्षा' की दृष्टि से कोई फर्क नही होता, इसलिए वे शुभोपयोग को शुद्धोपयोग का परम्परया उपादान कारण न मानकर साक्षात् उपादान कारण मान लेते हैं। यह श्रद्धा मिथ्या है, क्योंकि 'उपादान-कारणसदृश कार्यं भवति'[1] (उपादान कारण के सदृश ही कार्य होता है) इस नियम के अनुसार जैसे शुभोपयोग अशुभोपयोगपरिणत आत्मा से उत्पन्न नही हो सकता, वैसे ही शुद्धोपयोग शुभोपयोगपरिणत आत्मा से उद्भूत नही हो सकता। शुभोपयोग को छोड़कर शुद्धोपयोग के प्रयत्न मे परिणत आत्मा से ही शुद्धोपयोग की उत्पत्ति सम्भव है।

इन निदर्शनो से उभयाभास का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

एकान्तवादियों का इतिहास

जैन एकान्तवादियो का इतिहास बहुत पुराना है। आचार्य कुन्दकुन्द द्वितीय-शताब्दी (ईसवी) मे हुए थे। उन्होने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ समयसार मे जैनो मे प्रचलित एकान्तवाद की चर्चा की है, जिससे ज्ञात होता है कि एकान्तवाद का आश्रय लेनेवाले कुन्दकुन्द के पूर्व से चले आ रहे थे। वस्तुत. आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहारैकान्त का निराकरण करने के लिए ही समयसार की रचना की थी। सम्पूर्ण समयसार मे एकान्तव्यवहारवादियो की मान्यताओ का खण्डन किया गया है। व्यवहारैकान्त अज्ञानियो का लक्षण है, इसलिए ज्ञानियो का लक्षण बतलाते हुए वे लिखते हैं —

मोत्तूण णिच्छयट्ठ ववहारे ण विदुसा पवट्टति ।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ।।[2]

— ज्ञानी निश्चयनय के विषय को छोड़कर (निश्चयनिरपेक्ष होकर) व्यवहार मे प्रवृत्त नही होते, क्योंकि परमार्थ का आश्रय लेने वाले यतियो के ही कर्मों का क्षय होता है।

व्रतादि शुभपरिणाम को सर्वथा हेय माननेवाले निश्चयैकान्तवादियो का अस्तित्व भी उस समय था। उन्हे व्रत-तप आदि की कथचित् उपादेयता दर्शाने के लिए कुन्दकुन्ददेव ने यह गाथा कही है —

---

१ समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, १२८-१२९

२. वही/गाथा १५६

वर वयतवेहि सग्गो मा दुक्ख होउ निरइ इयरेहिं ।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ।।[1]

— व्रत और तप के द्वारा स्वर्ग प्राप्त होना अच्छा है, किन्तु अव्रत और अतप के द्वारा नरक के दु:ख भोगना अच्छा नही। छाया मे बैठकर प्रतीक्षा करनेवालो और धूप मे बैठकर प्रतीक्षा करनेवालो की स्थितियो मे बड़ा अन्तर होता है।

तात्पर्य यह कि स्वर्ग मे समय व्यतीत करते हुए मोक्ष के अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करना अकष्टकर होता है और नरक मे रहते हुए प्रतीक्षा करना कष्टकर।

नवी शताब्दी मे प्रसिद्ध ग्रन्थ आलापपद्धति के रचयिता आचार्य देवसेन हुए हैं। उन्होने 'दर्शनसार' नामक ग्रन्थ मे एकान्तमतावलम्बी जैनाभासो की चर्चा की है।

कुन्दकुन्द-साहित्य के यशस्वी टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र तथा आचार्य जयसेन का काल क्रमश दसवी एव तेरहवी शताब्दी ईसवी है। उन्होने पञ्चास्तिकाय की १७२वी गाथा की टीका मे दो प्रकार के एकान्तवादियो का वर्णन किया है तथा अठारहवी शताब्दी मे हुए पडित टोडरमल जी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ मोक्षमार्ग-प्रकाशक मे तीन प्रकार के जैन एकान्तवादियो का विस्तृत विवरण दिया है। इसका पूर्व मे निर्देश किया जा चुका है।

वर्तमान मे निश्चय और व्यवहार को लेकर प्रबल विवाद प्रचलित है जिससे एकान्तवादियो के अस्तित्व की सूचना मिलती है। वैचारिक विवाद का कारण सदा एकान्तवाद ही हुआ करता है। जहाँ अनेकान्तदृष्टि है वहाँ विवाद के लिए अवकाश नही होता। दोनो मे अन्धकार और प्रकाश के समान विरोध है।

एकान्तवाद के हेतु

अब विचारणीय है कि एकान्तवाद के कारण क्या हैं ? जिनेन्द्रदेव के अनेकान्तमत को उनके अनुयायी एकान्तरूप मे ग्रहण क्यो कर लेते हैं ? इसके निम्नलिखित कारण हैं —

अनेकान्त-सिद्धान्त से अनभिज्ञता

यह सर्वप्रथम कारण है। अनेकान्त जैनसिद्धान्त का प्राण है।[2] इसमे साध्य और साधन दोनो अनेकान्तात्मक हैं। यह एक ऐसा तथ्य है जिससे मनुष्य निसर्गत: अनभिज्ञ होता है। इसीलिए आचार्यों ने जैनदर्शन की अनेकान्तात्मकता की ओर

---

१ मोक्खपाहुड/गाथा २५

२. "परमागमस्य जीव ... नमाम्यनेकान्तम्।" पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/कारिका २

ध्यान आकृष्ट करने के लिए बारम्बार प्रयत्न किया है। अनेकान्त-सिद्धान्त से अनभिज्ञ होने पर मनुष्य अनेकान्तदृष्टि से आगमवचनो का विचार नही करता, अतएव वह एकान्तवादी हो जाता है। इसके अतिरिक्त जो अनेकान्त-सिद्धान्त को यथार्थरूप से नही जानता, वह भी एकान्तवादी हो जाता है। ऐसे ही लोगो के विषय मे पडित टोडरमल जी ने कहा है — 'मिथ्यादृष्टि मनुष्य अनेकान्तरूप वस्तु को तो मानता है, परन्तु यथार्थभाव को पहचान कर नही मानता।'[1] आज के कुछ विद्वान् मोक्षमार्ग मे व्यवहारनय को उपादेय नही मानते, यह मोक्षमार्ग की अनेकान्तात्मकता से अनभिज्ञ होने का ही परिणाम है।

नयस्वरूप से अनभिज्ञता

एकान्तवाद का यह दूसरा कारण है। उदाहरणार्थ, असद्भूतव्यवहारनय के स्वरूप से सम्यग्रूपेण परिचित न होने के कारण कुछ विद्वान् उसे वस्तुधर्म का प्रतिपादक न मानकर मात्र अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म का अन्यत्र समारोप करनेवाला मानते है। इस मान्यता के कारण वे असद्भूतव्यवहारनय से वस्तु मे बतलाए जानेवाले निमित्त-नैमित्तिकादि सम्बन्धो को असत्य मान लेते हैं और कार्य की उत्पत्ति मे एकमात्र उपादान को ही हेतुरूप से स्वीकार करते है जो एकान्तवाद है। इसी एकान्त-धारणा के फलस्वरूप अनेक विचारको ने निश्चयधर्म (निश्चयमोक्षमार्ग) और व्यवहारधर्म (व्यवहारमोक्षमार्ग) मे साध्य-साधकभाव का निषेधकर केवल निश्चयधर्म को ही मोक्ष के लिए अवलम्बनीय ठहराया है। यह नयस्वरूप की अनभिज्ञता से फलित होनेवाले एकान्तवाद का उदाहरण है।

सापेक्षता से अनभिज्ञता

निश्चय और व्यवहार नय परस्पर सापेक्ष है। जो कथन निश्चयनय की अपेक्षा अभूतार्थ (असत्य) है, वह व्यवहारनय की अपेक्षा भूतार्थ होता है। जो धर्म निश्चयनय का विषय नही है, उसके अस्तित्व का वह (निश्चयनय) सर्वथा निषेध नही करता, अपितु व्यवहारनय की अपेक्षा उसे मौनरूप से स्वीकार करता है। इसलिए निश्चयनय के अनुसार जो अभूतार्थ है, उसे सर्वथा अभूतार्थ नही मान लेना चाहिए। किन्तु अनेक लोग निश्चय और व्यवहार की इस परस्परसापेक्षता से अनभिज्ञ होते है। इस कारण निश्चयनय के द्वारा जिसे अभूतार्थ कहा गया है, उसे सर्वथा अभूतार्थ मान लेते हैं। उदाहरणार्थ, आगम मे निश्चयनय की अपेक्षा जीव और पुद्गल के परस्पर बन्ध को अभूतार्थ कहा गया है तथा दोनो की बन्धपर्याय से उत्पन्न जीवादि नौ तत्त्व भी अभूतार्थ बतलाये गये हैं।[2] इसलिए जो यह नही जानते कि निश्चयनय

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक/सातवाँ अधिकार

२. समयसार/आत्मख्याति/गाथा १३-१४

द्वारा ये सर्वथा अभूतार्थ नही कहे गये हैं, अपितु व्यवहारनय की अपेक्षा इन्हे वह भूतार्थ स्वीकार करता है, वे लोग इन्हे सर्वथा अभूतार्थ मान लेते हैं और निश्चयाभासी बन जाते हैं।

इसी प्रकार जीव और पुद्गल की अनादि बन्धपर्याय को व्यवहारनय से भूतार्थ कहा गया है[1]। अत: जो लोग इस तथ्य से अनभिज्ञ है कि व्यवहारनय के द्वारा उसे कथचित् भूतार्थ कहा गया है, सर्वथा नही, निश्चयनय की अपेक्षा वह उसे अभूतार्थ भी स्वीकार करता है, वे लोग बन्धपर्याय को सर्वथा भूतार्थ मानकर व्यवहाराभासी बन जाते है।

दोषपूर्ण व्याख्याएँ

एकान्तवाद का यह सबसे बड़ा कारण है। जनसामान्य विद्वानो के द्वारा ही शास्त्रो का मर्म समझने मे समर्थ होता है। उन पर जनसाधारण की बड़ी श्रद्धा होती है। इसलिए वह विद्वज्जनो के कथन को ब्रह्मवाक्य समझकर स्वीकार कर लेता है। शास्त्रो का स्वय स्वाध्याय करने की न तो साधारण लोगो मे बौद्धिक क्षमता होती है, न अवकाश। अत उनसे सीधे तत्त्वनिर्णय करने का अवसर विरलो को ही मिल पाता है। जिन्हे मिल पाता है उनमे भी आगम के गूढ अर्थ को समझने मे कोई-कोई ही समर्थ होते है। अत जनसामान्य का एकान्तवादी या अनेकान्तवादी बनना प्रमुखत विद्वानो की व्याख्याओ पर निर्भर है। वर्तमान में एकान्तवाद का प्रसार करने मे उनका प्रमुख हाथ है। आगम के वचनो को अनेक विद्वानो ने भ्रान्तरूप मे ग्रहण किया है और उनकी भ्रान्तिपूर्ण व्याख्या करने मे वे कोई कमी नही रख रहे है। इस कार्य मे वे पूर्ण बुद्धिकौशल एव पाण्डित्य का प्रयोग कर रहे हैं, जिससे सर्वसाधारण की बुद्धि सरलता से एकान्तवाद मे दीक्षित हो रही है।

इस प्रकार के ज्ञानी आगमवचनो की जो दोषपूर्ण व्याख्याएँ करते है उनके कुछ उदाहरण इस प्रकार है —

१. असद्भूतव्यवहारनय का विषय वस्तुधर्म नही है, उपचारकथनमात्र है।

२. असद्भूत व्यवहारनय अज्ञानियो का व्यवहार है।

३ निमित्त अकिंचित्कर है। एक द्रव्य के परिणाम को दूसरे द्रव्य के परिणाम का हेतु कहना कथनमात्र है।

४. निश्चय और व्यवहार मे परस्परसापेक्षता नही है।

५ निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म मे साध्य-साधकभाव नही है।

६. शुभपरिणाम मात्र बन्ध का कारण है। अत: वह सर्वथा हेय है।

---

१. समयसार/गाथा १३-१४

७ केवल वस्तु-व्यवस्था समझने के लिए निश्चय और व्यवहार दोनो नय कार्यकारी हैं। साधना के लिए एक निश्चयनय ही उपादेय है।

इनका तथा इस प्रकार की अनेक दोषपूर्ण व्याख्याओ का विस्तृत वर्णन पूर्व अध्यायो मे किया जा चुका है। विद्वज्जनो की ये दूषित व्याख्याएँ जनसामान्य की बुद्धि को एकान्तवाद से दूषित कर रही हैं।

एकान्तप्रवचन

एकान्तवाद का यह अन्यतम हेतु है। तत्त्व अनेकान्त है। अनेकान्त तत्त्व का बोध कराने के लिए उसके उभयपक्षो का कथन आवश्यक है। किन्तु अनेक प्रवचनकर्ता एक पक्ष का ही कथन करते है (अथवा एक पक्ष पर ही अनावश्यक बल देते है), दूसरे पक्ष की उपेक्षा करते हैं। इससे जिज्ञासुओ या श्रोताओ की दृष्टि मे वस्तु का एक ही पक्ष आ पाता है, जिससे वस्तु के विषय मे एकान्त धारणा बन जाती है। उदाहरणार्थ, सम्यक्त्वसहित शुभपरिणाम केवल पुण्यबन्ध का कारण नही है, परम्परया मोक्ष का भी हेतु है, किन्तु कुछ आधुनिक प्रवचनकार उसकी बन्धहेतुता का ही वर्णन करते है, पारम्परिक मोक्षहेतुता की चर्चा नही करते, और कुछ उसकी मोक्षहेतुता पर ही बल देते है, बन्धहेतुता के विषय मे मौन हो जाते हैं। इसी प्रकार कोई व्यवहारमोक्षमार्ग की हेयता का ही कथन करता है और कोई उसकी उपादेयता पर ही प्रकाश डालता है। इससे श्रोताओ के मन मे उक्त प्रकार की एकान्त धारणाएँ बन जाती हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र ने एकान्तप्रवचन की हानियाँ बतलाते हुए कहा है कि तीर्थप्रवृत्ति के निमित्त परमार्थसत्य के साथ-साथ व्यवहारसत्य का दर्शाया जाना भी आवश्यक है, क्योकि शरीर और जीव मे जो स्वभावगत भेद है केवल उसी को दर्शाने से लोग उनमे सर्वथा भेद समझ लेगे और प्राणियो के शरीर का घात करने मे हिसा नही मानेगे। इससे वे निःसकोच प्राणियो का वध करेगे जिससे पापबन्ध होगा और मोक्ष असम्भव हो जायेगा। इसी प्रकार आत्मा और रागादि भावो मे जो स्वभावगत भिन्नता है, केवल उसी का वर्णन करने से श्रोतागण उनमे सर्वथा भिन्नता मान लेगे और अपने को पूर्ण शुद्ध समझकर मोक्ष का प्रयत्न ही न करेगे।[1] इस प्रकार एकान्तप्रवचन अत्यन्त हानिकारक है।

विद्वानो के एकान्तप्रवचनो से न केवल श्रोता भ्रमित हो रहे हैं, विद्वज्जगत् मे भी भयकर द्वन्द्व उत्पन्न हो गया है। इसका निर्देश करते हुए क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी लिखते हैं —

---

१. समयसार/आत्मख्याति/गाथा ४६

"आज बड़े-बड़े विद्वान् भी परस्पर आक्षेप कर एक-दूसरे का विरोध करने मे ही अपना समय व जीवन बर्बाद कर रहे हैं। एक केवल उपादान-उपादान की रट लगा रहा है, तो दूसरा केवल नैमित्तिक भावो या निमित्तो की। एक ज्ञानमात्र की महिमा का बखान करके केवल जानने-जानने की बात पर जोर लगा रहा है और दूसरा केवल व्रतादि बाह्यचारित्र धारण करने की बात पर। ·· कितना अच्छा होता, यदि दोनो विरोधी बातो को अपने वक्तव्य मे यथास्थान अवकाश दिया जाता।"[१]

अनेकान्त तत्त्व का प्रवचन मुख्यगौण-भाव से होता है। एक बार मे तत्त्व के एक ही पक्ष का कथन सम्भव है। अत यह अत्यन्त आवश्यक है कि वस्तु के जिस धर्म को कथन मे प्रमुखता दी जा रही है, उसके विषय मे यह बतला दिया जाय कि यह धर्म इस विशेष अपेक्षा से ही वस्तु मे है, सर्वथा नही। साथ ही अपेक्षा-विशेष से प्रतिपक्षी धर्म के अस्तित्व की सूचना भी दे दी जाय। इससे एकान्त दृष्टिकोण का निर्माण न होगा। प्रतिपक्षी धर्म की सूचना उसी समय देना आवश्यक है, अन्यथा श्रोता के मस्तिष्क मे वस्तु का अनेकान्त चित्र निर्मित न होगा तथा यह सम्भव है कि श्रोता को आगे प्रवचन सुनने का अवसर न मिले, जिससे वह प्रतिपक्षी धर्म को जानने से अनिश्चित काल के लिए वचित हो जाये। इससे उसके मस्तिष्क मे वस्तु का अनेकान्त चित्र कभी न बन पायेगा और उसके विषय मे उसकी सदा के लिए एकान्त धारणा बन जायेगी। अत: प्रवचनकर्ता को अपना कथन प्रमाणसापेक्ष और नयान्तरसापेक्ष बनाना अत्यन्त आवश्यक है। क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी ने इसे अत्यन्त आवश्यक बतलाते हुए उपदेश को किस प्रकार सापेक्ष बनाया जा सकता है, इसका सुन्दर निरूपण अपने ग्रन्थ नयदर्पण मे किया है।[२]

प्राचीन आचार्यों ने इस तथ्य का पूर्णरूपेण ध्यान रखा है। श्रोता एकान्त को ग्रहण न कर ले, इस विचार से वे एक पक्ष का निरूपण करते समय प्रतिपक्ष का स्पष्टीकरण भी साथ मे करते गए हैं। यह निम्नलिखित उद्धरणो से जाना जा सकता है —

सुद्धा सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ।।[३]

इस गाथा मे आचार्य कुन्दकुन्द ने अपेक्षाभेद से निश्चय और व्यवहार दोनो नयो की उपादेयता का निरूपण किया है।

---

१ नयदर्पण/पृ० ३३-३४
२ वही/पृष्ठ १७६-१७९
३ समयसार/गाथा १२

जोण्हाण णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताण ।
अणुकपयोवयार कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ।।[१]

— जैन मुनियो और श्रावको की निष्कामभाव से सेवा करने पर यद्यपि किचित् पुण्यबन्ध होता है, तथापि करनी चाहिए।

इस गाथा मे भी आचार्य कुन्दकुन्द ने शुभप्रवृत्ति की कथंचित् हेयरूपता तथा कथचित् उपादेयरूपता दोनो का वर्णन किया है।

निम्नलिखित कथन मे आचार्य जयसेन ने शुभोपयोग की पुण्यबन्धहेतुता का प्रतिपादन करते समय उसकी पारम्परिक मोक्षहेतुता पर भी प्रकाश डाला है —

"यदा ' '' सम्यक्त्वपूर्वक: शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्त्या पुण्बन्धो भवति परम्परया निर्वाण च, नो चेत् पुण्यबन्धमात्रमेव।।"[२]

— जब सम्यग्दर्शनपूर्वक शुभोपयोग होता है, तब मुख्यरूप से पुण्यबन्ध होता है और परम्परया निर्वाण, अन्यथा मात्र पुण्बन्ध होता है।

इस प्रकार आचार्यों ने श्रोताओ को एकान्तवाद से बचाने के लिए अपने प्रवचन को सदा नयान्तरसापेक्ष बनाया है।

एकान्तप्रवचन से श्रोता न केवल एकान्तवादी बनता है, अपितु साधना मे भी विफल होता है। साधना साधक की क्षमता पर निर्भर होती है। अत· क्षमता-नुकूल साधनाक्रम का ही मुख्यरूप से उपदेश दिया जाना चाहिए। सम्यग्दर्शन के लिए तो प्रत्येक मुमुक्षु को निश्चय और व्यवहार उभयनयसम्मत परिपूर्ण उपदेश आवश्यक है, किन्तु साधना के लिए साधक की क्षमता के अनुसार निश्चयप्रधान अथवा व्यवहारप्रधान उपदेश आवश्यक है। सम्यग्दर्शन होने के बाद भी साधक उतने ही सयम मे समर्थ होता है, जितना उसकी क्षमता के अनुरूप होता है। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की बारहवी गाथा मे कहा है कि उच्च भूमिका मे पहुँचे साधको को निश्चयप्रधान उपदेश का अनुसरण करना चाहिए तथा प्राथमिक भूमिका मे स्थित साधक व्यवहारप्रधान उपदेश के पात्र हैं। पडित टोडरमल जी ने भी मोक्षमार्गप्रकाशक के आठवे अधिकार मे पात्र की योग्यता के अनुसार व्यवहारात्मक तथा निश्चयसहित-व्यवहारात्मक इन दो प्रकार की साधना-पद्धतियो को उपदेश के योग्य बतलाया है।

किन्तु कुछ आधुनिक अध्येता यह प्रतिपादित करते हैं कि 'जो मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होना चाहता है उसे मुख्यता से स्वभाव का आश्रय लेने का ही उपदेश

---

१ प्रवचनसार ३/५१

२ वही/तात्पर्यवृत्ति ३/५५

होना चाहिए। ···· आत्मा मे जो विशुद्धि उत्पन्न होती है वह स्वभाव का आश्रय लेने से ही होती है, व्यवहार का आश्रय लेने से नही। व्यवहारधर्म गुणस्थानपरिपाटी से होकर भी उत्तरोत्तर गुणस्थानो में छूटता जाता है और स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न हुई विशुद्धि उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती हुई अन्त मे पूर्णता को प्राप्त हो जाती है। इसलिए जो छूटने योग्य है उसका मुख्यता से उपदेश देना न्याय्य न होकर स्वभाव का आश्रय लेकर मुख्यता से उपदेश देना ही जिनमार्ग है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए।[१]

उक्त अध्येताओ का मन्तव्य है कि सभी को निश्चयप्रधान उपदेश दिया जाना चाहिए। इसी मान्यता के कारण वे सभी को निश्चयप्रधान उपदेश देते हैं। विद्वानो की यह मान्यता आगम तथा मनोविज्ञान दोनो के विरुद्ध है। आगम मे पात्र की योग्यता के अनुसार निश्चयप्रधान अथवा व्यवहारप्रधान उपदेश विहित है, यह ऊपर दर्शाया जा चुका है। सर्वज्ञ ने ही अभेदरत्नत्रय की सिद्धि के लिए भेदरत्नत्रय के अवलम्बन का उपदेश दिया है। अत: सभी को निश्चयप्रधान उपदेश देने का सिद्धान्त आगमविरुद्ध है।

इसके अतिरिक्त सभी को निश्चयप्रधान उपदेश देना, सभी से एक ही प्रकार का बोझ उठवाने या सभी को एक ही स्तर का पाठ्यक्रम पढ़ाने के समान अमनोवैज्ञानिक है। इससे उपदेश, उपदेश बनकर ही रह सकता है, आचरण मे नही उतर सकता। स्वभाव का आश्रय ले सकने योग्य बनने के लिए ही व्यवहार का आश्रय लेने का उपदेश दिया जाना आवश्यक है। आचार्य जयसेन ने इसीलिए कहा है कि अभेदरत्नत्रय का साधक होने के कारण भेदरत्नत्रय उपादेय है।[२]

उक्त विद्वानो को सम्भवत. यह भ्रम भी है कि लोगो के ससारभ्रमण का मूल कारण पुण्य को मोक्षमार्ग समझकर शुभक्रियाओ मे उलझे रहना है। इसलिए उनकी दृष्टि मे लोगो की इस अज्ञानमय मान्यता का निराकरण करना ही उपदेश का प्रमुख लक्ष्य है। इसी कारण वे सबके लिए निश्चयनयात्मक उपदेश ही आवश्यक मानते हैं। पता नहीं ये विद्वान् किस लोक मे रहते हैं जो उन्हे ससार मे पुण्यात्मा ही दिखाई देते हैं। सत्य यह है कि अधिकाश जीव मोक्ष मे ही विश्वास नहीं करते, पुण्य को मोक्षमार्ग मानने वालो की तो बात ही दूर। ससार मे अधिकांश सख्या 'ऋण कृत्वा घृत पिबेत्' इस सिद्धान्त के अनुयायियो की है। अधिकाश जीव आकण्ठ पाप मे मग्न हैं, विरले ही व्यक्ति पुण्य करते हैं। आवश्यकता इस बात

१. जयपुर (खानिया) तत्वचर्चा/भाग २/पृ० ७३१
२. समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ११६-१२०, १६१-१६३

की है कि इन लोगो को पहले पाप के पंक से निकाला जाय, किन्तु प्रयत्न पुण्य को छुड़ाने का किया जाता है। जिसे लोग करते ही नही, उसे छुड़ाने की चेष्टा की जाती है और जिसे वे दिन-रात करते हैं उसके विषय मे चर्चा ही नही होती। जो सर्वप्रथम हेय है उसकी हेयता पर प्रवचन मे सर्वप्रथम बल नही दिया जाता, जिसकी हेयता का क्रम बाद मे आता है उसे सर्वप्रथम हेय बतलाया जाता है।

अत जिस सिद्धान्त के आधार पर कथित तत्त्वज्ञानी एकान्त प्रवचन का औचित्य सिद्ध करते है वह निराधार, कल्पित, आगमविरुद्ध एव अमनोवैज्ञानिक है। सभी को निश्चयप्रधान उपदेश का सिद्धान्त पात्र-सापेक्ष न होने से एकान्त एव मिथ्या है। इस प्रकार के एकान्त प्रवचनो का श्रोताओ को एकान्तवादी बनाने मे प्रमुख हाथ है।

सांकेतिक भाषा का प्रयोग

यह भी एकान्तवाद का एक कारण है। अधिकाश प्रवचनकार स्पष्ट भाषा मे तथ्य का निरूपण नही करते, अपितु उसे नय के नाम द्वारा संकेतित करते हैं, जिससे वह स्पष्ट नही होता और श्रोता कुछ का कुछ अर्थ ग्रहणकर एकान्तवादी बन जाते हैं। जैसे 'जीव व्यवहारनय से रागादिभावो का कर्त्ता है', इस कथन मे 'व्यवहारनय' शब्द इस तथ्य का सकेत करता है कि रागादिभावरूप से परिणत होना जीव का स्वभाव नही है, अपितु वह कर्मोदयवशात् रागादिरूप से परिणत होता है। इतने गम्भीर तथ्य को 'व्यवहारनय' इस एक शब्द के सकेत द्वारा समझने के लिए नयो का सूक्ष्म ज्ञान अनिवार्य है। किन्तु सामान्य श्रोताओ के लिए यह सम्भव नही है। नयो के रहस्य को समझने के लिए गहन श्रवण-मनन की आवश्यकता है, जो धीरे-धीरे ही सम्भव है। अत· जब तक सामान्य श्रोता इसमे निपुणता प्राप्त नही कर लेते तब तक उनके लिए साकेतिक भाषा (नय के नाम द्वारा तथ्य का सकेत करनेवाली भाषा) का प्रयोग न कर, स्पष्ट भाषा का प्रयोग किया जाना आवश्यक है। इसके बिना वे तथ्य को समझने मे असमर्थ रहते हैं और अन्धकार मे भटकते रहते हैं। 'यह यथार्थ हेतु है', 'यह उपचरितहेतु है', 'यह निश्चयनय का कथन है', 'यह व्यवहारनय का कथन है', 'निश्चयनय से आत्मा ऐसा है', 'व्यवहारनय से ऐसा है'[१] — इस प्रकार के वक्तव्य सामान्य श्रोताओ को पहेलियो के समान प्रतीत होते है और वे इनके मर्म को समझ न पाने के कारण इनका काल्पनिक अर्थ लेकर तत्त्व को मिथ्यारूप मे ग्रहण करते हैं और एकान्तवादी बन जाते हैं।

---

१. इस आशय का उल्लेख प० टोडरमल जी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवे अधिकार (पृ० २५४) मे किया है।

अत यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्राथमिक श्रोताओ के समक्ष जब भी सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया जाय तब उसके तात्पर्य को स्पष्ट भाषा मे समझा दिया जाय। साकेतिक भाषा का प्रयोग यथासम्भव कम किया जाय, स्पष्ट भाषा का प्रयोग अधिक किया जाय।

किन्तु अधिकाश आधुनिक प्रवचनकार ऐसा नही करते। वे अपनी विद्वत्ता दर्शाने के लिए अथवा किसी अन्य प्रयोजन से सांकेतिक भाषा का ही प्रयोग करते हैं और सर्वज्ञ के सीधे-सरल उपदेश को श्रोताओ के लिए पहेली बना देते हैं। साकेतिक भाषा मे किए गए कथनो को स्पष्ट भाषा मे किस प्रकार समझाया जाना चाहिए, इसके कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं —

सांकेतिक भाषा	स्पष्ट भाषा
१. आत्मा और शरीर मे व्यवहारनय से एकत्व है, निश्चयनय से नही।	१. आत्मा और शरीर मे सश्लेषरूप एकत्व है, तादात्म्यरूप नही।
२. निश्चयनय से आत्मा कर्मो से अबद्ध है, व्यवहारनय से बद्ध।	२ आत्मा और कर्मो मे तादात्म्यरूपबन्ध नही है, सश्लेषरूप एव निमित्तनैमित्तिकभावरूप बन्ध है।
३. निश्चय से न बन्ध है, न मोक्ष।	३. बन्ध और मोक्ष आत्मा की स्वाभाविक अवस्थाएँ नहीं हैं, नैमित्तिक (औपाधिक) है।
४. निश्चय से आत्मा न प्रमत्त है, न अप्रमत्त, शुद्ध ज्ञायक है।	४ प्रमत्तता–अप्रमत्तता आत्मा की स्वाभाविक दशाएँ नही हैं, नैमित्तिक है।
५ 'आत्मा मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र हैं', यह व्यवहारनय से कहा जाता है। निश्चयनय से न ज्ञान है, न दर्शन, न चारित्र, ज्ञायकभावमात्र है।	५ आत्मा और ज्ञानदर्शनादि गुणो मे सज्ञादि की अपेक्षा भिन्नता है, प्रदेश की अपेक्षा वे अभिन्न हैं, एकवस्तुरूप हैं।
६ निश्चय से केवली भगवान् स्वात्मा को ही जानते हैं, व्यवहार से लोकालोक को।	६ तन्मय होकर स्वात्मा को ही जानते हैं, लोकालोक को तन्मय हुए बिना जानते हैं।
७. जीव व्यवहार से रागादिभावो का कर्त्ता है।	७. कर्मसयुक्त अशुद्धावस्था मे रागादिभावो का कर्त्ता है, स्वभावत: नही।

सांकेतिक भाषा	स्पष्ट भाषा
८. जीव अनुपचरित असद्भूत-व्यवहारनय से द्रव्यकर्मों का कर्त्ता तथा उनके सुखदु:खात्मक फल का भोक्ता है।	८. जीव के शुभाशुभ परिणामो के निमित्त से द्रव्यकर्मों की उत्पत्ति होती है और द्रव्यकर्मों के निमित्त से जीव के सुखदु:खात्मक परिणाम की।
९. जीव उपचरित असद्भूतव्यवहार-नय से घट, पट आदि का कर्त्ता है।	९. जीव के योगोपयोग के निमित्त से मिट्टी घट-पटादिरूप मे परिणमित होती है।
१०. स्त्री, पुत्र, धन आदि उपचरित असद्भूतव्यवहारनय से जीव के हैं।	१०. स्त्री, पुत्र, धन आदि सयोग-सम्बन्ध की अपेक्षा जीव के कहलाते हैं।

इन उदाहरणो के अनुसार साकेतिक भाषा मे किये गये निरूपणो को यदि तत्काल स्पष्ट भाषा मे समझा दिया जाय, तो प्राथमिक श्रोता नयात्मक कथन के रहस्य को सरलता से ग्रहण करने मे समर्थ होगे और एकान्तवाद की व्याधि से बच जायेगे।

●

सन्दर्भग्रन्थ-सूची

१. अनगारधर्मामृत . पं० आशाधर, भारतीय ज्ञानपीठ।

२ अमितगतिश्रावकाचार : आचार्य अमितगति, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत, वि० स० २०१५।

३ अष्टशती (आप्तमीमासाभाष्य) . भट्ट अकलङ्कदेव।

४ अष्टसहस्री · विद्यानन्द स्वामी, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९१५।

५ अष्टपाहुड : आचार्य कुन्दकुन्द, शान्तिवीर नगर, महावीर जी (राजस्थान)।
चारित्तपाहुड
भावपाहुड
मोक्खपाहुड
सुत्तपाहुड
सस्कृतटीका श्रुतसागर सूरि
हिन्दी टीका · प० जयचन्द, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई।

६. अष्टाध्यायी · महर्षि पाणिनि, गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन (मथुरा), वि० स० १९९६।

७ आप्तमीमासा आचार्य समन्तभद्र, गणेश वर्णी दि० जैन सस्थान, नरिया, वाराणसी।

८. आप्तपरीक्षा : विद्यानन्द स्वामी, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्।

९ आलापपद्धति : देवसेनाचार्य, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्।

१० उपादान-निमित्त की चिट्ठी प० बनारसीदास, मोक्षमार्गप्रकाशक-परिशिष्ट ४, टोडरमल ग्रन्थमाला, जयपुर।

११ कर्मप्रकृति : अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, भारतीय ज्ञानपीठ।

१२. कर्मसिद्धान्त : जिनेन्द्र वर्णी, प्रकाशक – मोतीचन्द्र केशरीचन्द्र, वाराणसी।

१३. कसायपाहुडसुत्त · अनुवादक प० हीरालाल जैन सिद्धान्तशास्त्री, वीरशासन सघ, कलकत्ता।
जयधवलाटीका वीरसेनस्वामी, आचार्य जिनसेन, दिगम्बर जैन सघ, मथुरा।

१४. कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा · स्वामिकुमार, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास।
संस्कृतटीका : भट्टारक शुभचन्द्र

१५ काव्यप्रकाश . मम्मटाचार्य।

१६ गोम्मटसार — जीवकाण्ड एव कर्मकाण्ड : नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती। सस्कृतटीका — जीवतत्त्वप्रदीपिका : केशव वर्णी

१७ चारित्रसार : चामुण्डराय, शान्तिवीर नगर, महावीर जी (राजस्थान)।

१८ छहढाला : प० दौलतराम।

१९. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग १-२, टोडरमल ग्रन्थमाला, जयपुर।

२० जैनतत्त्वमीमासा · प० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, अशोक प्रकाशन मन्दिर, वाराणसी, वी० नि० स० २४८६।

२१ जैनतत्त्वमीमासा की मीमासा प० वशीधर व्याकरणाचार्य, बीना।

२२ जैनदर्शन मे कार्यकारणभाव और कारकव्यवस्था : प० वंशीधर व्याकरणाचार्य, बीना।

२३ जैनशासन मे निश्चय और व्यवहार नय : प० वशीधर व्याकरणाचार्य।

२४ जैनदर्शन : डॉ० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, काशी, सन् १९६६।

२५ जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग १-४ जिनेन्दवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ।

२६ ज्ञानार्णव · शुभचन्द्राचार्य, श्रीमद्‌राजचन्द्र आश्रम, अगास।

२७ तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक), भाग १-२ . भट्ट अकलङ्कदेव, भारतीय ज्ञानपीठ।

२८ तत्त्वार्थवृत्ति · श्रुतसागर सूरि, भारतीय ज्ञानपीठ।

२९ तत्वार्थसार : आचार्य अमृतचन्द्र, गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी।

३० तत्त्वार्थसूत्र : उमास्वामी, प० मोहनलाल शास्त्री, जबलपुर।

३१ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (श्लोकवार्तिक) : विद्यानन्द स्वामी।

३२. तर्कभाषा : केशव मिश्र, साहित्य भडार, मेरठ।

३३ देवागमवृत्ति · आचार्य वसुनन्दी।

३४ द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र · माइल्ल धवल, भारतीय ज्ञानपीठ।

३५ नयदर्पण जिनेन्द्र वर्णी, प्रेमकुमारी स्मारक ग्रन्थमाला, इन्दौर, १९६५।

३६. नयविवरण (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकान्तर्गत) · विद्यानन्द स्वामी, द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र के अन्तर्गत।

३७ निजामृतपान : आचार्य विद्यासागर।

३८. नियमसार : आचार्य कुन्दकुन्द।
तात्पर्यवृत्ति : पद्मप्रभमलधारिदेव

३९ न्यायदीपिका अभिनवधर्मभूषण यति।

४०. पञ्चास्तिकाय · आचार्य कुन्दकुन्द, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास।
तत्त्वदीपिका आचार्य अमृतचन्द्र
तात्पर्यवृत्ति · आचार्य जयसेन

४१ पञ्चाध्यायी प० राजमल्ल, महावीर आश्रम, कारजा, १९७८।

४२ परमात्मप्रकाश : योगीन्दुदेव, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास।
सस्कृत टीका ब्रह्मदेव

४३ पुरुषार्थसिद्धयुपाय · आचार्य अमृतचन्द्र, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास।

४४. प्रवचनसार आचार्य कुन्दकुन्द, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास।
तत्त्वदीपिका . आचार्य अमृतचन्द्र
तात्पर्यवृत्ति : आचार्य जयसेन

४५ प्राकृत पञ्चसङ्ग्रह : लेखक अज्ञात, भारतीय ज्ञानपीठ, १९६०।

४६. प० रतनचन्द्र जैन मुख्तार · व्यक्तित्व और कृतित्व, भाग १-२।

४७ बृहद्द्रव्यसङ्ग्रह नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास।
सस्कृतटीका ब्रह्मदेव

४८ भगवती आराधना शिवार्य, जैन सस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर, १९७८।
विजयोदया टीका . अपराजित सूरि

४९ भावसङ्ग्रह (प्राकृत) : देवसेन सूरि।

५० मोक्षमार्गप्रकाशक : प० टोडरमल, टोडरमल ग्रन्थमाला, जयपुर।

५१ मोक्षमार्ग प्रकट करने का उपाय — तत्त्वनिर्णय : नेमीचन्द पाटनी, प० टोडरमल ग्रन्थमाला, जयपुर।

५२ रत्नकरण्डश्रावकाचार आचार्य समन्तभद्र, मुनिसघ साहित्य प्रकाशन समिति, सागर।

५३ श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर।

५४ श्रुतभवनदीपकनयचक्र · भट्टारक देवसेन।

५५ षट्खण्डागम : पुष्पदन्त एवं भूतबलि।
धवला टीका : वीरसेनाचार्य, जैन साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय, अमरावती

५६. समयसार · आचार्य कुन्दकुन्द, अहिंसा मन्दिर प्रकाशन, दिल्ली।

आत्मख्याति . आचार्य अमृतचन्द्र
समयसारकलश · आचार्य अमृतचन्द्र
तात्पर्यवृत्ति   आचार्य जयसेन
हिन्दी टीका   प० जयचन्द्र

५७. समाधितन्त्र   पूज्यपाद स्वामी, वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, सहारनपुर।
५८ सर्वार्थसिद्धि · पूज्यपादस्वामी, भारतीय ज्ञानपीठ।
५९ 'सागर मे विद्यासागर' स्मारिका   गणेश दि० जैन सस्कृत महाविद्यालय, सागर, म० प्र०
६० सागारधर्मामृत   प० आशाधर, भारतवर्षीय दि० जैन ग्रन्थमाला, मुम्बई, १९७२।
६१ स्याद्वादमञ्जरी · मल्लिषेण सूरि, राजचन्द्र आश्रम, अगास।
६२ स्वयम्भूस्तोत्र . आचार्य समन्तभद्र, गणेश वर्णी दि० जैन सस्थान, नरिया, वाराणसी।

●